



सच्चं लोगम्भि सारभूयं

२४५९

आचाराङ्ग
का
नीतिशास्त्रीय अध्ययन

लेखिका

साध्वी (डॉ०) प्रियदर्शनाश्री



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला -८०

प्रधान सम्पादक :
प्रो० सागरमल जैन

आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

लेखिका :

साध्वी (डॉ०) प्रियदर्शनाश्री

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-२२१००५

सहयोगी प्रकाशक

राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट

हाथीखाना, अहमदाबाद-१

पुस्तक : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

लेखिका : साध्वी (डॉ०) प्रियदर्शनाश्री

प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० रोड करौंदी,

पो०-बी० एच० यू०

वाराणसी-२२१००५

दूरभाष : ३११४६२

फैक्स : ०५४२-३११४६२

सहयोगी प्रकाशक

राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट,

हाथीखाना, अहमदाबाद-३८०००१ (गुजरात)

प्रथम संस्करण : १९९५

मूल्य : रुपये-८०

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय

जवाहरनगर, वाराणसी-१०

Book : Acārāṅga Kā Nitiśāstriya Adhyayana

by : Sadhvi (Dr.) Priyadarshana shri

Publisher : Pārśvanātha Vidyāpīṭha

I.T.I. Road, Karaundi,

P.O.-B.H.U.

Varanasi—221005

Phone - 311462

FAX.0542-311462

Published in Collaboration with

Raj-Rajendra Prakashan Trust,

Hathikhana, Ahmedabad-380001 (Gujrat)

First Edition : 1995

Price : Rs. 80.00

Printed at. : Vardhaman Press

Jawahara Nagar - Varanasi - 10

प्रकाशकीय

जैन आगम साहित्य में आचारांग प्राचीनतम ग्रन्थ है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि इसमें भगवान महावीर के मूल उपदेश सुरक्षित हैं। आचारांग का वर्ण्य विषय सामान्यतया जैन आचार और विशेषतया जैन मुनि आचार है। यद्यपि आचारांग के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, किन्तु इसका पाश्चात्य नीतिशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन नहीं हो पाया था। सम्भवतः यह प्रथम ग्रन्थ है जिसमें पाश्चात्य नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में आचारांग को नीतिशास्त्रीय मान्यताओं का समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। यद्यपि पाश्चात्य नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में जैन नीतिशास्त्र का व्यापक समीक्षात्मक अध्ययन इसके पूर्व डॉ० सागरमल जैन ने किया है किन्तु उन्होंने अपने अध्ययन का आधार सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य को बनाया है। साध्वो श्री प्रियदर्शना जी की यह विशेषता है कि उन्होंने आचारांग को ही आधार बनाकर उसको पाश्चात्य नीतिशास्त्रीय दृष्टि से समीक्षा की है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ एक नवीन विधा से लिखा गया है और आचारांग के नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जा सकता है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम के लिए यह सौभाग्य का विषय है कि साध्वीश्री ने पार्श्वनाथ विद्याश्रम के परिसर में रहकर डॉ० सागरमल जैन के सान्निध्य में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को पूर्ण किया था जिसपर उन्हें, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। यद्यपि यह ग्रन्थ काफी पहले ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था किन्तु कुछ अपरिहार्य कारणों से इसमें विलम्ब होता गया। यह आचार्य प्रवर जयन्तसेनसुरि जी म० सा० की कृपा का ही प्रतिफल है कि उन्होंने हमें इसके प्रकाशन के लिए न केवल प्रेरित किया अपितु इसके लिए २१०० रुपये का आर्थिक सहयोग श्री राजेन्द्र सूरीश्वर जैन ट्रस्ट, मद्रास के द्वारा विद्याश्रम को दिलवाया। हम आचार्यश्री जी एवं साध्वीश्री जी के अत्यन्त आभारी हैं कि उनकी प्रेरणा, प्रयत्न और पुरुषार्थ के परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के दिशा निर्देशन एवं सम्पादन के लिए डॉ० सागरमल जैन को तथा इसके मुद्रण सम्बन्धी व्यवस्थाओं तथा प्रूफ संशोधन के लिए डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं। साथ ही हम वरद्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के भी विशेष आभारी हैं जिन्होंने अल्प समय में इस ग्रन्थ को सुन्दर ढंग से मुद्रित किया।

शरद पूर्णिमा
८ अक्टूबर, १९९५
वाराणसी।

भवदीय
भूपेन्द्रनाथ जैन
मंत्री

लेखकीय

आचारांग जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। उसके नाम से भी यह स्पष्ट है कि वह मूलतः आचार का ग्रन्थ है। सम्भवतः जैन आचार के प्राचीनतम रूप का प्रतिपादन करनेवाला अन्य कोई ग्रन्थ नहीं हो सकता। यद्यपि आचारांग पर भाषा एवं साहित्यिक दृष्टि से और किसी सीमा तक उसकी विषय वस्तु का अध्ययन हुआ है परन्तु उसके आचार पक्ष का आधुनिक नीतिशास्त्रीय सन्दर्भ में अध्ययन नहीं हो सका था। इसलिए मैंने इसे अपने अध्ययन का विषय बनाया।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। जैन आगम साहित्य नामक प्रथम अध्ययन आचारांग के स्थान एवं महत्त्व का निर्धारण करते हुए उसकी भाषा, रचना एवं विषयवस्तु का विवेचन करता है। द्वितीय अध्याय में आचारांग के नैतिक दर्शन की तात्त्विक पृष्ठभूमि में आत्मा के बन्धन और मुक्ति के स्वरूप की चर्चा की गई है। तृतीय अध्याय में पाश्चात्य नीतिशास्त्र की मौलिक समस्याओं पर आचारांग की दृष्टि से विचार किया गया है जिसमें सापेक्ष और निरपेक्ष नैतिकता के साथ उत्सर्ग और अपवाद की चर्चा करते हुए निश्चय और व्यवहार नैतिकता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय में पाश्चात्य नीतिशास्त्र में स्वीकृत नैतिक मानदण्डों के सन्दर्भ में आचारांग के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए विधानवाद, सुखवाद, बुद्धिपरतावाद एवं पूर्णतावाद के सिद्धान्त की विवेचना की गई है। पंचम अध्याय आचारांग के नैतिक मनोविज्ञान को एवं षष्ठ अध्याय आचारांग की साधना पद्धति को प्रस्तुत करता है। सप्तम अध्याय पंच महाव्रतों का विवेचन करता है और आठवें एवं अन्तिम अध्याय में श्रमगाचार की विशद विवेचना की गई है।

आचारांग के इस नीतिशास्त्रीय अध्ययन में मैंने आचारांग के साथ तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने के लिए पौर्वीय और पाश्चात्य आचार दर्शनों के ग्रन्थ का भी प्रयोग किया है तथा किसी सीमा तक पाश्चात्य आचार दर्शन की विवेचन पद्धति को भी अपनाया है और इस प्रकार आचारांग के नीतिशास्त्र के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों का अध्ययन किया है।

इस ग्रन्थ को मूर्त्त रूप देने में जिन आचार्यों, गुरुजनों एवं विद्वद्जनों का सहयोग रहा है उसके लिये उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है।

इस ग्रन्थ के सफल लेखन के लिये सर्वप्रथम मैं अध्यात्मयोगी श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरिजी म० सा० की कृतज्ञ हूँ जिनकी कृपा से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। मेरे जीवन की दिशा-निर्देशिका परमपूज्या गुरु श्रीहेतुश्रीजी म० सा० एवं श्रीमुक्तिश्रीजी म० सा० के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे अध्ययन एवं लेखन के लिये सतत प्रेरित किया है। पूज्या श्रीमहाप्रभाश्रीजी म० सा० [दादीजी] को अनुकम्पा एवं सहयोग के परिणामस्वरूप ही मैं आज इसे पूर्ण कर सकी हूँ। अतः उन्हें स्मरण करना भी मैं नहीं भूल सकती।

तत्पश्चात् मार्गदर्शन देनेवाले गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना भी मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ। बी० ए० (प्रथम खण्ड) से लेकर आजतक डा० अखिलेश कुमार राय द्वारा प्राप्त सफल निर्देशन, सतत प्रोत्साहन एवं निरन्तर प्रेरणा का विस्मरण नहीं किया जा सकता, जिसके परिणामस्वरूप अध्ययन के क्षेत्र में मैं प्रगतिपथ पर अग्रसरित हुई। उनके द्वारा प्राप्त सहयोग को जीवन में कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के निदेशक डॉ० सागरमलजो जैन के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनका सफल निर्देशन एवं सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहा है। उदार व्यक्तित्व के धनी डॉ० जैन ने इस ग्रन्थ को पूर्ण करने हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ में जो-जो सुविधाएं प्रदान कीं, उसके लिए मैं उनकी बहुत आभारी हूँ। इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में उनका अमूल्य योगदान रहा है। मैं निःसंकोच यह स्वीकार कर सकती हूँ कि डॉ० जैन के सहयोग एवं उनको कृति जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-१ और भाग-२ के आधार के अभाव में यह ग्रन्थ पूर्ण होना असम्भव-सा था। वस्तुतः डॉ० जैन की प्रेरणा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ का विशाल पुस्तकालय एवं शान्त वातावरण इस लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुए हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं शोधसहायक डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन, प्रूफ-संशोधन एवं मुद्रण सम्बन्धी सभी व्यवस्थाओं

को सम्पन्न किया, एतदर्थ में इन सबके प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ ।

अन्त में मैं उन सभी संस्थाओं एवं महानुभावों के प्रति भी हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनका योगदान प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्राप्त हुआ है ।

संवत्सरी महापर्व
३० अगस्त, १९९५

साध्वी प्रियदर्शना

विषय-सूची

प्राक्कथन

—

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय : आचारांग का स्वरूप एवं विषयवस्तु १-२१

जैन आगम साहित्य-१, आगम साहित्य में आचारांग का स्थान-२, आचारांग की भाषा-४, आचारांग की शैली-६, आचारांग के रचयिता-७, आचारांग की विषय वस्तु-९, प्रथम श्रुतस्कंध-१०, प्रथम अध्ययन (शस्त्र परिज्ञा)-१०, द्वितीय अध्ययन (लोक विजय)-११, तृतीय अध्ययन (शीतोष्णीय)-१२, चतुर्थ अध्ययन (सम्यक्त्व)-१२, पाँचवाँ अध्ययन (लोकसार)-१३, छठवाँ अध्ययन (धूत)-१३, सातवाँ अध्ययन (महापरिज्ञा)-१४, आठवाँ अध्ययन (विमोक्ष)-१४, नवाँ अध्ययन (उपधान-श्रुत)-१५, द्वितीय श्रुतस्कंध-१६, दसवाँ अध्ययन-पिण्डैषणा (आहार)-१६, ग्यारहवाँ अध्ययन-शय्यैषणा (वसती)-१६, बारहवाँ अध्ययन-इर्यैषणा (गमनागमन)-१६, तेरहवाँ अध्ययन-भाषैषणा (सम्भाषण)-१६, चौदहवाँ अध्ययन (वस्त्रैषणा)-१७, पन्द्रहवाँ अध्ययन (पात्रैषणा)-सोलहवाँ अध्ययन-अवग्रहैषणा (आज्ञा याचना)-१७, सत्रहवाँ अध्ययन (स्थान)-१७, अठारहवाँ अध्ययन (स्वाध्याय)-१७, उन्नीसवाँ अध्ययन-उच्चार-प्रश्रवण (मलमूत्र-विसर्जन)-१७, बीसवाँ अध्ययन (शब्द)-१८, इक्कीसवाँ अध्ययन (रूप)-१८, बाईसवाँ अध्ययन (पर-क्रिया)-१८, तेईसवाँ अध्ययन (अन्योन्य क्रिया)-१८, चौबीसवाँ अध्ययन (तृतीय चूला) भावना-१८, पच्चीसवाँ अध्ययन (चतुर्थ चूला) विमुक्ति-१८, सन्दर्भ सूची-१८-२१ ।

द्वितीय अध्याय : आचारांग में नैतिकता के

तत्त्वमीमांसीय आधार

२२-४६

नैतिकता के तत्त्वमीमांसीय आधार-२२, पाश्चात्य दर्शन

में नैतिकता की पूर्ण मान्यताएं-२३, भारतीय दर्शन में नैतिक मान्यताएं-२३, जैन दर्शन में नैतिकता की पूर्ण मान्यताएं-२३, आचारांग में नैतिकता की पूर्ण मान्यताएं-२३, आत्मा का स्वरूप-२४, आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व-२६, मुक्तात्मा का भावात्मक स्वरूप-२७, निषेध मुखेन आत्मा का स्वरूप-२७, अनिर्वचनीय स्वरूप-२८, आत्मा की अमरता-२८, पुनर्जन्म सिद्धांत-२९, आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म-३०, आत्म-स्वातन्त्र्य एवं पुरुषार्थवाद-३२, कर्म बन्धन और दुःख का हेतु-३५, कर्म का स्वरूप-३७, आस्रव-३८, बन्ध-३८, बन्धन से मुक्ति के उपाय-३९, बन्धन से मुक्ति की प्रक्रिया-४०, संवर-४०, निर्जरा-४१, मोक्ष-सन्दर्भ-४१, सूची-४२।

तृतीय अध्याय : नैतिकता की मौलिक समस्याएं

और आचारांग

४७-७९

सापेक्ष और निरपेक्ष नैतिकता-४७, नीति की सापेक्षता का प्रश्न और आचारांग-४७, निरपेक्ष नैतिकता और आचारांग-५०, आचारांग में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग-५२, महाव्रतों के अपवाद: आचारांग के सन्दर्भ में-५२, कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय का आधार-५६, नैतिकता के दो रूप—आन्तर और बाह्य-५८, आचारांग में नैश्चयिक नैतिकता-६०, आचारांग में व्यावहारिक नैतिकता-६४, निश्चय और व्यवहार धर्म: कौन अधिक मूल्यवान-६७, वैयक्तिक और सामाजिक नैतिकता-७१, वैयक्तिक नैतिकता और आचारांग-७१, सामाजिक नैतिकता और आचारांग-७३, सन्दर्भ-सूची-७४।

चतुर्थ अध्याय : नैतिक प्रमापक और आचारांग ८०-१२०

नैतिक प्रमापक-सिद्धांत-बाह्य नियम-८०, आन्तरिक नियम-८०, साध्य या उद्देश्यमूलक नियम-८०, विधानवाद और आचारांग-८१, विधानवादी सिद्धांत के प्रकार-८२, जातीय विधानवाद-८२, सामाजिक

विधानवाद-८२, वैधानिक विधानवाद-८३, धार्मिक विधानवाद-८४, बाह्य विधानवाद की समीक्षा-८७, विकासवाद और आचारांग-८९, आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति-९०, परिवेश से अनुरूपता-९१, विकास की प्रक्रिया में सहायक होना-९२, जीवन की लम्बाई-चौड़ाई-९२, सुखवाद और आचारांग-९३, सुखवादी परम्परा-९३, मनोवैज्ञानिक सुखवाद और आचारांग-९४, नैतिक सुखवाद और आचारांग-९५, बुद्धि-परतावाद और आचारांग-१००, सार्वभौमविधान सूत्र-१०१, प्रकृतिविधान का सूत्र-१०२, स्वयंसाध्य का सूत्र-१०३, स्वतन्त्रता का सूत्र-१०४, साध्यों के राज्य का सूत्र-१०५, काण्ट और आचारांग-१०५, आत्म-पूर्णतावाद और आचारांग-१०८, सन्दर्भ-सूची-११६।

पंचम अध्याय : आचारांग का नैतिक मनोविज्ञान १२१-१४९

मनोविज्ञान और आचार शास्त्र का सम्बन्ध-१२१, बन्धन के कारण-१२१, राग-द्वेष और मोह-१२१, मूल कारण-१२२, कषाय-१२३, कषायों की पारस्परिक सापेक्षता-१२४, कषाय-विसर्जन का मनोवैज्ञानिक उपाय-१२६, लेश्या-१२८, इन्द्रिय-निग्रह (संयम) १२९, दमन की मनोवैज्ञानिकता-१३२, आचारांग के अनुसार मनोनिग्रह से तात्पर्य एवं दमन के दुष्परिणाम-१३७, मानसिक शुद्धीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि-१४३, सन्दर्भ-सूची।

षष्ठ अध्याय : आचारांग का मुक्तिमार्ग १५०-१६७

आचारांग में सम्यग्दर्शन शब्द का प्रयोग एवं उसके पर्यायवाची-१५२, सम्यग्दर्शन-विभिन्न अर्थ में-१५२, साधना का मूलाधार-सम्यग्दर्शन-१५६, सम्यक्-ज्ञान-१६०, सत्य प्राप्ति की खोज का प्रथम चरण-सन्देह (जिज्ञासा)-१६१, सम्यक्-ज्ञान (राइट नालेज) का अर्थ-१६३, सम्यक्-चारित्र-१६४, सन्दर्भ सूची-१६५।

सप्तम अध्याय : पंच महाव्रतों का नैतिक दर्शन १६८-२०१

अहिंसा की सार्वभौमिकता या प्राथमिकता-१६८, आचारांग में अहिंसा की भावना-१६८, विभिन्न धर्मों में अहिंसा की अवधारणा-१७०, हिंसा का अर्थ-१७१, हिंसा के रूप-द्रव्य और भाव-१७२, हिंसा के विभिन्न कारण-१७६, हिंसा के विविध रूप-१७७, अपकाय की हिंसा-१७७, अग्निकाय की हिंसा-१७८, वायुकाय की हिंसा-१७८, वनस्पतिकाय की हिंसा-१७८, त्रसकाय की हिंसा-१७९, हिंसा के प्रकार-१७९, हिंसा के परिणाम-१८०, अहिंसा महाव्रत-परिभाषा एवं स्वरूप-१८०, गुप्ति-१८२, समिति-१८३, अहिंसा की नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार की भूमिका-१८६, सत्य महाव्रत-१८९, अस्तेयव्रत-१९१, ब्रह्मचर्य-१९२, अपरिग्रह महाव्रत-१९५, महाव्रतों की महत्ता एवं उपादेयता-१९७, सन्दर्भसूची-१९८।

अष्टम अध्याय : श्रमणाचार

२०२-२८१

सदाचार का महत्त्व, श्रमण-२०२, की व्याख्या-२०३, सामान्य श्रमणाचार-२०४, विशेष श्रमणाचार-२०५, पांच महाव्रत और उनकी पच्चीस भावनाएं-२०५, पांच समितियाँ-२०८, ईर्या समिति-२०८, भाषा समिति-२१३, एषणा समिति-२१६, सदोष आहार-२१६, आहार की ग्राह्यता-अग्राह्यता-२१८, वनस्पति-पत्र, पुष्प एवं फल की ग्राह्यता-२१९, भिक्षा हेतु गमन-२१९, भिक्षा के लिए अयोग्य एवं योग्य कुल-२२०, गृहस्थ के घर भिक्षा हेतु न जाने के अवसर-२२०, भिक्षा हेतु निषिद्ध मार्ग-२२०, अयोग्य स्थान, सखंडि में जाने के निषिद्धस्थान-२२२, सखंडि भोजन से हानियाँ-२२३, बाहर जाते समय की मर्यादा-२२४, पश्चात् एवं पूर्व कर्म दोषयुक्त आहार का निषेध-२२५, अधिक आहार आ जाने पर क्या करना चाहिए-२२५, पानी-२२५, पानी की सदोषता एवं निर्दोषता-२२५, सात-सात प्रतिमाओं के साथ आहार-पानी

की गवेषणा-२२६, प्रतिमाधारी मुनि का अन्य के साथ
बर्ताव-२२७, आहार-पानी में समभाव वृत्ति-२२७।
वस्त्र-२२८, पात्र-२३१, शय्यैषणा-२३२, योग्य-अयोग्य
(शय्या संस्तारक)-२३७, परिष्ठापनिका समिति-
२३९, तीनगुप्ति-२४१, मनोगुप्ति-२४२, वचनगुप्ति-
२४२, कायगुप्ति-२४२, बारह भावनायें २४३, दश-
विध मुनि धर्म-२४४, अवग्रह याचना की विधि २४५,
पाँच प्रकार के अवग्रह-२४७, इन्द्रियनिग्रह-२४८,
चिकित्सा परिहार-२५०, अन्योन्य क्रिया रूप आचार
२५०, चातुर्मास एवं मास सम्बन्धी कल्प-२५१, विशेष
श्रमणाचार-२५३, तपश्चर्या-२५३, तप के भेद-२५३,
बाह्यतप-२५४, अनशन-२५४, अवमौदर्य (उणोदरी)
२५५, भिक्षाचरी या वृत्तिपरिसंख्यान तप-२५५, रस-
परित्याग-२५६, कायक्लेशतप-२५६। प्रतिसंलीनता
या विविक्तशय्यासन-२५७, आभ्यन्तर तप-२५८,
प्रायश्चित्त-२५८, विनय-२५८, वैयावृत्य-२५८, स्वा-
ध्याय-२५९, ध्यान-२५९, व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग-२५९,
कायोत्सर्ग के चार अभिग्रह-२६०, परीषह-२६०,
समाधिमरण भी एक कला है-२६२, संलेखना का
महत्त्व-२६३, संलेखना का अर्थ व स्वरूप-२६४, संले-
खना का समय-२६४, संलेखनाविधि-२६५, समाधि-
मरण के प्रकार-२६७, भक्तप्रत्याख्यान-२६८, इत्वरिक
अनशन-२७०, पादोपगमन अनशन शरीर विमोक्ष के
सन्दर्भ में-२७२ स्थान विधि एवं महत्त्व-२७३, विशेष
आचार, २७४, संलेखना आत्मघात नहीं है—२७५,
सन्दर्भ सूची-२७५,

उपसंहार

सहायक ग्रन्थ-सूची

२८२

२८९

आचाराङ्गसूत्र स्वरूप एवं विषयवस्तु

जैन आगम साहित्य :

हिन्दू धर्म में वेद का, बौद्ध धर्म में त्रिपिटक का, ईसाई धर्म में बाइबिल का, इस्लाम धर्म में कुरान का तथा पारसी धर्म में अवेस्ता का जो स्थान है, वही जैनधर्म में अंग आगम (गणिपिटक) का है। अंग आगम बारह ग्रन्थों में विभक्त होने से इसे द्वादशांग आगम भी कहते हैं। इन द्वादश अंगों में आचारांग सर्वप्रथम है। वह भगवान् महावीर की वाणी एवं विचारों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

सम्पूर्ण जैनवाङ्मय चार अनुयोगों में वर्गीकृत है। चार अनुयोग इस प्रकार हैं—

(१) **ब्रह्मानुयोग**—इस अनुयोग में तात्त्विक, दार्शनिक और कर्म-सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ आते हैं।

(२) **गणितानुयोग**—इस अनुयोग में भूगोल, गणित, ज्योतिष आदि विषयक ग्रन्थ आते हैं।

(३) **धर्मकथानुयोग**—इस अनुयोग में आख्यानात्मक अर्थात् कला-साहित्य आता है। इसे प्रथमानुयोग भी कहते हैं।

(४) **चरणकरणानुयोग**—इस अनुयोग में गृहस्थ और मुनियों के आचार सम्बन्धी अर्थात् श्रमणाचार, श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ आते हैं।

आगम साहित्य में अध्यात्म के साथ-साथ विविध विषयों का प्रतिपादन हुआ है, यथा-जीवविज्ञान, ज्योतिष-गणित, आयुर्वेद, भूगोल-खगोल, शिल्प-संगीत, स्वप्न-विज्ञान आदि। इस प्रकार जैनागम श्रुतज्ञान की एक विशाल एवं अपूर्व निधि है।

आप्त वचन को आगम कहा गया है।^१ जैन परम्परा में राग-द्वेष के विजेता को जिन कहा गया है (राग-द्वेषानुशत्रून् जयतीति जिनः)। जैनागम जिन या सर्वज्ञ की वाणी के प्रतिनिधि हैं।^२

प्रश्न उठता है कि क्या जैनागम जिन (तीर्थंकर) के साक्षात् उपदेश हैं? अथवा उन्होंने ही इन्हें शब्दबद्ध किया है? तीर्थंकर अर्थ के प्रणेता हैं। वे केवल भूलभूत सिद्धान्तों का उपदेश करते हैं। गणधर उनके उपदेशों को सुनकर ग्रन्थ बद्ध करते हैं। इस प्रकार शब्द रूप से आगमों के

२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

रचयिता गणधर कहे जाते हैं।^३ आचार्य देववाचक के जेनागमों को तीर्थंकर प्रणीत कहने का भाव यहो है कि अर्थ रूप से आगमों के प्रणेता अर्हत् (तीर्थंकर) हैं। आगम साहित्य की प्रामाणिकता इसी से सिद्ध है कि वे वीतराग तीर्थंकर की वाणी हैं।

जैन परम्परा में द्वादशांगी के अतिरिक्त अन्य अंगबाह्य शास्त्र भी आगम के समान ही मान्य हैं, यद्यपि वे गणधर कृत नहीं हैं, वे स्थविरकृत कहे जाते हैं—विशेषावश्यकभाष्य,^४ बृहत्कल्पभाष्य^५ एवं तत्त्वार्थभाष्य^६ में उल्लेख है कि गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं और शेष आगमों की रचना स्थविर आचार्य करते हैं। गणधरकृत साहित्य अंगप्रविष्ट और स्थविरकृत साहित्य अंगबाह्य कहलाता है। आचार्य मलयगिरि^७ के अनुसार गणधरों के द्वारा तत्त्व जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर 'त्रिपदी' का प्रवचन करते हैं। इस 'त्रिपदी' के आधार पर जिन आगमों की रचना गणधरों द्वारा की जाती है वे अंगप्रविष्ट हैं और उपांग आदि शेष स्थविरकृत ग्रन्थ अंगबाह्य हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान महावीर द्वारा दिया गया उपदेश प्रचलित आगमों में संकलित है। ये ही आगम ग्रन्थ जैनधर्म के मूल आधार हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा पैंतालीस आगम ग्रन्थों को प्रमाणभूत मानती है तथा श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर तेरापंथी परम्परा ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल सूत्र, चार छेद सूत्र और एक आवश्यक सूत्र—इस प्रकार बत्तीस आगमों को प्रमाणभूत मानती हैं शेष आगमों को नहीं। दूसरी ओर दिग्म्बर परम्परा में उक्त आगम साहित्य मान्य नहीं हैं। दिग्म्बर आम्नाय के अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के द्वारा मान्य पैंतालीस आगम छः भागों में विभक्त हैं—ग्यारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छः छेद सूत्र, चार मूल सूत्र और दो चूलिका सूत्र। आज भी यह विशाल ज्ञान-कोश पैंतालीस आगमों के रूप में सुरक्षित है।

आगम साहित्य में आचाराङ्ग का स्थान :

अंगप्रविष्ट अथवा गणिपिटक (द्वादशांगी) साहित्य भगवान महावीर के निकटतम शिष्य गणधर द्वारा रचित होने के कारण सर्वाधिक मौलिक एवं प्रामाणिक माना जाता है। इसमें आचाराङ्ग का स्थान सर्वप्रथम है। 'आचाराङ्ग' शब्द दो शब्दों के योग से बना है—आचार-अंग।

इसका मूलार्थ है आचार का ग्रन्थ । नाम से ही स्पष्ट है कि यह 'आचार' के विभिन्न अंगों की व्याख्या करने वाला मूलभूत ग्रन्थ है ।

भारतीय चिन्तन का मूल केन्द्र 'आचार' है । 'आचार' या 'चारित्र' संस्कृति और समाज का प्राण है । वही साधना और साध्य है । 'आचार' से बढ़कर कोई धर्म नहीं है । कहा गया है कि 'आचारः प्रथमो धर्मः' ।^{१८} विश्व के समस्त धर्मशास्त्र एक तरह से आचारशास्त्र हैं । इसीलिए जैन साहित्य में आचाराङ्ग को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है । वस्तुतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'आचार' की महत्ता निर्विवाद है । कहा गया है—

आचाराल्लभते आयुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ।

आचाराल्लभते ख्यातिः, आचाराल्लभते धनम् ॥^{१९}

आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि व्यक्ति बहुश्रुत हो, परन्तु आचार रहित हो तो उसका ज्ञान किस काम का ? वह अज्ञानी ही है । आचारहीन ज्ञानी शास्त्र का भारवाहक ही है । जैसे—चन्दन का भार वहन करने वाला गधा केवल भार ही ढोता है, उसी प्रकार आचारहीन ज्ञानी भी शास्त्र के भार का वाहक होता है ।^{२०} अतः स्पष्ट है कि ज्ञान का महत्त्व आचरण में है । ज्ञानी होने का सार सदाचारी होना है ।

जैनाचार्यों का स्पष्ट कथन है कि 'आचार' मुक्ति का मूल है और मोक्ष का साक्षात् कारण होने से सम्पूर्ण प्रवचन की आधार शिला है ।

आगम साहित्य के चूर्णिकारों^{२१} एवं वृत्तिकारों^{२२} ने स्पष्ट लिखा है कि सभी तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम 'आचार' का ही उपदेश दिया है ।

संघ की स्थापना या तीर्थ प्रवर्तन के लिए सर्वप्रथम आचार-सम्बन्धी व्यवस्था का होना अति आवश्यक है । आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि 'आचाराङ्ग मोक्ष के अव्याबाध सुख की प्राप्ति का मूल और सम्पूर्ण द्वादशांगी का सार है ।'^{२३} वह मुक्ति-महल में प्रवेश करने का भव्य-द्वार है । आचाराङ्ग के अध्ययन के बाद ही श्रमण-धर्म का यथार्थ स्वरूप समझा जा सकता है और 'गणि' बनने के लिए भी सर्वप्रथम 'आचार' का ज्ञान आवश्यक है ।^{२४} इतना ही नहीं, उन्होंने आचाराङ्ग को भगवान के पद पर अधिष्ठित कर दिया है ।^{२५} निशीथकार का भी यही अभिमत है कि आचाराङ्ग का अध्ययन करने के बाद ही साधक अन्य शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है । यदि वह आचाराङ्ग का अध्ययन किए बिना ही अन्य आगम साहित्य को पढ़ता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।^{२६} 'आचार' सम्पूर्ण जिन-प्रवचनका सार होने से

४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

इसका सतत चिन्तन-मनन करना और उसे आचरण में उतारना भिक्षु के लिए अनिवार्य है। व्यवहारसूत्र में कहा है कि तरुण-युवा या वृद्ध सभी भिक्षुओं के लिए इसका स्वाध्याय करना अनिवार्य है। यहाँ तक कहा गया है कि स्थविर, रोगी अथवा अशक्त मुनि को भी लेटे-लेटे इसका स्वाध्याय करते रहना चाहिए।^{१०} निष्कर्ष यह है कि अनुकूल प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में आचाराङ्ग का स्वाध्याय करना मुनि का प्रथम कर्तव्य है, क्योंकि साधना का मूल आधार आचार ही है।

आचाराङ्ग जितना सरल, सुगम एवं सुबोध है उतना ही गहन-गम्भीर है। उसकी अर्थ-सृष्टि जितनी विराट है शब्द सृष्टि उतनी ही संक्षिप्त है। यह कहा जाय कि उसके प्रत्येक शब्द-बिन्दु में अर्थ-सिन्धु समाया हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

उक्त विवेचन से यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि आगम-साहित्य में आचाराङ्ग का स्थान सर्वप्रथम है, किन्तु वह रचना की अपेक्षा से प्रथम है या स्थापना की अपेक्षा से? इस सम्बन्ध में आचार्यों में मत-वैभिन्न्य है।

आचाराङ्ग के नियुक्तिकार,^{१६} चूर्णिकार^{१९} एवं वृत्तिकार^{२०} इस विषय में एकमत हैं कि सभी तीर्थंकर तीर्थ-प्रवर्तन करते समय सर्वप्रथम आचाराङ्ग के अर्थ (विषयवस्तु) का ही प्रवचन करते हैं, उसके बाद शेष अंगों का अर्थ कहते हैं और गणधर उसी क्रम से सूत्र-रचना करते हैं। दूसरी ओर नन्दीसूत्र की चूर्ण एवं वृत्ति में उल्लेख है कि तीर्थंकर तीर्थ-प्रवर्तन करते समय सर्वप्रथम पूर्वगत सूत्रों के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि गणधर आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि क्रम से ग्रन्थ रचना करते हैं।

इस प्रकार प्रवचन (अर्थ) की दृष्टि से 'पूर्व' (बारहवे अंग) का निरूपण क्रम प्रथम है किन्तु सूत्र-रचना की दृष्टि से आचाराङ्ग का क्रम प्रथम है।^{२१} समवायांगवृत्ति में अभयदेव सूरि ने एक तीसरा मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार प्रवचन (अर्थ) और रचना दोनों ही दृष्टि से पहले 'पूर्व' है। यद्यपि स्थापना की दृष्टि से आचाराङ्ग सूत्र प्रथम है।

इन विभिन्न मतों के बावजूद इतना तो निःसन्देह है कि सम्पूर्ण जैनगम साहित्य में आचारांग का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

आचाराङ्ग की भाषा :

भाषाओं अथवा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा अनिवार्य

साधन है। शब्द अथवा भाषा के बिना विचारों या भावों को दूसरों तक पहुँचाना लगभग असम्भव है। भाषा या शब्दों के द्वारा ही मनुष्य कालातीत विचारों के वातावरण में प्रवेश करता है।

महावीर ने लोकभाषा अर्धमागधी में ही उपदेश दिया। वह भाषा मगध के आधे भाग में बोली जाती थी, अतः उसे अर्धमागधी कहा गया है। यह प्राकृत भाषा का ही एक रूप थी। उपलब्ध जैन आगम-ग्रन्थ अर्धमागधी भाषा में हैं। डा० हीरालाल जैन के अनुसार पैतालीस आगम ग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी है।^{२२} अर्धमागधी उस समय का लोक भाषा थी और वह आर्य भाषा कहलाती थी। जब-जब भाषा को व्याकरण के नियमों में कस दिया जाता है और क्लिष्ट, दुरूह शब्दों का बाहुल्य हो जाता है, तब-तब वह भाषा केवल विद्वानों को या विवेचन की भाषा रह जाती है। इसीलिए जनोपकारी तीर्थंकरों ने सदैव जन-भाषा का प्रयोग किया है ताकि अधिक से अधिक लोग धर्म का रहस्य सुगमता पूर्वक समझ सकें।

समवायाङ्ग^{२३} और औपपातिकसूत्र^{२४} में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर अर्ध-मागधी भाषा में ही धर्मोपदेश (प्रवचन) करते हैं। इसे देवों और आर्यों की भाषा भी कहा गया है। प्रज्ञापना^{२५} और भगवती^{२६} सूत्र में कहा गया है कि देव और आर्य अर्ध-मागधी भाषा में ही बोलते हैं। अतः स्पष्ट है कि यह भारत की एक प्राचीनतम लोकभाषा रही है।

आचाराङ्गसूत्र अर्धमागधी प्राकृत भाषा में रचित है। इसमें अर्ध-मागधी के अधिक प्रयोग मिलते हैं। यहां यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि आचाराङ्गसूत्र के प्रथम एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा में पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा बहुत ही गठी हुई एवं सूत्रात्मक है। उसका प्रत्येक पद अपने आप में अर्थगाम्भीर्य, पदलालित्य एवं भाषा सौष्ठव को लिए हुए है। इसमें प्रयुक्त पद, क्रिया-पद, सर्वनाम आदि अर्ध-मागधी के प्राचीन रूप हैं और वे द्वितीय श्रुत-स्कन्ध की अपेक्षा अधिक प्रमाणभूत हैं, जैसे—प्रथम श्रुतस्कन्ध^{२७} में वर्तमान, तृतीय पुरुष, एकवचन परस्मैपद 'ति' का विशेष प्रयोग हुआ है जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध^{२८} में 'इ' प्रत्यय का प्रयोग।

वाक्य-विन्यास की दृष्टि से भी प्रथम श्रुतस्कन्ध के वाक्य संक्षिप्त एवं सुगम हैं। साथ ही भाषा के प्रयोग बड़े लाक्षणिक एवं अद्भुत हैं—

६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

यथा—‘विसोत्तियं,’ ‘आमगंधं’ ‘महासड्ढी’, ‘वसुमं,’ ‘अहोविहार,’ ‘ध्रुववण्णो’ आदि। इसकी अपेक्षा द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा शिथिल एवं व्यास प्रधान है। उसके वाक्य भी मिश्र, लम्बे एवं अलंकारपूर्ण हैं। इस तरह द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा प्रथम श्रुतस्कन्ध की तुलना में अधिक विकसित है।

जैनागमों की भाषा में परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह रहा है कि लिपि दीर्घकाल तक कण्ठस्थ करने की परम्परा थी। बाद में जैन आगम का बहुत सा भाग विसृष्ट होने लगा तब उसका पुनःसंयोजन (व्यवस्थापन) हुआ। वीर नि० सं० ९८० (मतान्तर से ९९३) में बल्लभीपुर में देवद्विगण क्षमाश्रमण के नेतृत्व में आगमों को ग्रन्थ बद्ध किया गया। तभी आगम साहित्य का निश्चित रूप स्थिर हो पाया। इतने लम्बे समय तक मौखिक रूप में रहने के कारण समय, परिस्थिति तथा उच्चारण वैभिन्न्य का प्रभाव आ जाना स्वाभाविक है।

आचाराङ्ग की शैली :

जैन आगम साहित्य में गद्य-पद्य और चम्पू इन तीन शैलियों का प्रयोग हुआ है। आचाराङ्ग में गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। दशवैकालिक^{२९} के चूर्णिकार ने आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गद्य-विभाग में रखा है तथा उसको शैली को चौर्णपद माना है। नियुक्ति-कार^{३०} के अनुसार भी आचाराङ्गसूत्र गद्य शैली को नहीं अपितु चौर्ण शैली की रचना है। वे कहते हैं कि अर्थबहुल, महार्थहेतु, निपात, उपसर्ग से गम्भीर, बहुपाद से विराम रहित आदि लक्षणों से युक्त शैली ही चौर्णपद है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि आचाराङ्गसूत्र एक विशिष्ट शैली की रचना है। उसमें गद्य का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है, किन्तु गद्य भी पद्य रूप ही है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम दो चूलिकाएँ गद्यमय हैं। तृतीय चूलिका में कुछ अंश पद्य में और कुछ अंश गद्य में है। ‘विमुक्ति’ नामक चतुर्थ चूलिका सम्पूर्ण पद्यमय है। इन पद्यों में उपजाति छन्द प्रयुक्त हुआ है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के ‘विमोक्ष’ नामक आठवें अध्ययन का आठवाँ उद्देशक पद्यमय है। ‘उपधानश्रुत’ नामक नौवाँ अध्ययन भी पद्य में ही है। शेष छः अध्ययनों में गद्य के साथ कहीं पद्य का सुमेल स्पष्ट परिलक्षित होता है। कहीं-कहीं तो गद्यभाग के मध्य एकाध पद्यांश इस तरह सम्बद्ध हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है। उपनिषदों की

भांति यह गद्यशैली प्राचीनतम है।³⁹ इस प्रकार आचाराङ्ग का पूर्वार्द्ध चम्पूशैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की शैली की तुलना ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, कृष्ण-यजुर्वेद आदि की शैली से की जा सकती है। आचाराङ्ग के जो पद्यांश गद्य के साथ मिले हुए हैं, वे वेद एवं उपनिषदों के सूक्तों की भांति गेय हैं। ये सूक्त भी आचाराङ्ग की शैली की प्राचीनता के परिचायक हैं।

डा० शुब्रिग के अनुसार आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पद्यों की तुलना बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात के पद्यों से की जा सकती है। साथ ही आचाराङ्ग के पद्य-आर्या, उपजाति, अनुष्टुप् आदि वैदिक छन्दों से मिलते जुलते हैं। संक्षेप में हमें सूत्र-शैली की विशेषता और अर्थ-गाम्भीर्य-दोनों प्रथमश्रुत स्कन्ध में ही दिखाई देते हैं। इस प्रकार विषय, भाव एवं भाषा-शैली की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध अतिप्राचीन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध अपेक्षाकृत अर्वाचीन सिद्ध होता है। प्रो० याकोबी आदि सभी विद्वान् प्रायः इसी मत से सहमत हैं।

आचाराङ्ग के रचयिता :

आचाराङ्ग सूत्र का प्रारम्भ ही इससे होता है—‘सुयं मे आउसं। तेणं भगवया एवमक्खायं’। हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उन भगवान ने यह कहा है। इस वचन से यह स्पष्ट होता है कि कोई तृतीय पुरुष कह रहा है कि मैंने सुना है कि भगवान् ने ऐसा कहा था अर्थात् इसके मूल उपदेष्टा भगवान् महावीर हैं।

आचाराङ्ग सूत्र के दो विभाग हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ‘आयार’ एवं ‘सामायिक’ है जो ब्रह्मचर्य के नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। उसमें नौ अध्ययन होने से उसे ‘णवबंभचेरभइओ’ नव ब्रह्मचर्य भी कहा जाता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का अपरनाम ‘आचाराग्र’ है। जो चार चूलिकाओं में विभक्त है और वे चूलिकाएं आचार (प्रथमश्रुत-स्कन्ध) की परिशिष्ट रूप हैं। यह भी माना गया है कि प्रथमश्रुत-स्कन्ध में अति संक्षिप्त रूप से वर्णित आचार का ही द्वितीय श्रुतस्कन्ध में विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। इसकी पुष्टि निम्नोक्त तथ्यों से भी होती है—

(१) आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन ‘शस्त्र-परिज्ञा’ हिंसा के परित्याग रूप जीव संयम के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त हुए हैं उन्हीं के

८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आधार पर द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पांच महाव्रतों एवं उनकी पञ्चीस भावनाओं के रूप में विस्तार से विचार किया गया है।

(२) प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन के पाँचवें उद्देशक एवं अष्टम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में जो भिक्षाचर्या निरूपित है उसी को दृष्टिगत रखते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध में एकादशपिण्डेषणाओं की विस्तृत विवेचना की गयी है।

(३) प्रथम श्रुतस्कन्ध—पाँचवें अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक 'गामाणुगामं दुहज्जमाणस्स—' एवं 'जयविहारो चित्तणिवाती—' सूत्रों के आधार पर द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सम्पूर्ण 'ईर्या' अध्ययन का विस्तार किया गया है।

(४) प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठें अध्ययन के पाँचवें उद्देशक 'आइक्खे विभए किट्ठे वेयवी—' तथा आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक 'अदुवा वयगुत्ति' सूत्रों में संक्षेप में वर्णित भाषा समिति द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भाषैषणा' नामक अध्ययन का मूल है।

(५) प्रथम श्रुतस्कन्ध—द्वितीय अध्ययन के पाँचवें उद्देशक के 'वत्थं पडिग्गहं कंबलं—' सूत्र को आधार मानकर द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 'वस्त्रैषणा' 'पात्रैषणा', 'शय्यैषणा', 'अवग्रह-प्रतिमा' आदि का विवेचन हुआ है।

भगवान महावीर की साधनावस्था का वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध के 'उपधानश्रुत' नामक नौवें अध्ययन में है। उसी आधार पर द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भावना' नामक पन्द्रहवें अध्ययन (तृतीया चूला) में उनके जीवन वृत्त का विस्तार से वर्णन किया गया है। अतः कहा जा सकता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम श्रुतस्कन्ध का विस्तार मात्र है और इसीलिए उसे चूलिका रूप कहा गया है। इस सम्बन्ध में आचाराङ्ग नियुक्तिकार का स्पष्ट कथन है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में, प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित आचार का विस्तृत विवेचन हुआ है तथा शिष्यों के हित की दृष्टि से उसकी रचना की गई है।³² वे यह भी कहते हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता भी स्थविर हैं।³³ जर्मन विद्वान् प्रो० याकोबी भी प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानते हैं।³⁴

आचार्य आत्माराम जी ने आचाराङ्ग की भूमिका में द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी प्रथम श्रुतस्कन्ध जितना ही प्राचीन एवं मौलिक माना है। यहाँ अधिक विवाद में न जाकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है

कि यदि द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम श्रुतस्कन्ध की विस्तृत व्याख्या है तो मूल हार्द्र की दृष्टि से वह भी उसका समकालीन है—चाहे शब्द अथवा व्याख्या की अपेक्षा से परवर्ती हो।

आचाराङ्गकी विषय-वस्तु :

जैन धर्म की जीवन साधना पद्धति आचार-प्रधान है। उसके अनुसार आचार-विहीन ज्ञान-सम्पदा निरर्थक है। सामान्यतया जैन परम्परा में मोक्ष प्राप्ति के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र साधना का अत्यधिक महत्त्व है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्ष-मार्ग कहा गया है। इनमें चारित्र का सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि यही मोक्ष का निकटतम कारण माना गया है। चारित्र के बिना मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है।

जैन आचार संहिता (सम्यक्चारित्र) प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में आचाराङ्ग प्राचीनतम और प्रथम है। यह आध्यात्मिक अनुभूतियों की शिक्षा-मणियों एवं चारित्रिक साधना से भरा पड़ा है। यह सम्पूर्ण जैनाचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। वास्तव में भारतीय-मनीषा की सम्पूर्ण आचारनिष्ठा इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित होती है।

आचाराङ्ग के उपदेश एवं रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि व्यक्ति चारित्र धर्म की साधना के द्वारा जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर सके। जैन धर्म की यह स्पष्ट मान्यता है कि जब तक आचार शुद्धि नहीं होगी तब तक चित्त-शुद्धि संभव नहीं और चित्त-शुद्धि के अभाव में आत्म-शुद्धि सम्भव नहीं है तथा आत्म-शुद्धि के बिना मुक्ति की प्राप्ति भी नहीं। तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान आदि कषायों के निरोध रूप प्रथम चारित्र से सम्यक् दर्शन की और योग-निरोध रूप अन्तिम चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इस प्रकार चारित्र-जैन साधना का अथ और इति दोनों ही हैं।

भगवान महावीर ने आचाराङ्ग में सम्यक् आचार का निरूपण कर समूचे विश्व को शुद्ध अहिंसक जीवन जीने की विधि सिखाई। भगवान महावीर के प्रवचन का उद्देश्य यही था कि मानव-समाज अथवा व्यक्ति सम्यक् आचरण के द्वारा आत्मा पर लगी हुई कर्म-कालिमा को दूरकर आत्म-दर्शन कर सके। वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति संयम की साधना के द्वारा आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त हो, एवं शुद्ध जीवनयापन करते हुए आत्म-पूर्णता को प्राप्त करे। आचाराङ्ग में सदाचार की आधार-

१० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

शिला आत्मा के अस्तित्व की दार्शनिक अवधारणा से लेकर कठोरतम मुनि-आचार तक का प्रतिपादन है ।

महावीर मानव स्वभाव तथा उसकी विभिन्न विकृतियों, (कमजोरियों) के सम्यक् परिज्ञाता थे । उन्होंने आचाराङ्ग में मानव-चारित्र्य के उदात्तीकरण का उपदेश दिया । आचाराङ्ग में आचार नियमों का प्रतिपादन व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य से ही हुआ है ।

आचाराङ्ग दो श्रुत स्कन्धों में विभक्त है । प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन और उनके चौवालीस उद्देशक हैं । द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार चूला सहित सोलह अध्ययन हैं ।

प्रथम-धृतस्कन्ध :

प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों को 'ब्रह्मचर्य' भी कहा जाता है । उपनिषदों में ब्रह्म शब्द आत्मा का पर्यायवाची है । उनमें आत्मचर्या अर्थात् आत्मरमण को ब्रह्मचर्य कहा गया है । बौद्धों ने मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ इन चार भावनाओं को ब्रह्म-विहार कहा है । आचाराङ्ग में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में हुआ है । 'समता' और 'अहिंसा' की साधना का नाम ही संयम है । गीता में समत्व (समता) को योग^{३५} और ब्रह्म कहा गया है ।^{३६}

संक्षेप में ब्रह्मचर्य, समता, अहिंसा और संयम की साधना के रूप में आत्मरमण की स्थिति है । आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन्हीं बातों का विवेचन होने से उसे ब्रह्मचर्य कहा गया । इस प्रकार साधना के मूल तत्त्व समता या सामायिक का विवेचन होने से उसे 'सामायिक' भी कहा गया है । इसके प्रत्येक अध्ययन (अध्याय) का वर्ण्य विषय निम्न प्रकार है—

प्रथम अध्ययन (शस्त्र-परिज्ञा) :

प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है । 'शस्त्र-परिज्ञा' दो शब्दों के मेल से बना है—शस्त्र + परिज्ञा । 'शस्त्र' का अर्थ है—हिंसा के उपकरण या साधन और परिज्ञा का अर्थ है—प्रज्ञा, ज्ञान या विवेक । 'परिज्ञा' शब्द परि उपसर्ग 'ज्ञ' धातु से निष्पन्न है । 'ज्ञ' का अर्थ 'जानना' है और 'परि' उपसर्ग का अर्थ है पूरी तरह से ।

इस प्रकार 'परिज्ञा' शब्द का अर्थ हुआ सम्पूर्ण रूप से जानना । आचाराङ्ग को टीका में शस्त्र दो प्रकार के कहे गये हैं—द्रव्यशस्त्र और

भावशस्त्र । हिंसा के बाह्य साधन द्रव्यशस्त्र कहलाते हैं । राग-द्वेष आदि से कलुषित परिणाम (विचार) भावशस्त्र है । इस प्रकार हिंसा के बाह्य और आन्तरिक साधनों के स्वरूप का सम्यक् बोध ही शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन का विषय है ।

इस अध्ययन में सात उद्देशक हैं । प्रथम उद्देशक आत्म-अस्तित्व की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है । इसमें आत्मा, कर्म पुनर्जन्म आदि का सामान्य परिचय है । इसके बाद हिंसा-अहिंसा का निरूपण तथा हिंसा के विभिन्न कारणों का प्रतिपादन है । शेष उद्देशकों में क्रमशः पृथ्वी, जल आदि अव्यक्त चेतना वाले षट्कायिक जीवों की हिंसा एवं उनको चेतनता की विवेचना की गयी है । इसके साथ ही उसमें हिंसा-जन्य आत्म-परिताप, कर्म-बन्ध का विवेचन तथा उससे विरत होने का उपदेश है । संक्षेप में, प्रथम अध्ययन में हिंसा-अहिंसा के विवेक का विवेचन है ।

द्वितीय अध्ययन (लोकविजय) :

इस अध्ययन का नाम लोक-विजय है । इसमें संसार (बन्धन) पर विजय प्राप्त करने के साधनों का वर्णन है । आचाराङ्ग की टीकाओं के अनुसार यह संसार (बन्धन) द्रव्य और भाव दो प्रकार का है— भाव-संसार अर्थात् विषय-कषाय या राग-द्वेष और द्रव्य संसार अर्थात् शब्द, रूप, रस, स्पर्श आदि इन्द्रिय-विषय । भावसंसार ही (विषय-भोग) द्रव्य संसार का कारण है । विषय भोग का कारण राग-द्वेष आदि मनोभाव हैं । अतः कषाय-लोक या भाव लोक पर विजय पा लेने पर साधक स्वतः द्रव्य लोक (विषय-भोगों) पर विजय पा लेता है ।

इस अध्ययन में संसार के स्वरूप का सम्यक् विवेचन हुआ है । इसमें देह की असारता, अशरणता तथा विषयों की अनित्यता का बोध भी कराया गया है । साथ ही आसक्ति के बन्धन को तोड़ने का उपाय बताते हुए संयम में पुरुषार्थ करने को प्रेरणा दी गई है । इस अध्ययन में विषय-कषायादि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए स्थान-स्थान पर अप्रमत्त (जागरूक) रहने का सन्देश है । इस अध्ययन में छः उद्देशक हैं । प्रथम उद्देशक में संसार के मूल स्रोत शब्दादि विषयों के प्रति अनासक्त रहने का उपदेश है । द्वितीय उद्देशक में संयम मार्ग पर दृढ़ रहने का निर्देश है । तृतीय उद्देशक में जातिगत मिथ्या अलंकार के त्याग का निरूपण है । चतुर्थ उद्देशक में कहा गया है कि साधक

१२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

सर्वथा ममत्व भाव का त्याग कर अनासक्त रहे। पाँचवें उद्देशक में साधक को भिक्षाचरी में समभाव रखने का निर्देश है। वह वस्त्र-पात्र एवं आहार के प्रति आसक्ति न रखे। उसे सदोष चिकित्सा का भी त्याग करना चाहिए। छठा उद्देशक बन्ध-मोक्ष के परिज्ञान एवं उपदेश कुशलता से सम्बद्ध है।

तृतीय अध्ययन (शीतोष्णोय) :

इस अध्ययन का नाम शीतोष्णोय है। यहाँ 'शीत' और 'उष्ण' शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। 'शीत' और 'उष्ण' ये दोनों शब्द परीषह से सम्बन्धित हैं। जो परीषह अनुकूल हैं, वे शीत कहलाते हैं, और जो प्रतिकूल हैं वे उष्ण कहे जाते हैं। निर्युक्तिकार ने कहा है कि बाईस परीषहों में 'स्त्री' और 'सत्कार' शीत परीषह तथा शेष बीस परीषह प्रतिकूल होने से उष्ण हैं। इस अध्ययन में कहा है कि साधना के पथ पर चलने वाले साधक को चाहिए कि वह अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों (कष्टों या परिस्थितियों) के उपस्थित होने पर तनिक भी विचलित न हो। प्रत्येक परिस्थिति में समत्वभाव रखते हुए साधना में निरन्तर सजग रहे। उसे सुख में प्रसन्न और दुःख में त्रिषण नहीं होना चाहिए।

इस अध्ययन में चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में कहा गया है कि जो प्रसुप्त या प्रमत्त है, वह अमुनि है और जो अप्रमत्त है या जाग्रत है, वह मुनि है। द्वितीय उद्देशक में प्रसुप्त या प्रमत्त व्यक्ति के दुःखों का निरूपण है। तृतीय उद्देशक में यह प्रेरणा दी गई है कि साधक के लिए मात्र देह-दमन ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उसे अपने चित्त को विशुद्ध या निर्मल बनाने का प्रयास करते रहना चाहिए। चतुर्थ उद्देशक में संयम-साधना के लिए कषाय-त्याग का उपदेश है।

चतुर्थ अध्ययन (सम्यक्त्व) :

सम्यक्त्व का अर्थ है—विशुद्ध या निर्मल दृष्टि। यह मुक्ति-महत्त्व का प्रथम सोपान है। जीवाजीवादि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा होने से आत्मा प्राणि-मात्र को आत्मोपम्यदृष्टि से देखता है। वह उनका अहित नहीं करता, उन्हें पीड़ा नहीं पहुँचाता। इसी अहिंसा की भावना को शुद्ध, नित्य और सनातन धर्म कहा गया है।

इस अध्ययन में चार उद्देशक हैं—प्रथम उद्देशक में अहिंसा का सम्यक् निरूपण है। द्वितीय उद्देशक आस्रव-परिस्रव (संवर-निर्जरा)

की सापेक्षता से सम्बन्धित है। तृतीय उद्देशक में निर्जरा के साधनभूत निष्काम तप का वर्णन है। चतुर्थ उद्देशक में संयम-साधना में स्थिर रहने का उपदेश है।

पाँचवां अध्ययन (लोकसार) :

इस विराट विश्व में अहिंसा, तप, संयम आदि सारभूत तत्त्व माने गए हैं। इन्हें संसार का सार बताते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है—

लोगस्ससारो धम्मो, धम्मंपिय णाणसारियिंबिति ।

णाण संजमसारं, संजमसारं च निव्वाणं ॥^{३०}

लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार मोक्ष है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व सम्यक् चारित्र के विकास में है, अतः प्रस्तुत अध्ययन में सम्यक् चारित्र के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। साधक को यह उद्बोधन दिया गया है कि वह सर्वथा परिग्रह रहित होकर आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त करे।

इस अध्ययन में छः उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में काम-भोग, उसके कारण तथा निवारण के उपायों का वर्णन है। द्वितीय उद्देशक में अप्रमाद की महत्ता प्रतिपादित है। तृतीय उद्देशक में परिग्रह त्याग तथा काम-विरक्ति का सन्देश है। चतुर्थ उद्देशक में अपरिपक्व साधु के एकाकी विहार से होने वाली हानियाँ बतायी गयी हैं। साथ ही कर्म-बन्ध और उसके विवेक का निरूपण भी है। पाँचवें उद्देशक में आचार्य की महिमा, सत्य, श्रद्धा, माध्यस्थभाव, अहिंसा एवं आत्म-स्वरूप का सम्यक् विवेचन है। छठें उद्देशक में मुक्तात्मा के स्वरूप का मार्मिक वर्णन है।

छठवां अध्ययन (धूत) :

इस अध्ययन का नाम 'धूत' है। प्राचीन काल में आत्म शुद्धि की प्रक्रिया को 'धूत' कहा जाता था। बौद्ध-ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में 'धूत' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'धूत' का अर्थ है प्रकम्पित या शुद्धि। 'धूत' दो प्रकार का है—द्रव्यधूत और भावधूत। शरीर, वस्त्र आदि का मेल दूरकर (अशुद्धि साफ कर) उसे स्वच्छ या निर्मल करना द्रव्यधूत कहलाता है। भावधूत वह है जिससे अष्टविध कर्मों का (धूनन) प्रकम्पन होता है।

१४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

इस अध्ययन में राग-द्वेष आदि मानसिक विकार या अशुद्धि को दूर-कर आत्म-शुद्धि करने का स्पष्ट निर्देश है। इस अध्ययन में पाँच उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में मुक्ति मार्ग की चर्चा, हिंसाजन्य चिकित्सा का परिहार, परिजनों के प्रति आसक्ति का त्याग आदि का निरूपण है। द्वितीय उद्देशक में कर्म-परित्याग की चर्चा है। तृतीय उद्देशक में उपकरण व शरीर-त्याग तथा संयम एवं विनय सम्बन्धी विवेचन है। चतुर्थ उद्देशक में गारव-त्याग का वर्णन है और पाँचवें उद्देशक में कषाय-त्याग पर बल दिया गया है साथ ही तितिक्षा भाव धारण करते हुए जन-सामान्य को धर्मोपदेश देने का निर्देश है।

सातवां अध्ययन (महापरिज्ञा) :

इस अध्ययन का नाम 'महापरिज्ञा' है। वर्तमान में यह अध्ययन अनुपलब्ध है। आचारांग निर्युक्तिकार के मतानुसार इस अध्ययन में सात उद्देशक थे जिनमें मोहजन्य परीषहों एवं उपसर्गों का वर्णन था।³⁶ कुछ आचार्यों का कहना है कि इसमें मन्त्र विद्या आदि के प्रयोग साधक को संयम में स्थिर रखने के लिए वर्णित थे। बाद में उनका दुरुपयोग होता देखकर इसके अध्ययन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया हो और पठन-पाठन कम होने से भी यह अध्ययन लुप्त हो गया हो अथवा आचाराङ्ग से पृथक् कर दिया गया हो। सभी साधकों का मानसिक स्तर समान नहीं होता। कुछ दृढ़ मनोबल वाले होते हैं तो कुछ निर्बल चिन्तन वाले भी होते हैं। जो भी कारण रहा हो परन्तु इस अध्ययन के विच्छेद से साहित्यिक क्षति अवश्य हुई है।

आठवां अध्ययन (विमोक्ष) :

इस अध्ययन का नाम विमोक्ष है। इसमें आठ उद्देशक हैं। इनमें विशेषतः समाधिरूप आचार एवं त्यागमय जीवन का वर्णन हुआ है। प्रथम उद्देशक में असमनोज्ञ (अप्रशस्त आचार-विचार वाले) भिक्षुओं के साथ व्यवहार नहीं करने का निर्देश है, साथ ही अहिंसा सम्बन्धी निरूपण भी हुआ है। द्वितीय उद्देशक में श्रमण के लिए निर्देश है कि वह किसी भी परिस्थिति में अकल्प्य वस्त्र-पात्र एवं आहार आदि ग्रहण न करे। तृतीय उद्देशक प्रव्रज्या, अपरिग्रह एवं कुशंका निवारण से सम्बन्धित है। चौथे और पाचवें उद्देशक में उपकरण एवं शरीर विमोक्ष का प्रतिपादन है। साथ ही अतिवृद्ध ग्लानिभिक्षु के लिए भक्त-परिज्ञा (अनशन) एवं वैखानस तप स्वीकार करने का निर्देश है। छठे, सातवें

एवं आठवें उद्देशक में एकत्व भावना, वैयावृत्य तथा समाधिमरण का वर्णन है।

नवां अध्ययन (उपधान-श्रुत) :

उपधान का अर्थ तपश्चर्या है। इस सम्पूर्ण अध्ययन में भगवान महावीर की तपोमयी साधना का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है, जो श्रमण को आत्मपूर्णता के लिए अन्तिम क्षण तक जागरूक तथा स्थिर-चित्त बने रहने की प्रेरणा देता है।

इस अध्ययन में चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में यह बताया गया है कि भगवान ने दीक्षा स्वीकार करने के पश्चात् यह संकल्प किया था कि मैं हेमन्त ऋतु में शरीर को वस्त्र से नहीं ढकूंगा। इसमें तेरह मास के बाद महावीर के वस्त्र-त्याग का भी वर्णन है। साथ ही इसमें भगवान की अहिंसक जीवन-शैली एवं समभाव की साधना का भी वर्णन है। द्वितीय एवं तृतीय उद्देशक में भगवान महावीर द्वारा आसेवित आसन एवं स्थान का निरूपण है। इनमें यह भी बताया गया है कि भगवान को कैसे-कैसे विकट स्थानों में रहना पड़ा और किन-किन परिस्थितियों में कैसे-कैसे कष्ट सहन करने पड़े। चतुर्थ उद्देशक में भगवान के कठोर तप एवं ध्यान-साधना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे रुक्ष एवं नीरस भोजन करते थे। यह भी बताया गया है कि वे कई महीनों तक निर्जल एवं निराहार रहकर भी अपनी संयम-साधना में लीन रहते थे।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध :

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमण के आचार-नियमों का वर्णन है। इसमें मुनि की भिक्षाचर्या की विधि तथा आहार, वस्त्र, पात्र एवं निवास सम्बन्धी नियमों की विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही श्रमणों के पारस्परिक व्यवहार के नियमों का निर्देश है। इस श्रुतस्कन्ध में श्रमण-आचार के नियमों का पर्याप्त स्पष्टता एवं विस्तार के साथ विवेचन हुआ है तथा तप-ध्यान और समभाव की साधना एवं मानसिक शुद्धि के उपाय बताए गए हैं। इसकी पाँच चूलाओं में से अन्तिम चूला 'आचार-प्रकल्प' को इससे पृथक् कर दिया गया है जो आज निशीथसूत्र के नाम से जानी जाती है। शेष चार चूलाएँ सोलह अध्ययनों में विभक्त हैं। प्रथम एवं द्वितीय चूला में सात-सात तथा तृतीय एवं चतुर्थ चूला में

१६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

एक-एक अध्ययन हैं। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन हैं, जिनकी क्रमसंख्या दस से छब्बीस तक है।

प्रथम चूला सात अध्ययनों में विभक्त है। इनमें ईर्येषणा, भाषेषणा, वस्त्रेषणा, पात्रेषणा, अवग्रह-प्रतिमा आदि से सम्बन्धित विवेचन हैं। द्वितीय चूला के सातों अध्ययन उद्देशकों में विभक्त नहीं हैं। सबका विषय विवेचन एक ही प्रवाह में हुआ है। इनमें कायोत्सर्ग, स्थान निषीधिका (स्वाध्याय) उच्चार-प्रस्रवण (मलमूत्र विसर्जन) पारस्परिक क्रिया आदि अनुष्ठानों के सम्पन्न करने के ढंग को भी अहिंसा (विवेक) के सिद्धान्त पर अधिष्ठित किया गया है। तृतीय चूला में महावीर का जीवन, पाँच महाव्रत एवं उनकी पच्चीस भावनाओं का महत्त्व दर्शाया गया है और चतुर्थ चूला मुक्ति की साधना से सम्बन्धित है।

अब हम द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रत्येक अध्ययन की विषय वस्तु का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

दसवां अध्ययन-पिण्डेषणा (आहार) :

इस अध्ययन में ग्यारह उद्देशक हैं। सभी उद्देशकों में श्रमण को संयम रक्षार्थ अपनी साधना के अनुकूल किस प्रकार का आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए और किस प्रकार का आहार-पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए—इस सम्बन्ध में निर्देश है।

ग्यारहवां अध्ययन—शय्येषणा (बसती) :

इस अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। इनमें यह बताया गया है कि श्रमण को किन स्थानों पर, किसकी अनुमति से, किस प्रकार निवास करना चाहिए। इस प्रकार इस अध्ययन में सदोष-निर्दोष निवास-स्थान के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन है।

बारहवां अध्ययन—ईर्येषणा (गमनागमन) :

इस अध्ययन के तीनों उद्देशकों में श्रमण के आवागमन (ईर्यि-समिति) से सम्बन्धित नियमों का विवेचन है। इसमें यह बताया गया है कि श्रमण को किन मार्गों से आना-जाना चाहिए मार्ग में नदी आदि के होने पर उसे किस प्रकार पार करना चाहिए आदि। इस प्रकार इस अध्ययन में विहार सम्बन्धी सारे नियमों को स्पष्ट किया गया है।

तेरहवां अध्ययन—भाषेषणा (सम्भाषण) :

इसमें यह बताया गया है कि साधक को कैसी भाषा बोलनी

चाहिए। इस अध्ययन में भाषा सम्बन्धी अनेक विधि-निषेधों का निरूपण है।

चौदहवां अध्ययन (वस्त्रैषणा) :

इस अध्ययन में श्रमणों के लिए वस्त्र सम्बन्धी विधान है। यहाँ श्रमण को कैसे और कितने वस्त्र रखने चाहिए, वस्त्र की याचना कैसे करनी चाहिए ? आदि बातों का निरूपण है।

पन्द्रहवां अध्ययन (पात्रैषणा) :

प्रस्तुत अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि संयम साधना में प्रवृत्त श्रमण को आहार ग्रहण करने के लिए कैसा पात्र रखना चाहिए। पात्र की याचना विधि का भी उल्लेख है। इस अध्ययन की सम्पूर्ण सामग्री दो उद्देशकों में विभक्त है।

सोलहवां अध्ययन—अवग्रहैषणा (आज्ञा-याचना) :

प्रस्तुत अध्ययन में आवास-स्थान के लिए किस प्रकार अनुमति प्राप्त करनी चाहिए, किस प्रकार ठहरना चाहिए, गृहस्वामी के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए आदि का विवेचन है। साथ ही इसमें पाँच प्रकार के अवग्रह का नाम-निर्देश एवं सात अभिग्रहपूर्वक निर्दोष मकान की याचना का भी वर्णन है।

सत्रहवां अध्ययन (स्थान) :

यह द्वितीय चूला का प्रथम अध्ययन है। इसमें कायोत्सर्ग विधि का निर्देश है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि मुनि को किन स्थानों पर ध्यान, कायोत्सर्ग आदि धार्मिक अनुष्ठान करना चाहिए।

अठारहवां अध्ययन—निषोधिका (स्वाध्याय) :

इसमें स्वाध्याय भूमि के चयन एवं स्वाध्याय के सम्बन्ध में सजगता का उल्लेख है।

उन्नीसवां अध्ययन—उच्चार-प्रस्रवण (मलमूत्र-विसर्जन) :

उच्चार प्रस्रवण का अर्थ है मल-मूत्र का विसर्जन। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि श्रमण को मल-मूत्र का विसर्जन कहाँ करना चाहिए और कहाँ नहीं करना चाहिए। साथ ही श्रमण को यह निर्देश दिया गया है कि उसे मलमूत्र त्याग के लिए सर्वथा निर्जोव, निरवद्य एवं एकांत भूमि का चयन करना चाहिए।

१८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रोप अध्ययन

बीसवां अध्ययन (शब्द) :

सरस, मोहक या मनोज्ञ शब्दों के मोह से मुक्ति पाना इस अध्ययन का मुख्य विषय है। इसमें यह बताया गया है कि श्रमण को इन्द्रियासक्त होकर शब्दों को सुनने का संकल्प नहीं करना चाहिए।

इक्कीसवां अध्ययन (रूप) :

इस अध्ययन में चक्षुरिन्द्रिय से सम्बन्धित विषय का वर्णन है। इसमें यह कहा गया है कि संयमशील मुनि की चक्षुरिन्द्रिय के विषयों के प्रति रागद्वेष नहीं करना चाहिए।

बाईसवां अध्ययन (पर-क्रिया) :

इस अध्ययन में श्रमण के लिए यह निर्देश है कि वह गृहस्थ से किसी प्रकार की सेवा न ले। यदि कोई गृहस्थ वैयावृत्य (सेवा) की दृष्टि से मुनि के पैर प्रक्षालन करे, मालिश करे अथवा पैर दबाए तो मुनि को स्पष्ट इत्कार कर देना चाहिए।

तेईसवां अध्ययन—(अन्योन्य क्रिया) :

इस अध्ययन का प्रतिपाद्य साधु का स्वावलम्बन है। साधु-साध्वी को बिना किसी विशेष परिस्थिति के एक दूसरे की सेवा नहीं लेनी चाहिए।

चौबीसवां अध्ययन (तृतीय चूला) भावना :

इस अध्ययन में श्रमण भगवान् महावीर का जन्म तथा उनका पवित्र जीवन-वृत्त अंकित है। महाव्रतों एवं पच्चीस भावनाओं का विवेचन है।

पच्चीसवां अध्ययन—(चतुर्थ चूला) विमुक्ति :

इस अध्ययन में मोक्ष के साधनभूत कर्म-निर्जरा के साधनों का विवेचन है।

सन्दर्भसूची

प्रथम अध्याय

1. संपा०-पं० खूबचन्द्र जा सिद्धान्तशास्त्री, सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (उमास्वामी) परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९७४, १/२०. राधामोहन विद्यावाचस्पति गोस्वामी भट्टाचार्य, कणादकृत न्यायसूत्र विवरण, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, सन् १९३९, प्रथम अध्याय, प्रथम अह्निका, १/६.

आचाराङ्गसूत्र स्वरूप एवं विषयवस्तु : १९

२. संपा० मुनि श्रीपुण्यविजयजी, नन्दीसूत्र, (चूर्णि एवं वृत्ति), आचार्य देववाचक, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी-५, सन् १९६६, पृ० ४०-४१. श्री हेमचन्द्रसूरि, अनुयोगद्वार सूत्र (वृत्ति सहित), भावनगर, सन् १९३९, पृ० ४२.
३. श्री भद्रबाहुस्वामी, आवश्यकनियुक्ति, आगमोदय समिति, वीर सं० २४५४, गा० १९२.
४. श्री जिनभद्रगणिकामाश्रमण, विशेषावश्यकभाष्य (स्वोपज्ञवृत्तिसहितम्), लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद-९, प्रथम संस्करण, १९६६, ५५०.
५. संपा० मुनि श्रीपुण्यविजयजी, बृहत्कल्पभाष्य, आत्माराम जैन सभा, भावनगर, सन् १९३३, गा० १४४.
६. तत्त्वार्थभाष्य, १/२०.
७. मलयगिरि, आवश्यक वृत्ति, पत्र ४८, उद्धृत-आचाराङ्गसूत्र-भाग १, संपा० मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८०, पृ० २२.
८. मनु जी, मनुस्मृति, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४६, २/१०८.
९. वही, ४/१५६.
१०. आवश्यकनियुक्ति, गा० ९८-१०० एवं विशेषावश्यकभाष्य, ११५२-५४.
११. श्रीजिनदासगणि, आचाराङ्गचूर्णि, श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९४१, पृ० ३.
१२. श्री शीलांकाचार्य, आचाराङ्ग टोका, श्रीसिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९३५ पृ० ६.
१३. श्रीभद्रबाहुस्वामी, आचाराङ्गनियुक्ति, श्रीसिद्धचक्रसाहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९३५, गा० १६-१७.
१४. वही, गा० १०४.
१५. वही, गा० १.
१६. संपा०-उपा० अमरमुनि, कन्हैयालाल 'कमल' निशीथसूत्र (भाष्य, चूर्णि समन्वित), श्रीविसाहगणिमहत्तर, सन्मति ज्ञानपीठ लोहामण्डी, आगरा, प्रथम संस्करण, सन् १९६०, भाग ४, १९-१.
१७. संपा० श्रीघासीलालत्रित, व्यवहारसूत्र, अ० भा० श्वेताम्बर स्थानक, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, प्रथम आवृत्ति, सं० १९६९, ५/१८.
१८. आचाराङ्गनियुक्ति, गा० ८.
१९. आचाराङ्गचूर्णि, पृ० ३.

२० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

२०. आचाराङ्ग, शीलांक टीका, पृ० ६
२१. समवायाङ्गवृत्ति, पृ० १०१, उद्धृत-आचाराङ्गसूत्र-भाग १, संपा० युवाचार्य मधुकर मुनि, पृ० २५.
२२. डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, म० प्र० शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ० ७०.
२३. संपा० मुनि घासीलाल, समवायांगसूत्र, अ०भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६२, ३४/७२.
२४. मुनि उमेशचन्द्र जी 'अणु', औपपातिकसूत्र, श्री अखिल भारतीय साधु, मार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०), प्रथम आवृत्ति, सन् १९६३, पृ० ३४.
२५. श्यामार्य प्रज्ञापनासूत्र, (टीका एवं अनुवाद सहित) शारदाभवन, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, सं० १९९१, १/६३.
२६. अभयदेवसूरि, भगवतीसूत्र (प्रथम खण्ड), अनु० संशो० पं० बेचरदास जीवराज दोषी, मनसुखलाल जी भाई मेहता, श्री जिनागम सभा, बम्बई, वि० सं० १९७४, ५/४/१९१.
२७. 'पवुच्चति', कज्जति, णियट्ठति, पडिलेहंति आदि, आचाराङ्ग १/२/२. जागरंति, वेदेति, णावकरवंति, १/३/२.
२८. संपा० मुनि जम्बूविजय जी, आचाराङ्गसूत्रम् (टीका सहित), मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलॉजिकल ट्रस्ट, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७८, २/१६.
२९. श्रीजिनदासगणि महत्तर, दशवैकालिक चूर्णि, श्रीऋषभदेवजी केशरीमल जी जैनश्वेताम्बर संस्था, रतलाम, जैनबन्धु मुद्रणालय, सन् १९३३, पृ० ८८.
३०. संपा० माणक मुनि, दशवैकालिक नियुक्ति, जैनश्वेताम्बर ज्ञान भण्डार, सूरत, सन् १९३०, १७०-१७४, उद्धृत-युवाचार्य मधुकरमुनि-सम्पादित आचाराङ्गसूत्र, पृ० १३.
३१. 'आसं च छंदं च विगिंच धीरे', आचाराङ्ग १/२/४ सर्व्वेसि जीवियं पियं (१/२/३) मायी पमायी पुणरेतिगढं (१/३/१) 'सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति', (१/३/१) 'जंति धीरा महायाणं', (१/४/४) 'खणं जाणहि पंडिणं', (१/२/२) 'अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ (१।३।१) 'सव्वओ पमत्तस्समयं १।३।४
३२. आचाराङ्गनियुक्ति, गा० ७ से १० २८६.

आचाराङ्गसूत्र स्वरूप एवं विषयवस्तु : २१

३३. वही, गा० २८७.
३४. **Maxmuller Sacred Book of the East At the Clarendon Press, 1897 vol. 22, Introduction. p. 47.**
३५. समत्वं योग उच्यते, भगवद्गीता गीताप्रसे गो रत्नपुर, बीसवाँ संस्करण, सं० २०२८, २१४८.
३६. श्री उपाध्याय यशोविजय जी, अध्यात्मसार, केशरबाई ज्ञानभण्डार स्थापक-संघवी नगीनदास करमचन्द, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १५९४, १५१४४, तुलनीय—गीता, ५/१९.
३७. आचा राङ्गनियुक्ति, २४४.
३८. मोहसमुत्था परिसहृ वसग्गा, आचाराङ्गनियुक्ति, गा० ३४.



द्वितीय अध्याय

नैतिकता के तत्त्वमीमांसीय आधार

किसी भी विषय का युक्तियुक्त तथा सुव्यवस्थित अध्ययन विज्ञान कहलाता है और प्रत्येक विज्ञान की कुछ मूलभूत अवधारणाएँ होती हैं। उन्हीं के आधार पर तर्कसंगत सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं।

नीति-दर्शन की भी कुछ मूलभूत मान्यताएँ अथवा अवधारणाएँ हैं, जिनके अभाव में नैतिकता की व्याख्या नहीं की जा सकती। इन पूर्व अवधारणाओं के आधार पर ही नीति-दर्शन का भव्य-प्रासाद अवस्थित है। इनके प्रति शंकाशील बनने पर नैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। नैतिक मान्यताओं के प्रति निष्ठा रखना आवश्यक है। इनका आधार न तो तर्क है, और न स्वयं-सिद्धि, अपितु आस्था (निष्ठा) है।

प्रश्न उठता है कि यदि नैतिक मान्यताएँ केवल मनोकामनाएँ हैं और उनका बौद्धिक निरसन सम्भव है तो उनका नैतिक औचित्य क्या है? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उनका बौद्धिक खण्डन सम्भव होने पर भी व्यावहारिक निरसन सम्भव नहीं है। श्री संगमलाल पाण्डेय का कथन है कि 'काण्ट ने नैतिक मान्यताओं के बौद्धिक खण्डन से यह निष्कर्ष निकाला कि कोरा बौद्धिक विवेचन निःसार है और नैतिक व्यवहार उस वस्तु को सिद्ध करता है, जिसे कोरा बौद्धिक विवेचन असिद्ध या संदिग्ध छोड़ देता है'। केवल बौद्धिक खण्डन से उनकी निरर्थकता सिद्ध नहीं होती। काण्ट कहते हैं कि 'ये मान्यताएँ तर्कसिद्ध सिद्धान्त नहीं हैं, किन्तु पूर्वकल्पनाएँ हैं, जो व्यवहारतः अनिवार्य हैं। यद्यपि ये हमारे बौद्धिक ज्ञान का विस्तार नहीं करतीं, तथापि व्यवहार में बौद्धिक प्रत्ययों को विषयगत सत्ता प्रदान करती हैं।² अरबन इसी बात को पुष्ट करते हैं कि 'नैतिक मान्यताओं को कामना कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि नैतिक मान्यताओं को कुछ सत्यता नहीं है। इससे तो यही स्पष्ट होता है के उस सत्य को पाने की बलवती कामना होने के कारण वह सत्य है और उसकी प्राप्ति भी सम्भव है'³ 'विज्ञान की मान्यताओं से भिन्न, ये नैतिक मान्यताएँ वास्तविक सत्य हैं, जिनसे मनुष्य जीते हैं। यदि ये भ्रम या असत्य हो जाएँ तो वस्तुतः हमारा जीना ही समाप्त हो जाए।'⁴

पाश्चात्य-दर्शन में नैतिकता की पूर्व मान्यताएं :

पाश्चात्य नैतिक-दर्शन में काण्ट ने नैतिकता की तीन मौलिक धारणाओं को स्थापित किया है—(१) आत्मा की अमरता, (२) संकल्पस्वातन्त्र्य और (३) ईश्वर का अस्तित्व । काण्ट ने आत्मा की अमरता को 'नैतिक प्रगति' की मान्यता से सिद्ध किया है, जबकि अरबन 'नैतिक प्रगति' को स्वतन्त्र रूप से नैतिकता को पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार करते हैं । राशडाल के अनुसार 'बौद्धिक प्रयोजन,' 'काल,' तथा 'अमंगल की वास्तविकता' ये तीन नैतिक पूर्व मान्यताएं हैं । इस प्रकार 'संकल्प-स्वातन्त्र्य,' 'आत्मा की अमरता,' व्यक्तित्व, 'विवेक-पूर्ण बुद्धि' और 'आत्मा की क्रियाशक्ति' को नैतिकता की अवधारणाओं के रूप में माना गया है ।

भारतीय दर्शन में नैतिक मान्यताएं :

भारतीय नीति दर्शन की भी अपनी कुछ मूलभूत पूर्व धारणाएं हैं—जैसे 'आत्मा की अमरता' 'पुनर्जन्म का सिद्धान्त,' 'कर्म-सिद्धान्त' एवं 'कर्म करने की स्वतन्त्रता । 'ये नैतिकता के आधारभूत तत्त्व हैं । कर्म-फल प्रदाता तथा व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को भी कुछ भारतीय दर्शनों ने नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार किया है । इसके अतिरिक्त बन्धन, उसके कारण तथा बन्धन से मुक्ति और उसके उपाय भी नैतिक मान्यता के अन्तर्गत आते हैं ।

जैन दर्शन में नैतिकता को पूर्व मान्यताएं :

जैन दर्शन में तत्त्वमीमांसा और आचार-मीमांसा में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । तात्त्विक योजना के आधार पर ही निम्नांकित पांच मान्यताओं को नैतिकता की पूर्व मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—(१) आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म-सिद्धान्त, (२) कर्म-सिद्धान्त शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल, (३) आत्मा का बन्धन तथा उसके कारण (आस्रव) (४) बन्धन से मुक्ति के उपाय (संवर-निर्जरा) और (५) नैतिक जीवन का परमसाध्य (मुक्ति) ।

आचाराङ्ग में नैतिकता की पूर्व मान्यताएं :

सदाचार और साधना के लिए किन बातों पर आस्तिक्य बुद्धि रखना आवश्यक है, इस सम्बन्ध में आचाराङ्ग में स्पष्ट निर्देश हैं । उसके अनुसार नैतिक जीवन के लिए आत्मा का अस्तित्व, पुनर्जन्म, कर्म-फल

२४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आदि में विश्वास रखना आवश्यक है। सूत्रकार ने सर्वप्रथम आत्म-अस्तित्व सम्बन्धी यह प्रश्न उठाया है कि वर्तमान जीवन से पूर्व मेरा अस्तित्व था अथवा नहीं? इस जीवन के पश्चात् मेरी सत्ता रहेगी या नहीं? आदि। पुनर्जन्म एवं आत्मा को नित्यता ये नैतिकता के मौलिक प्रश्न हैं।

आत्मा का स्वरूप :

जिज्ञासा मानव-मन की सहज प्रवृत्ति है। अतः उसके अन्तर्मन में यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि 'कोऽहं कीदृग् कुतः आयातः' अर्थात् में कौन हूँ, मैं कैसा हूँ और कहां से आया हूँ। आचाराङ्ग का प्रारम्भ ही अस्तित्व विषयक जिज्ञासा से होता है। जैसे—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'^१ वेदान्त का मूल सूत्र है, वैसे ही 'आत्म-जिज्ञासा' आचाराङ्ग का मूल सूत्र है। जिज्ञासा के मन में सर्वप्रथम यही प्रश्न उठता है कि मैं कहां से आया हूँ? कहां जाऊंगा? ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ या अधोदिशा से? मैं कौन था? और मृत्यु के उपरान्त क्या होऊंगा? आदि।

वस्तुतः आचाराङ्ग के 'कोऽहं' और 'सोऽहं' ये दो सूत्र आत्मवादी दर्शन के दो नेत्र कहे जा सकते हैं। प्रथम सूत्र 'कोऽहं आसी' अस्तित्व-सम्बन्धी जिज्ञासा का सूचक है। यह दार्शनिक चिन्तन का आधारभूत सूत्र है। दूसरे सूत्र 'सोऽहं' में अस्तित्व या स्व स्वरूप की सत्ता का प्रत्यक्ष-बोध है। जो यह बताता है कि यह दिशा-विदिशा में भवभ्रमण करने वाला मैं ही हूँ।

इस प्रकार जो आत्मा अपने अस्तित्व या स्वस्वरूप को जान लेता है, वही आत्मवादी है। जो आत्मवादी है, वही लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी हो सकता है। व्यक्ति के लिए सारभूत प्रश्न अपनी सत्ता से ही सम्बन्धित हैं। अस्तित्व-बोध के आधार पर ही नैतिक चेतना का विकास सम्भव है। इस तरह, चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त शेष समस्त भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन आत्म-सत्ता को स्वीकार करते हैं और उसके अस्तित्व में विश्वास प्रकट करते हैं। जहां तक आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है, पाश्चात्य चिन्तक-प्लेटो, अरस्तू, सुकरात, देकार्त, लाक, बर्कले, मैक्समूलर, शोपेनहावर आदि ने भी इसे एक मत से स्वीकार किया है। यद्यपि उसके स्वरूप, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि के सम्बन्ध में उनकी विभिन्न धारणाएं रही हैं, तथापि आत्म-अस्तित्व के प्रश्न को लेकर उनमें मत वैभिन्न्य नहीं है। इस प्रकार आचाराङ्ग की भांति

अधिकांश भारतीय एवं पश्चात्य दार्शनिक आत्म-अस्तित्व के विषय में एकमत हैं ।

अस्तित्व-बोध के पश्चात् सहज ही यह प्रश्न उठता है कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? भारतीय मनीषियों ने विविध रूप से इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है । इस सम्बन्ध में सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न यह है कि ज्ञान आत्मा का निजगुण है या आगन्तुक गुण है ? न्याय-वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं । उनकी यह मान्यता है कि बद्ध अवस्था में ज्ञान आत्मा में रहता है और मुक्तावस्था में नष्ट हो जाता है, जबकि सांख्य और वेदान्त ज्ञान को आत्मा का निज गुण स्वीकार करते हैं । वेदान्त में कहा है कि 'विज्ञानं ब्रह्म' अर्थात् विज्ञान ही ब्रह्म (परमात्मा) है ।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आत्मा की व्युत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि 'अतति इति आत्मा' अर्थात् जो गमन करता है वह आत्मा है ।^१ अर्थात् जो ज्ञानादि गुणों में सतत् रमण करता है वह आत्मा है ।

जैन दर्शन में आत्मा के लक्षण एवं स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त गहराई से चिन्तन हुआ है । आचारांग में आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया । जेण वियाणइ से आया । तं पडुच्च पडिसंखाए । एस आयावाइ समियाए परियाए वियाहिए'^२, अर्थात् जो आत्मा है, वही विज्ञाता है, और जो विज्ञाता है वही आत्मा है । जिसके द्वारा वह जानता है उस ज्ञान पर्याय की अपेक्षा से वह आत्मा कहलाता है । इसलिए उसे आत्म-वादी समता का पारगामी कहा गया है ।

इस प्रकार आचारांग ज्ञान को आत्मा का स्वलक्षण बताता है । आत्मा ज्ञान स्वरूप है । स्वरूप की दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में अभिन्नता है । ज्ञान को आत्मा का गुण कहा गया है । गुण और गुणी में अभेद होता है, अतः आत्मा ज्ञानमय है ।

जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक तीन लक्षण बताए गए हैं, वहाँ आचारांग में आत्मा के ज्ञानलक्षण पर ही विशेष जोर दिया गया है । गहराई से चिन्तन करने पर केवल जानना-देखना ही आत्मा का स्वलक्षण या स्वस्वभावसिद्ध होता है । आचारांग में समता को जो आत्मा का धर्म कहा गया है वह केवल ज्ञाता द्रष्टा भाव की दृष्टि से । यहाँ आत्मा के विज्ञाता स्वरूप पर विशेष बल देने का कारण यह प्रतीत होता है कि भावात्मक एवं

२६ : आचाराङ्ग का नोतिशास्त्रीय अध्ययन

संकल्पात्मक अवस्था में व्यक्ति को समताधर्म की उपलब्धि होना असम्भव है ।

आचारांग को भाँति भगवती,^८ दशवैकालिक,^९ समयसार^{१०} आदि ग्रन्थों में भी आत्मा के ज्ञान लक्षण पर जोर दिया गया है । आचार्य अमृतचन्द्र भी कहते हैं कि 'आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्' ।^{११} आत्मा साक्षात् ज्ञान है और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है । आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता है । उपनिषद् में भी कहा गया है कि 'आत्मनि विज्ञाते सर्व इदं विज्ञातं भवति'^{१२} आत्मा को जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है ।

आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व :

आचारांग में जहाँ चेतना के स्वभाव या ज्ञान लक्षण का विवेचन उपलब्ध है वहीं उसमें चेतना के व्यावहारिक लक्षणों पर भी प्रकाश डाला गया है । उसमें अनुभूति, संकल्प आदि मनोवैज्ञानिक लक्षणों का भी विवेचन है । आचारांग में कहा है कि 'व्यक्ति में जो अहंकार है— यथा—'मैंने किया,' 'मैं करता हूँ,' 'मैं करूँगा'^{१३} यही आत्मा (चेतना) का कर्तृत्वभाव है । इस जीव ने बहुत पापकर्म किए हैं ।^{१४} अतः उसे अपने कृतकर्मों का संवेदन करना पड़ता है ।^{१५} जो व्यक्ति अपारज्ञात कर्मा है, अर्थात् जो कर्तृत्व भाव का त्याग नहीं करता, वह दिशाओं-अनुदिशाओं में संक्रमण करता है और दुःखों को सहन करता है । अनेक प्रकार की योनियों को धारण करता हुआ नाना प्रकार के दुःखों का संवेदन करता है ।^{१६}

उपर्युक्त सूत्रों की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा शुभा-शुभ कर्मों का कर्ता और उनके शुभाशुभ फल का भोक्ता भी है । किन्तु ये लक्षण वस्तुतः बद्धात्मा में ही घटित होते हैं, मुक्तात्मा में नहीं । तत्त्वतः आत्मा न तो कर्म का कर्ता है और न कर्म फल का भोक्ता ही, वह तो एक मात्र ज्ञायक स्वभाव है । कर्तृत्व-भोक्तृत्व आत्मा का निज स्वभाव नहीं है । ये उसकी वैभाविक पर्यायें हैं, क्योंकि ये शरीराश्रित हैं । ये वैभाविक क्रियाएँ पर के निमित्त से ही उसमें घटित होती हैं । आचारांग की भाँति सूत्रकृतांग,^{१७} उत्तराध्ययन,^{१८} समयसार,^{१९} नियमसार,^{२०} पंचास्तिकाय,^{२१} बृहद्द्रव्यसंग्रह,^{२२} प्रमाणनयतत्त्वालोक^{२३} आदि ग्रन्थों में भी आत्मा को कर्म का कर्ता-भोक्ता आदि कहा गया है ।

आचारांग के अनुसार आत्मा की दो अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं—

बद्ध और मुक्त । कर्मों से आबद्ध आत्मा बद्धात्मा या संसारो आत्मा कहा जाती है और कर्म-रहित आत्मा मुक्तात्मा कहलाती है । मुक्तात्मा केवल ज्ञाता-द्रष्टा है जबकि संसारी आत्मा कर्ता-भोक्ता भी है ।

आचारांग में मुक्तात्मा के स्वरूप का विवेचन तीन दृष्टिकोणों से हुआ है—विधेयात्मक, निषेधात्मक और अनिर्वचनीय ।

मुक्तात्मा का भावात्मक (विधेय) स्वरूप :

आचारांग में कहा गया है कि वह मुक्तात्मा अकेला है अर्थात् समस्त कर्मजन्य मल से रहित केवल शुद्ध स्वरूप है, शरीर-रहित है, श्वेदज्ञ है अर्थात् संवेदनशील है या क्षेत्रज्ञ है अर्थात् प्रज्ञायुक्त है । वह परिज्ञा, संज्ञा है अर्थात् चैतन्य स्वरूप है । टीकाकार ने इसको भी ज्ञान-दर्शन युक्त कहा है ।^{२४} जैनधर्म की यह स्पष्ट मान्यता है कि शुद्ध अवस्था में आत्मा समस्त कर्म जनित बाधाओं से रहित होती है और उसकी ज्ञानादि अव्यक्तशक्तियाँ पूर्णरूप से प्रकट हो जाती हैं । भावात्मक दृष्टिकोण से आचारांग में आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि स्व-गुणों पर बल दिया गया है । आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आत्मा की भावात्मक स्थिति का वर्णन करते हुए उसे शुद्ध, शाश्वत, अविनाशी तथा अनन्त चतुष्टय युक्त कहा है ।^{२५} योग-दर्शन में भी 'क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः'^{२६} कहकर मुक्तात्मा को कर्म से रहित कहा गया है ।

निषेधमुखेन आत्मा का स्वरूप :

आचारांग में मुक्तात्मा के स्वरूप का चित्रण निषेधमुख से ही अधिक हुआ है । उसमें कहा गया है कि वह (मुक्तात्मा) लम्बा नहीं है, छोटा नहीं है, गोल नहीं है, त्रिकोण नहीं है, चौकोन नहीं है और मण्डलाकार नहीं है । वह न कृष्ण है, न नील है, न लाल है, न पीत है और न शुक्ल है । यह न सुगन्धयुक्त है और न दुर्गन्धयुक्त है । वह न तिक्त है, न कटु है, न कषाय है न आम्ल है और न मधुर है । वह कर्कश नहीं है, मृदु नहीं है, गुरु भी नहीं है, लघु भी नहीं है । वह शांत भी नहीं है, उष्ण भी नहीं है, स्निग्ध भी नहीं है, रूक्ष भी नहीं है । वह शरीरवान् नहीं है, जन्मधर्मा नहीं है, और संगयुक्त भी नहीं है । वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है । वह न शब्द है, न रूप है, न गन्ध है, न रस है और न स्पर्श ही है ।^{२७} स्थानांग में भी कहा है कि वह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि से युक्त नहीं है ।^{२८} आचारांग की भाँति समयसार,^{२९} नियमसार,^{३०} परमात्मप्रकाश^{३१} आदि ग्रन्थों में भी आत्मा के स्वरूप पर

निषेधात्मक रूप से प्रकाश डाला गया है। अध्यात्म योगी सन्त आनन्द-घन ने भी 'ना हम पुरुष ना हम नारी वरनन भाँति हमारी'^{३२}.....'आदि पदों में आत्मा के निषेधात्मक स्वरूप का वर्णन किया है। यही बात केनोपनिषद्,^{३३} कठोपनिषद्^{३४} मुण्डकोपनिषद्,^{३५} माण्डूक्योपनिषद्,^{३६} बृहदारण्यकोपनिषद्,^{३७} ब्रह्मविघ्नोपनिषद्^{३८} श्वेताश्वतरोपनिषद्^{३९} में भी अन्य शब्दों में कही गई है। इसके अतिरिक्त सुबालोपनिषद्^{४०} और भगवद्गीता^{४१} में भी आचारांग के समान ही आत्मा को अच्छे, अमेघ अक्लेघ और अहन्तव्य माना गया है।

अनिर्वचनीय स्वरूप :

आचारांग में वर्णित मुक्तात्मा का यह निषेधात्मक स्वरूप अनिर्वचनीयता हमें उसकी अनिर्वचनीयता की ओर ले जाता है। उपनिषदों की भाँति 'नेति नेति' की यह शब्दावली आत्म-स्वरूप की अनिर्वचनीयता को सिद्ध करती है। आचारांग स्पष्ट रूप से कहता है कि वहाँ से सभी स्वर लौट आते हैं—अर्थात् वह (आत्मा) शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है। वह तर्क गम्य नहीं है, बुद्धि उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। उसकी कोई उपमा नहीं है अर्थात् वह अनुपम है। किसी रूपक के द्वारा उसे बताया नहीं जा सकता। वह अरूपी सत्तावान है। वह पदातीत (अपद) है—अर्थात् कोई भी उसका पदवाचक नहीं है।^{४२} तैत्तिरीय उपनिषद्^{४३} में भी यही कहा है कि 'यह वाणी द्वारा गम्य नहीं है, मन के द्वारा प्राप्य नहीं है, ऐसे आनन्दस्वरूप ब्रह्म की व्याख्या नहीं की जा सकती'। सन्त आनन्दघन भी आत्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप की मीमांसा करते हुए कहते हैं—'निसाणी कहा बताउं रे वचन अगोचररूप। रूपी कहूँ तो कछु नहीं बंधइ कइसइ अरूप, रूपारूपी जो कहूँ प्यारे ऐसे न सिद्ध अनूप।'^{४४}

आत्मा की अमरता :

आत्मा को अमरता नैतिकता की मूलभूत अवधारणा है। आत्मा की नश्वरता का सिद्धान्त नैतिकता की बुनियाद को ही हिला देता है। इसीलिए आत्मा की अमरता को नैतिक दर्शन की मूलभूत अवधारणा कहा गया है, क्योंकि आध्यात्मिक विकास और कर्म-सिद्धान्त दोनों ही आत्मा की अमरता की अवधारणा पर खड़े हुए हैं।

आत्मा अपने नैतिक आदर्श या चरम साध्य को एक ही जन्म में नहीं पा सकता। उसके लिए जन्म-जन्मान्तर की साधना अपेक्षित है।

इस आदर्श दिशा की ओर क्रमिक रूप से प्रगति होती है। आत्मा की क्षमता एवं शक्तियाँ अनन्त हैं। वे अल्पकालिक एक जन्म में पूर्णतया विकसित नहीं हो पातीं। इन शक्तियों के पूर्णतः प्रकटन या विकास के लिए आत्मा की अनश्वरता या नित्यता को स्वीकार करना आवश्यक है।

आत्मा के दो रूप हैं—परिणामी (परिवर्तनशील) और नित्य (शाश्वत)। आत्मा का परिवर्तनशील रूप जन्म-मरण से सम्बद्ध है जबकि दूसरा नित्य या अमर पक्ष मुक्ति से। आचारांग में आत्मा की अमरता के विषय में कहा गया है कि आत्मा न छेदा जाता, न भेदा जाता, न जलाया जाता और न मारा जाता है अर्थात् वह अछेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है और अहन्य है।^{४५} जो आत्मदर्शी है, वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।^{४६}

श्रीमद्भगवद्गीता^{४७} का भी यही स्वर है कि 'शस्त्र उसे छेद नहीं सकता, अग्नि उसे जला नहीं सकता। जैनागम स्थानांग^{४८} और भगवती सूत्र^{४९} में भी आत्मा की नित्यता, अक्षयता, ध्रुवता आदि का वर्णन है। छान्दोग्योपनिषद्^{५०} एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में भी ये भाव मिलते हैं।^{५१}

पुनर्जन्म-सिद्धान्त :

मृत्यु के उपरान्त आत्मा की क्या स्थिति होगी ? उसका अस्तित्व बना रहेगा या मिट जायेगा ? यह जिज्ञासा हमें पुनर्जन्म की अवधारणा की ओर ले जाती है जो कि भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन का अत्यन्त मौलिक सिद्धान्त है।

अध्यात्मवादी विचारक आत्मा को नित्य शाश्वत एवं अमर मानते हैं। इसीलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की और उसे कर्म-सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यायित किया। कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त परस्परान्वित है। कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार करने पर ही तद्जनित शुभाशुभ फल को भोगने के लिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार पुनर्जन्मवाद कर्म-सिद्धान्त से फलित होता है। कर्म-सिद्धान्त कहता है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि सभी कृतकर्मों का फल इसी जीवन में नहीं मिल पाता है। अतः शुभाशुभ कृत कर्मों का फल भोगने के लिए दूसरे जन्म की आवश्यकता

३० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

होती है। यह संसार जन्म-मरण की अनादि शृंखला है। जब तक आत्मा पूर्वकृत कर्मों को भोग नहीं लेता, तब तक जन्म-मरण का चक्र समाप्त नहीं होता। आचारांग में कहा गया है कि 'अज्ञानी जीव ही इस संसार में परिभ्रमण करता है'^{५२} बद्धात्मा का ही पुनर्जन्म होता है। यह आत्मा अनेक बार उच्चगोत्र और अनेक बार नीच गोत्र में जन्म ले चुका है।^{५३} जीव प्रमादवश भिन्न-भिन्न जन्म धारण करता है।^{५४} नाना योनियों में जाता है। वह प्रमादी पुरुष (कर्म-विपाक को) नहीं जानता हुआ (व्याधि से) हत और (अपमान से) उपहत होता है और बार-बार जन्म-मरण करता है।^{५५} भगवतीसूत्र में भी कहा है कि कर्मयुक्त जीवों का पुनर्जन्म होता है।^{५६} जब तक कर्म को निर्मूल नहीं कर दिया जाता, तब तक पुनर्जन्म का प्रवाह, रुकता नहीं है। वस्तुतः राग-द्वेष, कषाय, प्रमाद आदि कर्मबन्ध के कारण हैं, और कर्म जन्म-मरण की परम्परा का कारण है। इसीलिए आचारांग में कहा है कि— 'मायी पमायी पुणरेइ गब्भं, मोहेण गब्भं मरणाति एति, एत्थ मोहे पुणो पुणो।'^{५७} मायी और प्रमादी जीव बार-बार गर्भ में अवतरित होता है और जन्म-मरण करता है। संसार में बार-बार जन्म-मरण के कारण मोह (ममत्व) उत्पन्न होता है। इसीलिए साधक को पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होने का निर्देश देते हुए कहा है कि 'निस्सारं पासिय णाणी, उपवाय चवणं णच्चा। अणणं चर माहणै'।^{५८} हे मुणै! (विषय) निस्सार है तथा जन्म और मृत्यु निश्चित है ऐसा जानकर तू अनन्य (मोक्ष-मार्ग) का आचरण कर। हिन्दू परम्परा में भी यह पुनर्जन्म-सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद^{५९} और यजुर्वेद^{६०} में भी पुनर्जन्म की अवधारणाएँ पाई जाती हैं। अथर्ववेद^{६१} में कहा है कि जीवात्मा न केवल मानव या पशु का जन्म-मरण करती है, किन्तु जल, वनस्पति आदि अनेक योनियों में बार-बार जन्म लेती है। औपनिषदिक^{६२} विचार-धारा भी यही है। न्याय^{६३} और योग-दर्शन^{६४} में भी पुनर्जन्म का समर्थन मिलता है। गीता^{६५} में अनेक स्थानों पर पुनर्जन्म सम्बन्धी निर्देश उपलब्ध हैं। बौद्ध^{६६} दर्शन यद्यपि अनात्मवादी है, तथापि उसमें पुनर्जन्म-सिद्धान्त की मान्यता है।

आत्मा को अमरता और पुनर्जन्म :

आचारांग में आत्मा की नित्यता के आधार पर पुनर्जन्म की व्याख्या उपलब्ध है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं

सत्'^{६०} अर्थात् जो पर्याय रूप से उत्पन्न हो एवं नष्ट हो किन्तु द्रव्य रूप से नित्य व शाश्वत रहे, वह 'सत्' होता है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म एक साथ स्थित हैं। हम अतीतकाल में थे, वर्तमान काल में हैं और भविष्य में भी रहेंगे। त्रिकाल में मूल द्रव्य रूप से आत्मा नित्य और अमर रहती है। किन्तु पर्याय रूप से शैशवा, तरुण एवं वृद्ध अवस्थाएँ बदलती रहती हैं और एक शरीर के बाद दूसरे शरीर में संक्रमण करती रहती हैं। आचारांग में स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा की नित्यता के साथ पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के साथ आत्मा के नित्यत्व का प्रश्न जुड़ा हुआ है। क्योंकि कुछ व्यक्ति यह जान लेते हैं कि पूर्वादि दिशा से आये हैं अथवा अन्य क्रिमी दिशा-विदिशा से। कुछ प्राणियों को यह ज्ञात हो जाता है कि यह उनकी आत्मा औपपातिक है अर्थात् पुनर्जन्म लेने वाली है, जो इन दिशा-विदिशाओं में कर्मानुसार संचरण करती है। वह यह भी जान लेता है कि जो इन दिशा-विदिशाओं में भ्रमण करती हुई आई है वही मैं आत्मा हूँ अर्थात् इन दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील जो आत्मा है, वह 'मैं' ही हूँ।^{६८}

वास्तव में पुनर्जन्म सिद्धान्त को मानने वाला ही आत्मवादी है। जन्म-मरण आत्मा का परिवर्तनशील अर्थात् पर्याय वाला पक्ष है और जन्म-मरण की शृंखला के बीच उसकी नित्यता का बना रहना आत्मा का नित्यत्व पक्ष है। पर्याय (शरीर) बदलते रहने पर भी आत्मा नहीं बदलती है। आचारांगकार ने द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा की नित्यता एवं पर्याय की अपेक्षा से पुनर्जन्म दोनों को प्रमाणित कर दिया है।

निष्कर्ष यह है कि वर्तमान जीवन से पूर्व और वर्तमान जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृति ही आत्मवाद अर्थात् आत्मा की अमरता का सिद्धान्त है। इसके बिना कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म को सम्यक् रूप से व्याख्या करना सम्भव नहीं क्योंकि पुनर्जन्म सिद्धान्त का मूल यही है कि जो जैसे कर्म करता है वैसी ही योनि या जन्म प्राप्त करता है। गीता^{६९} भी आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म को स्वीकार करती है। समाधितंत्र^{७०} में यही^{६९}बात कही गई है। अथर्ववेद^{७१} में भी कहा है कि यह आत्मा सनातन है। न केवल भारतीय विचाररूप अपितु पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो भी कहता है कि "The soul always weaves her garment a new. The soul has a natural strength which will hold out and be born many times."

अर्थात् आत्मा सदा अपने लिए नए-नए वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी।^{१०२} इसी तरह अरस्तू, सुकरात, काण्ट, जेम्ससेथ मार्टिन्यू आदि ने भी आत्मा और मरणोत्तर जीवन को अपने-अपने ढंग से युक्तियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हाफर्डिंग भी 'मूल्यों की नित्यता' का सिद्धान्त मानता है और इसी सिद्धान्त से आत्मा की अमरता को सिद्ध करता है।^{१०३}

आत्म-स्वातन्त्र्य एवं पुरुषार्थवाद :

नीतिशास्त्र की मान्यता है कि नैतिकता के लिए संकल्प-स्वातन्त्र्य की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है। अन्यथा 'तुम्हें यह करना चाहिए' इस नैतिक आदेश का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। काण्ट का कथन है कि तुम्हें करना चाहिए क्योंकि तुम कर सकते हो। इसी तरह आचारांग में भी साधक को अनेक नैतिक आदेश दिए गए हैं जैसे—'तुम्हें प्रमाद का त्याग करना चाहिए', 'विषय-कषायों से निवृत्त होना चाहिए', 'इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए', 'मन, वचन और काया पर संयम रखना चाहिए', साधना में पुरुषार्थ करना चाहिए आदि। 'चाहिए' में 'कर सकने' की स्वतंत्रता निहित है। संकल्प की स्वतंत्रता के अभाव में नैतिक आदेशों (चाहिए) का कोई अर्थ नहीं होता और न व्यक्ति को धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, उचित-अनुचित आदि के लिए उत्तरदायी ही ठहराया जा सकता है। उन्हीं कर्मों या आचरणों को हम अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित कहते हैं, जिन्हें व्यक्ति स्वतंत्र रूप से करता है। संकल्प की स्वतंत्रता के कारण ही वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी माना जाता है। संकल्प-शक्ति के आधार पर ही वह बुरी आदतों को त्यागने में सफल हो सकता है।

आचारांग में 'उठिठए णो पमायए' 'अप्पमत्तो परिब्बए', 'अणण्णं चरे' 'अल्लीणगुत्तोपरिब्बए' आदि जितने भी आदेशात्मक वाक्यों का विधान है, वे सब मनुष्य में निहित संकल्प-शक्ति को दर्शाते हैं। यदि व्यक्ति संकल्प करने एवं तदनुरूप आचरण करने में स्वतंत्र नहीं है तो उसके लिए उपर्युक्त नैतिक आदेश एवं नैतिक आदर्श दोनों ही अर्थ-शून्य हो जाते हैं। जब किसी व्यक्ति से यह कहा जाता है कि तुम्हें पापकर्म नहीं करना चाहिए, किसी के प्राणों का हनन नहीं करना चाहिए, तो इसका आशय यही होता है कि वह इन कार्यों को करने और न करने में स्वतंत्र है।

आचाराङ्ग के अनुसार मनुष्य संकल्प करने एवं उसके अनुरूप आचरण करने में स्वतंत्र है। इसलिए वह अपने बन्धन के लिए स्वयं उत्तरदायी है। वास्तव में यह आत्मा मकड़ी की भाँति दुःखों का जाल बिछाकर स्वयं ही उलझती है अर्थात् वह स्वयं ही कर्मों को उत्पन्न करती है और उससे आवृत्त होता है, तथा स्वयं ही तप-त्याग, सत्य-संयमानुष्ठान आदि के द्वारा कर्म-प्रवाह को रोक देती है और पूर्णबद्ध कर्मों को छिन्न-भिन्न कर शुद्ध हो जाती है।^{१४} न केवल आचाराङ्ग अपितु सम्पूर्ण अध्यात्मवादी दर्शन समवेत स्वर से स्वीकार करते हैं कि बन्धन सदा बन्धन नहीं रह सकता। वह तोड़ा जा सकता है और खोला जा सकता है।

आचाराङ्ग में कहा है कि 'सन्तिपाणा पुढो सिया' प्रत्येक प्राणी आत्मा की (स्वतंत्र) सत्ता है^{१५} और साथ ही प्रत्येक आत्मा अनन्त-शक्ति सम्पन्न है। यदि वह चाहे तो कर्म की परतंत्रता को तोड़कर स्वतंत्र हो सकती है। फिर भी आचाराङ्ग में एक स्थान पर जो यह कहा गया है कि 'एस पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए'^{१६} वही वीर प्रशंसित होता है जो बन्धन से मुक्त होता है या बद्ध को मुक्त करता है। तीर्थंकर या गुरु किसी के बन्धन को तोड़ते नहीं हैं, प्रत्युत बन्धन तोड़ने का मार्ग या उपाय बता देते हैं। उपादान तो जीव स्वयं ही है। बन्धन तोड़ने का पुरुषार्थ स्वयं आत्मा को ही करना होगा।

(सामान्यतया मनुष्य अपने उत्थान के लिए बाहरी तत्त्वों की अपेक्षा रखता है। आचाराङ्ग हमें यह सिखाता है कि आध्यात्मिक उत्थान के लिए बाह्य जगत् में भटकना आवश्यक नहीं है। वह कहता है कि सच्चा मित्र तो भीतर ही बैठा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए हे परम चक्षुष्मान् पुरुष ! तुझे पुरुषार्थ करना चाहिए।^{१७}) (परमुखापेक्षिता से आत्मा पराश्रित एवं निर्बल बनती है। स्वावलम्बी साधक दूसरों पर निर्भर नहीं होता, वह अपने आप में और अपनी उपलब्धियों में ही सन्तुष्ट रहता है। सत्य-प्राप्ति के लिए वह दूसरों के आलम्बन की अपेक्षा नहीं रखता है, अपितु निरावलम्बी होकर अपनी साधना और संकल्प-शक्ति के बल पर बन्धन मुक्त हो जाता है।) आचाराङ्ग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सत्य का साक्षात्कार उसी ने किया है जो (अनुकूल-प्रतिकूल बाधाओं से) अभिभूत नहीं होता, जो अभिभूत नहीं होता वही निरवलम्ब होने में समर्थ होता है।^{१८} वास्तव में आत्मोत्थान वही कर सकता है जो पुरुषार्थी है। इसी कारण आचाराङ्ग में आत्मा को 'पुरुष'

शब्द से सम्बोधित किया गया है। साधक को अपनी पौरुषता का भान कराते हुए आचाराङ्ग में कहा गया है कि 'पुरिसा ! तुममेव मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ?' हे पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है। फिर तू अपने (आत्मस्वरूप) से बाहर मित्र कहाँ ढूँढ़ता है ? अर्थात् क्यों उनकी अपेक्षा रखता है^{१९} ? इस बात की पुष्टि उत्तराध्ययन में भी की गई है कि आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु है, सुपथगामी आत्मा मित्र है और कृपथगामी आत्मा शत्रु है।^{२०} इस सन्दर्भ में सन्त आनन्दघन जी का पद है कि पुरुष ! 'किस्यु मुञ्ज नाम^{२१}.....' । हे प्रभो ! मेरा पुरुष नाम कैसे सार्थक हो सकता है ? पुरुष होते हुए भी मेरी स्थिति पुरुषार्थ-हीन हो रही है। इससे स्पष्ट है कि आचाराङ्ग का पुरुषार्थवाद का सिद्धान्त इस बात में विश्वास नहीं करता है कि परमात्मा किसी का उत्थान-पतन करता है। प्रत्येक जीव या आत्मा स्वयं ही अपने उत्थान-पतन के लिए उत्तरदायी है। जब वह स्वस्वभाव दशा में रमण करती है तब उसका उत्थान होता है और जब वह विभाव दशा में रमण करती है, तब उसका पतन होता है। बन्धन और मुक्ति उसी के आश्रित है। अज्ञानी से ज्ञानी होने का और बद्ध से मुक्त होने का सामर्थ्य उसी में है। वह सामर्थ्य कहीं बाहर से नहीं आता है। वह तो उसी के भीतर है और उसके पुरुषार्थ से ही प्रकटित होती है। इसीलिए आचाराङ्ग में सूत्रकार कहते हैं कि 'बन्ध पमोक्खो सुज्ज अज्जत्थेव'^{२२} बन्ध और मोक्ष तेरे अपने अध्यवसाय पर निर्भर हैं। अतः इस सत्य या संयम को सम्यक्तया जानकर (आलोन गुप्त) तथा जितेन्द्रिय होकर परिव्रजन करना चाहिए। यह भी कहा है कि कृतार्थ वीर मुनि को सदा आगम के अनुसार पुरुषार्थ करना चाहिए।^{२३} क्योंकि यहाँ जैसा कर्मक्षय करने का साधन है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है, अतः शक्ति का संगोपन नहीं करना चाहिए।^{२४} पुनश्च कहा है कि इस कर्म-शरीर अर्थात् आन्तरिक विषय-विकारों के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? फिर इस (आन्तरिक) युद्ध के योग्य सामग्री निश्चित ही दुर्लभ है।^{२५} टीकाकार ने भी इसकी व्याख्या करते हुए यही कहा है कि काम क्रोधादि आन्तरिक वृत्तियों के साथ युद्ध करने से तुम कर्म-फल रहित हो जाओगे।^{२६}

उत्तराध्ययन^{२७} में भी यही बात कही गई है। बुद्ध भी आत्म-संग्राम को ही श्रेष्ठ मानते हैं।^{२८} बुद्ध कहते हैं कि यह आत्मा स्वयं ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है दूसरा ? स्वयं को भलीभाँति संयत कर लेने पर व्यक्ति आत्म स्वामित्व को पा लेता है।

आत्मा स्वकृत पाप से अपने को मलिन बना लेता है, और अपने स्वयं के द्वारा नहीं किए गए पाप से शुद्ध रहता है। शुद्धि-अशुद्धि स्वयं पर निर्भर है। अन्य कोई भी व्यक्ति किसी को शुद्ध नहीं कर सकता।^{९९} गीता में भी यही कहा गया है कि आत्मा हो आत्मा का मित्र है और वही उसका शत्रु है। अतः उसे चाहिए कि वह स्वयं से स्वयं का उद्धार करे। किन्तु उसका पतन न करे।^{१०} महाभारत में भी कहा है कि स्वतंत्र आत्मा स्वतंत्रता के द्वारा स्वतंत्रता (मुक्ति) को प्राप्त कर सकता है।^{११}

निष्कर्ष यह है कि जीव स्वभावतः शुद्ध एवं स्वतंत्र है और अपनी अज्ञानता के कारण वैभाविक पुरुषार्थ के द्वारा उसने स्वयं अपने बन्धन का निर्माण कर लिया है। किन्तु स्वाभाविक पुरुषार्थ से ही उन वासनाओं के बन्धनों को तोड़कर वह मुक्त हो सकता है अर्थात् कर्म-परम्परा का उच्छेद कर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।

कर्म बन्धन और दुःख का हेतु :

दुःखों से छुटकारा पाना आत्मा का स्वभाव है। वह उसके लिए सतत प्रयत्नशील भी है। भारतीय दर्शनों का प्रमुख प्रत्यय 'बन्धन से मुक्ति' रहा है। सम्पूर्ण साधना बन्धन से मुक्ति के लिए है। आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए है। सामान्यतया इस संसार में परिभ्रमण करना अर्थात् बार-बार मरण ही बन्धन है, यही दुःख है। उत्तराध्ययन में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है और तो क्या यह सारा संसार ही दुःखमय है।^{१२} आचाराङ्ग का कथन है कि अज्ञानी जीव इस दुःख से भरे संसार (आवर्त) में भटक रहा है।^{१३} मनुष्य दुःखों से निवृत्ति तो चाहता है परन्तु उनके मूलभूत कारणों या स्रोतों को खोजकर उन्हें दूर करने का प्रयास नहीं करता। सबका अनुभव भी यही है। बन्धन (दुःख) है तो निश्चित ही उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। आत्मा का बन्धन भी कारण के बिना नहीं हो सकता।

यह सही है कि आचाराङ्ग में जैन दर्शन सम्मत कर्म-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु 'कर्म-रज' है, जीव कर्म से आबद्ध है, कर्म के कारण संसार में परिभ्रमण करता है, कर्म-शरीर को 'धुन डालो', आदि कुछ ऐसे उल्लेख हैं, जो कर्म सिद्धान्त के मूल आधार कहे जा सकते हैं। इन्हीं आधारों पर आचाराङ्ग की दृष्टि में बन्धन और उसके कारणों पर विचार करना यहां अभीष्ट है।

३६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आचाराङ्ग के अनुसार जीव बन्धन में है। वह पापकर्मों से आबद्ध है।^{१४} कर्म के फलस्वरूप वह जन्म-मरण रूप संसार में भटक रहा है और अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोग रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग के अनुसार कर्म ही संसार-भ्रमण का मूल हेतु है।

आचाराङ्ग में कहा गया है कि भगवान् ने संसार के उपादान कारण कर्म को हूँट निकाला और उसके स्वरूप को जानकर पापकर्म से विलग हो गए।^{१५} आचाराङ्ग नियुक्ति में कहा है कि 'संसारस्स उ मूलं कम्मं तस्सवि हुंति य कसाया' संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है।^{१६} कर्म से ही समस्त उपाधियां (शरीर, आकृति, वर्ण, नाम, रूप, सुख-दुःख का अनुभव एवं जन्म-मरण आदि) उत्पन्न होती हैं।^{१७}

संसारी या बद्ध जीव इन सभी उपाधियों से जकड़ा है, जबकि कर्म-रहित आत्मा का न तो कोई व्यवहार होता है और न कोई कर्म जनित उपाधियां ही रहती हैं।^{१८} इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा के बन्धन का एकमात्र कारण कर्म ही है। जब तक कर्म का यह प्रवाह रहेगा तब तक आत्मा बन्धन (दुःख) से मुक्त नहीं हो सकती, निरुपाधिकदशा को प्राप्त नहीं हो सकती। आचाराङ्ग कर्म को ही दुःखों का साक्षात् कारण स्वीकार करते हुए कहता है कि 'मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरोरगं' अर्थात् मुनि मौन (संयम) स्वीकार कर कर्म-शरीर का नाश कर डाले।^{१९} यह कर्म-शरीर ही दुःख का मूल है। यह स्थूल (भौतिक) शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता और स्थूल शरीर की प्राप्ति में कारणभूत भी होता है। शरीर को जब तक क्षीण नहीं किया जाता तब तक मात्र इस औदारिक (भौतिक) शरीर को क्षीण करने से कोई लाभ नहीं है। क्योंकि कर्म-शरीर के आधार पर ही जीव विभिन्न योनियों में नये-नये भौतिक शरीर धारण करता है और इस प्रकार संसार में भटकता रहता है। उसके नष्ट हो जाने पर जीव का संसार-परिभ्रमण अपने आप समाप्त हो जाता है, क्योंकि जड़ काट देने पर वृक्ष अपने आप सूख जाता है। इसीलिए आचाराङ्ग में कर्म-शरीर को धुन डालने पर इतना जोर दिया गया है। वह कहता है कि 'कम्मं च पडिलेहा'^{१००}, अर्थात् कर्म का प्रतिलेखन करना चाहिए। कर्म के प्रतिलेखन का अर्थ है—कर्म की समीक्षा, अथवा कर्म के स्वरूप को जानना। कर्म के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानकर बन्धन में डालने वाले हेतुओं से बचना ही आचाराङ्ग की नैतिक शिक्षा का सार है।

कर्म का स्वरूप :

सामान्यतया 'कर्म' शब्द क्रिया या कार्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पुराणों में 'कर्म' व्रत-नियम आदि धार्मिक अनुष्ठानों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मीमांसकों के अनुसार यज्ञादि क्रियाओं के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। आध्यात्मिक क्षेत्र में 'कर्म' का तात्पर्य उस क्रिया से है, जो आत्मा को परतंत्र बनाती है। आचार्य देवेन्द्र सूरि ने कर्म की परिभाषा में कहा है 'कोरइ जिएण हेउहि जेणं तो भण्णए कम्मं'—मिथ्यात्व, कषायादि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।^{१०१} कर्म का यह लक्षण द्रव्य कर्म और भावकर्म दोनों पर घटित होता है। जीव से सम्बद्ध कार्मण-वर्गणा के पुद्गल द्रव्यकर्म और राग-द्वेषात्मक वैभाविक भावों या कर्म के हेतुओं को भावकर्म कहते हैं।

जैन धर्म के अनुसार कर्म का आत्मा के साथ अनादिकालीन संबंध है। प्रतिसमय यह जीव पुराने कर्मों को क्षीण करता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन (बन्ध) करता रहता है। सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि किन कारणों से कर्म-बन्ध होता है ?

आस्रव :

आचाराङ्ग में आस्रव को कर्म-बन्ध का कारण बतलाया गया है। उसमें 'आस्रव' और 'परिस्सव' इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। आस्रव बन्धन का हेतु है और 'परिस्सव' मुक्ति का।

आस्रव का तात्पर्य है—'आसमन्तात् स्रवति कर्म अनेनेति आस्रवः' जिसके द्वारा चारों ओर से कर्म आते हैं उसे आस्रव कहते हैं अथवा 'आसूयते—उपदीयते कर्म अनेनेति आस्रवः' अर्थात् जिसके द्वारा कर्म ग्रहण किये जाते हैं वह आस्रव है। आचाराङ्ग के टीकाकार ने 'आस्रव' शब्द की व्याख्या में कहा है 'आस्रवत्यष्ट प्रकारं कर्म यैरारम्भैस्ते अर्थात् जिन (मिथ्यात्वादि) आरम्भों या स्रोतों के द्वारा आठ प्रकार के कर्म आते हैं अर्थात् आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाते हैं उन स्रोतों को 'आस्रव' कहते हैं।^{१०२} इस व्याख्या से द्रव्यास्रव और भावा-स्रव दोनों का स्वरूप स्पष्ट होता है।

विभिन्न जैन ग्रन्थों में कर्म-स्रोतों के मुख्य रूप से निम्नांकित कारण बताए गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद।^{१०३} प्रश्नव्याकरणसूत्र^{१०४} के अनुसार हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच आस्रवद्वार हैं। नवतत्त्व^{१०५} दोषिका के अनुसार आस्रव के मुख्य चार भेद हैं—इन्द्रियास्रव, कषायास्रव, अव्रतास्रव और योगास्रव।

३८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आचाराङ्ग में उक्त कर्म-स्रोतों की चर्चा यत्र-तत्र बिखरे रूप में मिलती है। उसमें कर्म-बन्ध के कारणों की सुव्यवस्थित विवेचना नहीं है। उसमें कहीं अतिपातस्रोत (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह) को^{१०९}, कहीं त्रियोगरूपस्रोत (मन-वचन-और काया की प्रवृत्ति) को^{१०९}, कहीं 'रूवसि वा छणसिवा' कहकर हिंसा, झूठ, चोरी आदि को तथा चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय आदि पांचों इन्द्रियों को^{१०८}, कहीं मात्र हिंसा को^{१०९}, कहीं अज्ञान और प्रमाद को^{११०}, कहीं आशा और स्वच्छन्दता को^{१११}, कहीं केवल राग को^{११२}, कहीं मोह को^{११३}, कहीं लोभ और कहीं कामासक्ति^{११४} या विषयासक्ति को कर्म-स्रोत के रूप में बताया गया है। उक्त सूत्रों से सामान्यतः यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन किसका साक्षात् कारण है और कौन परम्परया कारण है। इन सबके मूल में अज्ञान या राग ही मुख्य कारण प्रतीत होता है। आचाराङ्गकार ने कहीं अलग-अलग आर कहीं इन सबको एक दूसरे के साथ जोड़कर सम्मिलित रूप से कर्मबन्ध का हेतु बतलाया है। उसका कारण यह है कि जहाँ जैसा प्रसंग आया तदनु रूप उन कारणों का वर्णन किया गया है। द्वितीय^{११५} श्रुतस्कन्ध में भी अनेक स्थानों पर कर्मबन्ध के हेतुओं का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचाराङ्ग के अनुसार सम्पूर्ण लोक कर्मस्रोत से परिव्याप्त हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष संसार के कारणभूत भावस्रोतों का सम्यक् रूप से निरीक्षण कर उनसे विरत हो जाता है।^{११६} वास्तव में सभी संसारी जीवों में निरन्तर कर्मास्त्रव हुआ करता है। फिर चाहे वह ईर्यापथिक हों, अथवा साम्परायिक। कषायरहित अवस्था में होने वाला कर्मास्त्रव ईर्यापथिक होता है, वह बन्धन रूप नहीं होता, जबकि कषाय प्रेरित कर्मास्त्रव साम्परायिक कहलाता है जो बन्धन का कारण है।

बन्ध :

कषायभाव से आये हुए कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों में प्रविष्ट हो जाना या आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नोरवत् एकमेक हो जाना ही बन्ध है। जोव अपने वैभाविक भावों से कर्म-परमाणुओं का बन्ध करता रहता है। जैसे चिकने पदार्थ पर रज कण आकर चिपक जाते हैं उसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण कर्म-रज आत्मा पर चिपक जाते हैं अर्थात् आत्मा के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं और यही बन्ध है। जैनधर्म में बन्ध के चार भेद वर्णित हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्ध। यद्यपि इनका विस्तृत विवेचन आचाराङ्ग में

उपलब्ध नहीं है तथापि परवर्ती जैन ग्रन्थों में इनकी सुविस्तृत चर्चा हुई है।

निष्कर्षतः आचाराङ्ग का कर्म-सिद्धान्त यह सिखाता है कि जीव जैसा कर्म करता है उसी के अनुरूप उसे कर्म-फल मिलता है (*As you Sow, so you must reap*) इस मुहावरे में आचारांग के समूचे कर्म-सिद्धान्त का सार निहित है। यही कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति को अपने आचरण के प्रति उत्तरदायी बनाता है, और इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व की अवधारणा को परिपुष्ट बनाता है।

बन्धन से मुक्ति के उपाय :

आचाराङ्ग में न केवल कर्म-बन्ध एवं उनके कारणों का वर्णन है, अपितु उन कर्मों से मुक्त होने के उपाय भी वर्णित हैं। आचाराङ्ग में कहा है कि कुशल पुरुषों ने दुःख एवं दुःख के हेतु से मुक्त होने का मार्ग (दुःख-परिज्ञा) बताया है।^{११७} यद्यपि यह सही है कि आत्मा कर्मों के कारण मलिन बनी हुई है, किन्तु वह साधना से परिशुद्ध हो जाती है। इस सन्दर्भ में आचारांग का कथन है कि जिस प्रकार अग्नि मिट्टी मिश्रित चांदी के मूल को जलाकर उसे शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार सभी आसक्तियों (संगों) से रहित सम्यक् ज्ञान पूर्वक आचरण करने वाला धैर्यवान और सहिष्णु साधक साधना के द्वारा आत्मा पर लगे हुए कर्म-मल को दूरकर उसे निर्मल और परिशुद्ध बना लेता है।^{११८} ज्ञानपूर्वक आचरण करने वाला, निराकांक्षी और मैथुन से सर्वथा निवृत्त मुनि दुःखरूप शय्या अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।^{११९} आचाराङ्ग का कथन है कि जिस प्रकार महासमुद्र को भुजाओं से तैरकर पार कर पाना कठिन है उसी प्रकार संसार सागर को पार करना कठिन है। अतः (ज्ञपरिज्ञा से) संसार के स्वरूप को जानकर (प्रत्याख्यानपरिज्ञा से) उसका परित्याग करे। इस तरह त्याग करने वाला ज्ञानी मुनि कर्मों का क्षयकर्ता कहलाता है।^{१२०}

सामान्यतया जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के रूप में त्रिविध मोक्षमार्ग का विवेचन है। यद्यपि उत्तराध्ययन सूत्र में एवं आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के रूप में चतुर्विध मोक्षमार्ग का विवेचन भी उपलब्ध होता है। इन सबसे भिन्न आचाराङ्ग में एक अन्य प्रकार से भी मोक्ष मार्ग का विवेचन है। उसमें कहा गया है—‘निक्खित्त दण्डाणं समादियाणं पण्णाणमाणं इह मुत्तिमग्गे’ अर्थात् हिंसा से विरति (अहिंसा), प्रज्ञा और समाधि

४० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

यह मोक्ष मार्ग है। आचाराङ्ग का यह त्रिविध मोक्षमार्ग—बौद्धधर्म के शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में स्वीकृत त्रिविध निर्वाण मार्ग से निकटता रखता है। वैसे आचाराङ्ग में एकत्र रूप से तो नहीं किन्तु पृथक्-पृथक् रूप से सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का भी उल्लेख उपलब्ध है।

आचाराङ्ग में कहीं-कहीं इन तीनों की साधना के साथ तप को भी मोक्ष-साधना के रूप में चौथा साधन स्वीकार किया गया है, जो कि चारित्र्य का ही एक भेद है। इस प्रकार आचाराङ्ग के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की समन्वित साधना से आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है।

बन्धन से मुक्ति की प्रक्रिया :

बन्धन से मुक्ति के लिए चार तत्त्वों का परिज्ञान होना आवश्यक है—(१) बन्धन, (२) बन्धन का कारण, (३) बन्धन से मुक्ति तथा, (४) मुक्ति के उपाय। आसन्न बन्धन का कारण है तो संवर नवीन कर्मों के आगमन को रोकने का और तप पुराने कर्मों की निर्जरा का उपाय है। साधक जब तक बन्धन और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को तथा मोक्ष के मार्ग को नहीं जान लेता तब तक वह कर्मों का क्षय अर्थात् मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इस संदर्भ में आचाराङ्ग का कथन है— 'जहा य बद्धं इह माणवेहिं, जहाय तेसितु विमोक्ख आहिए अहा तथा बन्ध विमोक्ख जे विउ, से हु मुणो अन्तकड़े त्ति वुच्चइ'। (आचाराङ्ग— २-१६)

जिस प्रकार इस संसार में जीवों ने कर्म का बन्धन किया है, उसी प्रकार वे उन बद्ध कर्मों से मुक्त भी हो सकते हैं। जो मुनि बन्ध और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानता है वह निश्चय ही कर्मों का क्षय (अन्त) करने वाला कहा जाता है।

संवर :

कर्मों से मुक्त होने के लिए संवर को साधना आवश्यक है। संवर के अर्थ को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं—'संवृणोति कर्म अनेनेति संवरः' अर्थात् जिसके द्वारा आने वाले नए कर्म रुक जायें उसे संवर कहते हैं। आचाराङ्ग का कथन है कि विषय-कषायों (स्रोतों) का निरोध करने वाला साधक कर्म-रहित होकर ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है।^{१२१} कर्म अपना फल देते हैं यह देखकर ज्ञानी पुरुष उस कर्मास्रव

का निरोध कर देता है।^{१२२} यह भी कहा गया है कि हिंसादि आस्रव द्वारों से निवृत्त (विरत) मुनि के लिए जन्ममरणादि रूप दुःख मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।^{१२३} इस प्रकार साधक संवर की साधना से कर्मों के आगमन को रोककर निर्जरा की साधना से पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण कर देता है।

निर्जरा :

निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, क्षीण कर देना। दूसरे शब्दों में पूर्व संचित कर्मों को आत्मा से पृथक् कर देना ही निर्जरा है आचाराङ्ग में कहा गया है कि कर्मों का प्रकम्पित करने वाला (विधृत कल्पी) महर्षि पूर्वोपार्जित कर्मों को सुखाकर क्षय कर डालता है।^{१२४} इसके अतिरिक्त तप को भी कर्म-निर्जरा का कारण मानकर कहा गया है कि तप-संयम के द्वारा रागादि बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर साधक निष्कर्म-दर्शी अर्थात् कर्मरहित हो जाता है और वह कर्म रहित आत्मा (निष्कर्मदर्शी) मृत्यु से मुक्त हो जाता है।^{१२५} इस प्रकार नए कर्मों के निरोध और पुराने कर्मों के क्षय से साधक चैतन्य स्व-स्वरूप को उपलब्ध हो जाता है जो दुःखातीत अवस्था है।

मोक्ष :

मुक्ति के सम्बन्ध में आचाराङ्ग में 'निर्वाण', 'परिनिर्वाण', 'मोक्ष' 'प्रमोक्ष', अथवा 'मुक्ति' आदि से सम्बन्धित यत्र-तत्र कुछ सूत्र तो उपलब्ध होते हैं किन्तु मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसा सुव्यवस्थित वर्णन उसमें उपलब्ध नहीं है जैसा कि उत्तरकालीन जैन आगमों एवं ग्रन्थों में मिलता है। आचाराङ्ग में 'मुक्ति' के स्थान के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है किन्तु मुक्तात्मा के स्वरूप का मार्मिक विवेचन लोकसार नामक अध्ययन के छठे उद्देशक में है जिसकी विस्तृत चर्चा हम मुक्तात्मा के स्वरूप के प्रसंग में कर चुके हैं।

आचाराङ्ग के अनुसार व्यक्ति का चरम लक्ष्य मुक्ति है। उसने सुव्यवस्थित रूप से मोक्षमार्ग (मुन्तिमर्ग) का प्रतिपादन किया है और व्यक्ति को यह प्रेरणा दी है कि वह 'मोक्ष' प्राप्त करे। आचाराङ्ग में मुक्ति का तात्पर्य कर्म, दुःख एवं बन्धन से मुक्ति है। संसार के जन्म-मरण रूप दुःखों से छुटकारा पा लेना ही मुक्ति है। आचाराङ्ग जन्म-मरण के चक्राकार (वृत्त) मार्ग के अतिक्रमण पर बल देता है।^{१२६} उसके अनुसार मुक्ति का आशय है—कर्म मुक्ति, राग-द्वेष से मुक्ति, संसार के आवर्त और तज्जन्य दुःखों से मुक्ति।

४२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

सारांश में समस्त कर्मजन्य औपाधिक भावों से मुक्ति एवं स्वस्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त करना ही नैतिक जीवन का चरम लक्ष्य और परम पुरुषार्थ है।

सन्दर्भ-सूची

अध्याय २

१. संगमलाल पाण्डेय, नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, सन् १९६९, पृ० ४२.
२. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय **Kant's Selection, Scribner's Series, p. 268.**
३. **Urban : Fundamental of Ethics p. 357.** ४. **Ibid p.357.**
५. ब्रह्मसूत्र, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय काशी, संवत् १९९१.
६. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि जी, अभिधान राजेन्द्र कोश खण्ड २, श्रीश्वेताम्बर समस्त संघ, जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम, सन् १९१३, पृ० १८८.
७. आचाराङ्ग, १/५/५. ८. पाणे पुण नियमं आया, भगवतीसूत्र १२/१०.
९. श्री शयंभवसूरि, दशवैकालिक सूत्र, अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०), द्वितीय आवृत्ति, सन् १९६४, ९/३/११.
१०. श्रीमदकुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला) अगास, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९७४, ६-७.
११. अमृतचन्द्रसूरी, समयसार कलश ६२.
१२. बृहदारण्यकोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद् प्रथम खण्ड), वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८०, ४/५/६.
१३. आचाराङ्ग, १/१/११. १४. आचाराङ्ग, १/३/२.
१५. वही, १/१/५/५. १६. वही, १/१/१.
१७. संपा० मुनिश्री जम्बूविजय जी, सूत्रकृतांग, मोतीलाल बनारसीदास, इण्डो-लाजिक ट्रस्ट, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७८, १/१/१३-२१.
१८. उत्तराध्ययनसूत्र, भोगीलाल बुलाखीदास दलाल, श्री जैन प्राच्य विद्याभवन, एलीसब्रिज, अहमदाबाद, सन् १९५४, २०/३७.
१९. समयसार, श्री जिनेन्द्रवर्णी ग्रन्थमाला, काशी, ८१-८४.
२०. श्रीमदकुन्दकुन्दाचार्य, नियमसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१६, १८.
२१. श्रीमदकुन्दकुन्दाचार्य, पंचास्तिकाय-द्रव्याधिकार, श्रीपरमश्रुतप्रभावक

नैतिकता के तत्त्वमीमांसीय आधार : ४३

- मण्डल (श्रीमद्रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला), अगास, तृतीय आवृत्ति, वि० सं० २०२५, गा० ५७.
२२. श्रीमद्नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, परमश्रुतप्रभावकमण्डल (श्रीमद्रायचन्द्र जैन-शास्त्रमाला) अगास, तृतीय आवृत्ति, वि० सं० २०२२, २/८-९.
२३. वादिदेव सूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक, अनु० पं शोभाचन्द्र भारिल्ल न्यायतीर्थ, आत्म जागृति कार्यालय, जैनगुरुकुल, शिक्षणसंघ, व्यावर, प्रथम आवृत्ति, सन् १९४२, ७/५६.
२४. आचारांग, १/५/६/५ पर अ० शी० टी० मुम्बापुरीय श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति सूरत १९३५ पत्रांक, २०८-२०९.
२५. नियमसार, १७६-१७७.
२६. टीकाकार—हरिकृष्णदास गोयन्दका, योगदर्शन, गीताप्रसे, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं० २०११, १/२४.
२७. आचाराङ्ग, १/५/६.
२८. संपा० युवाचार्य महाप्रज्ञ, ठाणांग, जैन विश्वभारती लाडनू, ५/३/५३०.
२९. समयसार, ४९/५५. ३०. नियमसार, १७८-१७९.
३१. श्रीमद् योगिन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, श्रीपरमश्रुतप्रभावक मण्डल, (श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला) अगास, तृतीय संस्करण, सन् १९७३, ८६-९३.
३२. सं० महाबाबचन्द्र खारेड विशारद, आनन्दधनग्रन्थावली, श्रीविजयचन्द्र गरगड, जौहरी बाजार, जयपुर (राज०) प्रथमावृत्ति, वी० सं० २०३१, पद ११.
३३. केनोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८०, १/३.
३४. कठोपनिषद्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, द्वितीय संस्करण, वि० सं० २०२८, १/३/१५.
३५. मुण्डकोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड, पूना, १/६/१.
३६. माण्डूक्योपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्), सूत्र-६.
३७. बृहदारण्यकोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) ४/५/१५.
३८. सं० पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री, ब्रह्मविद्योपनिषद् (उपनिषद् संग्रह), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७०, ८१-९१.
३९. श्वेताश्वतरोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्), वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८०, ५/१०.
४०. पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री, सुबालोपनिषद् (उपनिषद् संग्रह १०८), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७०, पृ० २१०.

४४ : आचाराङ्ग का नोतिशास्त्रीय अध्ययन

४१. भगवद्गीता २/२३. ४२. आचाराङ्ग १/५/६.
 ४३. तैत्तिरीयोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना,
 ब्रह्मानन्द वल्ली २/९/१.
 ४४. आनन्दधन ग्रन्थावली-पद ६ . ४५. आचाराङ्ग १/३/३.
 ४६. वही, १/३/२. ४७. गीता, २/२३.
 ४८. स्थानाग, ५/३/५३०. ४९. भगवती, १९/६/३८७.
 ५०. छान्दोग्योपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड, वैदिक संशोधन
 मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८०, ६/११/३.
 ५१. बृहदारण्यकोपनिषद्-६. ५२. आचाराङ्ग, १/११.
 ५३. वही, १/२/३. ५४. वही, १/२/६.
 ५५. आचाराङ्ग, १/२/३. ५६. भगवतीसूत्र, २/५.
 ५७. आचाराङ्ग, १/३/१, १/५/१ तुलनीय-ईशावास्योपनिषद् ३.
 ५८. आचाराङ्ग, १/३/२.
 ५९. ऋग्वेद, हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, रोहतक, सं० २०४१,
 १०/५९/६७.
 ६०. यजुर्वेद, अजमेर वैदिक यन्त्रालय, वि० सं० १९५६, ४/१५, १९/४७-१९.
 ६१. वसन्त श्रीपादसातवलेकर अथर्ववेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, भारत
 मुद्रणालय (पारङ्गी), जि० सूरत, तृतीय आवृत्ति, सन् १९५७, ७/६७/१,
 ५/१/२.
 ६२. कठोपनिषद्-पंचमवल्ली, २/५/७, छान्दोग्योपनिषद्, ५/१/०/७.
 ६३. सं० सुरेन्द्रलाल गोस्वामी, न्यायसूत्रविवरणम्, ले० राधामोहनगोस्वामी,
 मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, १९०३, ४/१/१०, ३/२/६४.
 ६४. योगदर्शन—२/१२-१३.
 ६५. गीता—१/४/१८, १/६/२०, २/१२-१३, ४/५, ६, ८, ९, १२, १३,
 १५, १७.
 ६६. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्मदर्शन—बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् सम्मेलन-भवन,
 पटना-३, प्रथम संस्करण, सन् १९५६, पृ० २८४ तथा सम्पादक-भिक्षु
 जगदीश काश्यप, मज्झिमनिकाय (मज्झिमय पण्णा संक, २), पालि प्रकाशन
 मण्डल, बिहार राज्य, सन् १९५८, ३/१३.
 ६७. विवेचनकर्ता—पं० सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, प्रकाशक
 श्री मोहनलाल दीपचन्द चौकसी, श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक
 ट्रस्ट बोर्ड बम्बई-३, प्रथम संस्करण, सन् १९९६, ५/२९.
 ६८. आचाराङ्ग, १/१/१. ६९. गीता, २.१३, २२, २३ एवं ८/८६.

७०. पूज्यपाद, समाधितन्त्र, सर्वश्री जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, प्रथम संस्करण, सन् १९३९, ७६, ७७ ।
७१. अथर्ववेद, १०।८।२३.
७२. उद्धृत—मुनि नथमलजी, जैनदर्शन मनन और मीमांसा, प्रका० कमलेश चतुर्वेदी, आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राज०) संस्करण १९७३, पृ० २६९.
७३. डा० दीवानचन्द पश्चिमी-दर्शन, पृ० २१९ ।
७४. आचाराङ्ग, १।३।२. ७५. आचाराङ्ग, १।२।३-७.
७६. वही, १।२।५. ७७. वही, १।५।२.
७८. आचाराङ्ग, १।५।६ पर शी० टी० पत्रांक २०५. ७९. आचाराङ्ग १।३।३.
८०. उत्तराध्ययन, २०।३६, ३७.
८१. विवेचक—मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया, आनन्दधन चौबीसी, सन्त आनन्दधन, प्रका० श्री महावीर जैन विद्यालय, ओगस्ट क्रान्ति मार्ग, मुम्बई-२६, प्रथम आवृत्ति, सं० १९७०, ८२. आचाराङ्ग, १।५।२.
८३. वही, १।५।६. ८४. वही, १।५।३. ८५. वही, १।५।३.
८६. आचाराङ्ग, १।५।२ पर शीलांक टीका पत्रां० १९०.
८७. उत्तराध्ययन, ९।३४-३५.
८८. संपा० श्रीसत्कारिशर्मा वङ्गीय, धम्मपद, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, द्वितीय संस्करण, सन् १९७७. ८।४. ८९. वही, १२।४, १२।९.
९०. गीता, ६।५-६.
९१. महर्षि वेदव्यास, महाभारत, (शान्तिपर्व), गीताप्रेस, गोरखपुर, ३०।२।७-३०. ९२. उत्तराध्ययन, १९।१५ ९३. आचाराङ्ग, १।२।३.
९४. वही, १।३।२. ९५. वही, १।९।१. ९६. आचाराङ्गनियुक्ति, १८९.
९७. आचाराङ्ग, १।३।१. ९८. वही, १।३।१, १।३।४.
९९. वही, १।२।६, १।४।२. १००. वही, १।३।१.
१०१. श्रीमद् देवेन्द्रसूरि, अनुवादक—पं० सुखलाल संघवी, कर्मग्रन्थ-प्रथम भाग (हिन्दी अनुवाद सहित), श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९३९, गा० १.
१०२. आचाराङ्ग १/४/२ पर शीला० टी०, पत्रांक १६४.
१०३. (क) तत्त्वार्थसूत्र ८।१.
 (ख) समयसार, १६४.
 (ग) श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मटसार श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, चतुर्थ आवृत्ति सन् १९७२, कर्मकाण्ड ८६.
 (घ) बृहद्ब्रह्मसंग्रह २९-३०. (ङ) समवायांग-पंचमसमवाय १८.

४६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

१०४. श्री ज्ञानविमलसूरि, प्रश्नव्याकरणसूत्र (वृत्तिसहित) प्रथम-द्वितीयखण्ड, श्री मुक्तिविमलजैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद, वि० सं० १८९५, आस्रवद्वार.
१०५. ले० श्री धीरजलाल टोकरशी, नवतत्त्वदीपिका, जैन साहित्य प्रकाशन मन्दिर, चींच बन्दर, बम्बई-९, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६६, गा० २१.
१०६. आचाराङ्ग, १।९।१. १०७ वही, १।३।४.
१०८. आचाराङ्ग, १।५।३, १।२।६, १।४।४ एवं आचाराङ्ग १।५।३ पर शीलां० टी० पत्र० १९१. १०९. वही, १।३।१. ११०. वही, १।५।१
१११. वही, १।२।४. ११२. वही, १।३।२. ११३. वही, १।५।१.
११४. वही, १।३।२.
- ११५ व्याख्याकार—श्री आत्माराम जी महाराज, आचाराङ्ग-सूत्रम् 'आचार्यश्री आत्मारामजी, जैनागम प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६५' २।१।२।१३, २।१।५।२६, २।१।६।३५, २।१।७।३७, २।१।९।५०, २।१।११।६१, २।२।१।६६-६७, २।२।१।७१, २।२।२।७३-७४, २।२।३।८८-१०६, २।३।१।११५-११७, २।३।३।१२७, २।५।१।१४६, २।६।१।१५२ एवं २।८।१६३.
११६. आचाराङ्ग, १।५।६. ११७. आचाराङ्ग, १।२।६.
११८. आचाराङ्ग २।१।६ ११९. वही, २।१।६ १२०. वही, २।१।६
१२१. आचाराङ्ग, १।५।६ १२२. आचाराङ्ग, १।४।४
१२३. आचाराङ्ग, १।५।२. १२४. वही, १।३।३, १।३।२.
१२५. आचाराङ्ग, १।३।२. पर शीलां० टी० पत्रांक १४५६.
१२६. आचाराङ्ग, १।५।३.



नैतिकता की मौलिक समस्याएँ और आचाराङ्ग

(ब) सापेक्ष और निरपेक्ष नैतिकता :

आचार-दर्शन के क्षेत्र में सदा से नीति के सापेक्ष और निरपेक्ष स्वरूप को लेकर पर्याप्त चिन्तन होता रहा है। सापेक्षवादी आचार-दर्शन मानता है कि आचार के नियमोपनियम देश, काल, परिस्थिति और व्यक्ति के आधार पर बदलते रहते हैं। वे अपवाद-युक्त भी होते हैं। आधुनिक युग में समाज वैज्ञानिक सापेक्षवाद, मनोवैज्ञानिक सापेक्षवाद, अर्थवैज्ञानिक सापेक्षवाद आदि विचारधाराएँ सापेक्षनैतिकता को स्वीकार करती हैं। उनके अनुसार नैतिक नियम सार्वकालिक और सार्वलौकिक नहीं होते हैं। एक ही प्रकार का आचरण एक परिस्थिति में उचित हो सकता है, वही आचरण परिस्थिति बदलने पर अनुचित भी हो सकता है। इसके विपरीत निरपेक्षवादी विचारधारा के अनुसार नैतिक आचरण निरपवाद होता है। देश, काल, परिस्थिति और व्यक्ति के बदलने पर भी मूल्यवत्ता अपरिवर्तनीय ही रहती है। जो आचरण शुभ है, वह सदैव ही शुभ होगा और जो अशुभ है, वह सदैव अशुभ ही रहेगा, किसी भी परिस्थिति में शुभ, अशुभ नहीं हो सकता और अशुभ, शुभ नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में विचार करने पर आचाराङ्ग में नीति के निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों पक्ष प्राप्त होते हैं। यहाँ पर सर्वप्रथम सापेक्ष नैतिकता के सन्दर्भ में विचार करना समुचित होगा।

नीति की सापेक्षता का प्रश्न और आचाराङ्ग :

अनुभव प्रायः यह है कि एक ही कार्य कभी कर्तव्य रूप में विहित होता है और कभी अविहित होता है। एक ही आचरण एक परिस्थिति में सत् होता है और दूसरी परिस्थिति में असत्। एक व्यक्ति के लिए जो कर्म शुभ होता है, वही दूसरे के लिए अशुभ भी हो सकता है। आचाराङ्ग में कहा है कि जो आस्रव अर्थात् कर्म-बन्धन के स्थान हैं वे हो परिस्रव अर्थात् कर्म-निर्जरा के स्थान बन जाते हैं।^१ इसका तात्पर्य यह है कि किसी कार्य की नैतिक मूल्यवत्ता उन परिस्थितियों पर निर्भर करती है, जिनमें वह कर्म किया गया है। जो कर्म आस्रव अर्थात् बन्धन के निमित्त

४८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

हैं वे ही परिस्थिति के बदलने पर परिस्रव अर्थात् मोक्ष के हेतु बन सकते हैं। इसी तरह जो कर्म मुक्ति के हेतु हैं वे ही अनेक बार बन्धन के हेतु बन जाते हैं।

आचाराङ्ग टीका में शीलाकाचार्य ने साधक की भाव-धारा को आस्रव-संवर का आधार बताते हुए यही कहा है कि सामान्य व्यक्ति के लिए जो आस्रव (कर्म-बन्धन) के स्थान हैं ज्ञानी पुरुष के लिए वे ही निर्जरा के हेतु बन जाते हैं। स्त्री, वस्त्र, अलंकार, शय्या आदि विषय-सुख के कारणभूत पदार्थ कर्म-बन्ध के हेतु होने से आस्रव रूप माने गये हैं। ये ही पदार्थ विषय से पराङ्मुख या विरागी साधक के लिए कर्म निर्जरा के हेतु बन जाते हैं। इसी तरह तप, जप ध्यान, दशविध समाचारी आदि जो धर्मानुष्ठान कर्म-निर्जरा के कारण हैं वे ही अज्ञानी व्यक्ति के अहंकार आदि अशुभ अध्यवसाय या मनोभावों के कारण आस्रव रूप हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में जो आचार-नियम (संयम-स्थान) परिस्रव के हेतु होते हैं, असम्बुद्ध व्यक्ति के लिए वे आस्रव के हेतु बन जाते हैं और जो कर्म बन्धन के हेतु हैं विरागी के लिए वे ही परिस्रव के हेतु बन जाते हैं। आचाराङ्ग टीका में यह भी उल्लेख है कि जितने संसार के हेतु हैं सत्यनिष्ठ के लिए वे सब निर्वाण-सुख के हेतु बन जाते हैं।^२ अध्यात्मसार^३ और ओघनिर्युक्ति^४ में भी यही बात अन्य शब्दों में कही गई है। सामान्यतया लौकिक अनुभव में भी यह देखा जाता है कि तीर्थ-यात्रा, देव-दर्शन, देव-पूजन, भोजन, दान आदि जैसी सामान्य क्रियाएँ एक के लिए धर्मरूप होती हैं तो दूसरे के लिए पापरूप बन जाती हैं।

निष्कर्ष यह कि किसी वस्तु, घटना, परिणाम या धर्मानुष्ठान की शुभाशुभता के सन्दर्भ में ऐकान्तिक दृष्टिकोण से निर्णय करना उचित नहीं है। कर्ता के अध्यवसायों या मनोभावों की भिन्नता के कारण एक ही स्थिति, क्रिया या घटना किसी के लिए कर्म-बन्ध (आस्रव) का कारण बन जाती है तो किसी के लिए कर्म-निर्जरा (परिस्रव) का। आचार्य अमितगति ने भी योगसार में स्वीकार किया है कि इन्द्रिय विषय का सेवन करने पर जहाँ अज्ञानी कर्म-बन्ध करता है, वहाँ ज्ञानी कर्म-बन्धन से छूटता है—कर्म की निर्जरा करता है।^५ वस्तुतः जैनदर्शन में बाह्य विधि-विधानों का उतना आग्रह नहीं है जितना कि आन्तरिक शुद्धि या भावानात्मक परिणति का है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं

है कि लोक व्यवहार में वस्तु, घटना या स्थिति के महत्त्व की उपेक्षा की जाय।

जैनाचार्यों ने मनोभावों के साथ ही देश, काल और परिस्थिति को भी कर्मों के नैतिक प्रभाव का आधार बताया है। आचरण के शुभा-शुभत्व के सन्दर्भ में नैश्चयिक दृष्टि से मनःस्थिति या भावों का जितना महत्त्व है, व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही महत्त्व देश, काल और परिस्थिति का भी है। आचार्य हरिभद्र सूरि का कथन है कि मनोभावों की विशुद्धिपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र और काल के अनुकूल आचरण करना चाहिए। जिससे स्व-पर कल्याण रूप फल सम्पन्न हो वही व्यवहार आचारणीय है।^९ आचाराङ्ग टीका में भी कहा है कि जिस देश काल में जो वस्तु धर्म होती है वही परिस्थिति विशेष में या तद्भिन्न देश काल में अधर्म भी हो सकती है।^{१०}

उत्तराध्ययन चूर्ण में कहा है कि तीर्थंकर देशकालानुरूप धर्मोपदेश करते हैं।^{११} अष्टकप्रकरण में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि देश, काल और रोगादि के कारण कभी-कभी ऐसी विशिष्ट परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य बन जाने से त्याज्य हो जाता है^{१२} अर्थात् जो विधान है वह निषेध बन जाता है और जो निषेध है वह विधान बन जाता है। तात्पर्य यह कि तीर्थंकरों ने किसी कार्य के शुभाशुभ के सम्बन्ध में एकान्तवाद पकड़कर चलने के लिए नहीं कहा है। प्रशमरति प्रकरण में भी यही बात कही गई है कि देश काल, व्यक्ति और परिस्थिति के आधार पर ग्राह्य वस्तु भी अग्राह्य हो जाती है और परिस्थिति बदलने पर अग्राह्य वस्तु भी ग्राह्य हो जाती है।^{१३}

न केवल आचाराङ्ग अपितु अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधारा में भी यह धारणा स्वीकृत रही है कि नैतिक नियम देशकाल और व्यक्ति सापेक्ष हैं।^{१४}

महाभारत में अनेक स्थानों पर नैतिक नियमों की सापेक्षता का प्रतिपादन हुआ है। गीता^{१५} में भी देशकालगत सापेक्षता को मान्यता दी गई है। गीतारहस्य^{१६} के कर्म-जिज्ञासा नामक प्रकरण में इससे सम्बन्धित काफी चर्चाएँ हैं। बुद्ध^{१७} का दृष्टिकोण भी सापेक्ष नैतिकता का समर्थक रहा है। हाब्स^{१८}, मिल^{१९} जानडीवी^{२०}, ब्रेडले^{२१}, स्पेन्सर आदि पश्चिमी विचारक भी आचरण के नैतिक नियमों को सापेक्ष मानते हैं।

निरपेक्ष नैतिकता और आचाराङ्ग :

सापेक्ष नैतिक नियम जहाँ देश, काल आदि की दृष्टि से परिवर्तन शील होते हैं, वहाँ निरपेक्ष नैतिक नियम अपरिवर्तनीय माने जाते हैं। जीवन के जो शाश्वत मूल्य हैं, उनमें परिवर्तन कदापि संभव नहीं, ऐसा कुछ विचारक मानते हैं और इस विचारधारा का अपना महत्त्व है। जैनधर्म में भी पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक दृष्टिकोणों के आधार पर तत्त्वों का विवेचन एवं पदार्थों का विश्लेषण हुआ है। जैन-दर्शन में इसके लिए दो शब्द सर्वत्र प्रचलित हैं—व्यवहार और निश्चय। निश्चय दृष्टि को समझे बिना व्यवहार दृष्टि को अपनाने में भ्रांति हो सकती है। वास्तव में सापेक्ष और निरपेक्ष या व्यवहार और निश्चय, दोनों दृष्टिकोण परस्पर पूरक हैं।

आचाराङ्ग में भी निरपेक्ष नैतिकता दृष्टिगोचर होती है। इसमें कहा है कि अतीत, अनागत और वर्तमान के सभी तीर्थंकरों का धर्म-प्ररूपण एक ही होता है कि किसी भी प्राणी-जीव या सत्त्व का वध नहीं करना चाहिए, बलात् उन्हें न शासित करना चाहिए और न उन्हें परिताप देना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।^{१९} आत्मज्ञ अर्हतों ने सबके लिये इस अहिंसा धर्म का प्रतिपादन किया है। यह सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक निरपेक्ष नीति है।

यदि नैतिकता में निरपेक्षता और अपरिवर्तन शीलता का तत्त्व नहीं है तो फिर सर्वोच्च शुभ या नैतिक आदर्श का कोई औचित्य नहीं रह जायेगा।

इससे यह स्पष्ट है कि नैतिकता के दो पहलू हैं—एक परिवर्तनीय और दूसरा अपरिवर्तनीय। अहिंसा शाश्वत और अपरिवर्तनीय धर्म है। किसी भी युग में दूसरों को पीड़ा पहुँचाना, मारना, सताना या उनका शोषण करना धर्म नहीं हो सकता। अहिंसा आत्म धर्म है और आन्तरिक रूप में सदैव निरपेक्ष धर्म है। वह त्रैकालिक सत्य धर्म है, जैसे-वृक्ष प्रतिवर्ष पतझड़ के मौसम में पत्र-पुष्पादि की दृष्टि से बाह्य रूप में बदलता रहता है किन्तु मूल रूप में वह स्थायी रहता है, वैसे ही, सापेक्ष रूप में लोक धर्म बदलता रहता है, परन्तु मौलिक रूप में वह शाश्वत रहता है। जिस प्रकार देह के बदलने पर भी आत्मा नहीं बदलती उसी प्रकार अहिंसा भी नित्य एवं अपरिवर्तनीय होने के नाते धर्म की आत्मा मानी गई है। उसके मौलिक या निरपेक्ष रूप में किसी भी

प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिक डीवी का विचार आचाराङ्ग के बहुत निकट है। उसका कथन है कि नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील और सापेक्षिक है परन्तु नैतिकता की साध्यरूपी आत्मा अपरिवर्तनशील और निरपेक्ष है।^{२०} नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थायी रहता है, किन्तु नैतिकता का विशेष स्वरूप समयानुरूप परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है।

काण्ट का कथन है कि जो कर्म शुभ है वह सदैव शुभ रहेगा और जो अशुभ है वह सदैव अशुभ रहेगा। देशकाल के अनुसार नैतिक आचरण का मूल्य परिवर्तित नहीं होता।

नैतिक आदर्श निरपेक्ष होता है, जबकि नैतिक जीवन सापेक्ष। नैतिक आदर्श की प्राप्ति के साधन भी सापेक्ष होते हैं। अतः आदर्श-मूलक नैतिकता को निरपेक्ष और साधनामूलक नैतिकता को सापेक्ष कह सकते हैं। साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम सापेक्ष और परिवर्तनीय ही होते हैं। हाँ, अनेक परिस्थितियों में मौलिक या सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता।^{२१}

नैतिक आचरण के आन्तरिक और बाह्य दो पक्ष हैं। उसका संकल्पात्मक पक्ष आन्तरिक होता है। वह सदैव परिस्थिति-निरपेक्ष होता है। जबकि उसका बाह्य पक्ष आचरणात्मक होता है। वह परिस्थिति-सापेक्ष होता है।

हिंसा का संकल्प सदैव अनैतिक होता है। किसी परिस्थिति में वह धर्म या नैतिक नहीं हो सकता, किन्तु हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक और अनाचरणीय ही हो, यह आवश्यक नहीं है।

आचाराङ्ग में निरपेक्ष नैतिकता और सापेक्ष नैतिकता दोनों दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक ओर तो वह 'जे आसवा ते परिस्सवा' कहकर सापेक्ष नैतिकता को स्वीकार करता है और दूसरी ओर वह 'एस धम्मे मुद्धे निच्चे सासए' कहकर निरपेक्ष नैतिकता पर जोर देता है। एक ओर वह कहता है कि अहिंसा सार्वकालिक और सार्वलौकिक शाश्वत धर्म है तो दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि जो आचार बन्धन का हेतु है, वही आचार मुक्ति का हेतु बन जाता है और जो मुक्ति का हेतु है, वही बन्धन का निमित्त बन जाता है। वस्तुतः आचाराङ्ग के अनुसार वृत्यात्मक या संकल्पात्मक नैतिकता निरपेक्ष

५२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

और आचरणात्मक नैतिकता सापेक्ष है। दूसरे शब्दों में व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है और नैश्चयिक नैतिकता निरपेक्ष है।

निष्कर्ष यह है कि निरपेक्षवादी विचारधारा मात्र आदर्श नैतिकता पर जोर देती है और सापेक्षवादी विचारधारा यथार्थ नैतिकता पर। इसके विपरीत आचाराङ्ग एकान्तिक दृष्टिकोण की अपेक्षा, अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचने के लिए आदर्श और यथार्थ दोनों पहलुओं को अनेकांतिक दृष्टि से या समन्वय दृष्टि से प्रस्तुत करता है। निरपेक्षता आदर्श है और सापेक्षता व्यवहार या यथार्थ।

आचाराङ्ग में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग :

सापेक्ष और निरपेक्ष नैतिकता के सन्दर्भ में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की चर्चा कर लेना भी उचित होगा।

जैनागमों में साधना के दो अंग निरूपित हैं—उत्सर्ग और अपवाद। एक के बिना दूसरा अधूरा या अपूर्ण है। नैतिक जीवन के लिए यथा-वसर इन दोनों की साधना आवश्यक है। दोनों के मिलने पर ही अन्तिम ध्येय की सिद्धि सम्भव है।

आचाराङ्ग में सामान्य स्थिति में विधि-निषेध रूप आचरण सम्बन्धी जो सामान्य नियम बताए गए हैं उनका उसी रूप में पालन करना उत्सर्ग मार्ग है और किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में उन्हीं सामान्य नियमों या विधि-निषेधों में कुछ समय के लिए शिथिलता कर देना अपवाद मार्ग है। संक्षेप में सामान्य विधि-निषेध को उत्सर्ग-मार्ग और विशेष विधि-निषेध को अपवाद मार्ग कह सकते हैं। ऐसे ही विचार स्थानांगसूत्र^{२२}, उपदेशपद^{२३}, स्याद्वादमंजरी^{२४} आदि ग्रन्थों में भी व्यक्त हैं।

उत्सर्ग-अपवाद के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ये दोनों मार्ग भी अपने आप में एकान्तिक नहीं हैं। यथा परिस्थिति उत्सर्ग अपवाद हो सकता है और अपवाद उत्सर्ग। निशीथभाष्य एवं चूर्ण के अनुसार जो कार्य समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में निषिद्ध है वही कार्य असमर्थ साधक के लिए अपवाद स्थिति में कर्तव्य रूप हो जाता है^{२५}, और इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। यही बात बृहत्कल्पभाष्य^{२६} और अष्टकप्रकरण^{२७} में भी कही गई है।

महाव्रतों के अपवाद : आचाराङ्ग के संदर्भ में :

आचारांग में स्थूल एवं सूक्ष्म सभी प्रकार की जीव-हिंसा का निषेध

है। श्रमण के लिए यह उत्सर्ग विधान है कि वह जीवन भर त्रिकरण और त्रियोग से किसी भी जीव की हिंसा न करे न करवाए और न करने वालों का अनुमोदन करे।^{२८} क्योंकि सभी को प्राण प्रिय हैं और मृत्यु अप्रिय है।^{२९} भिक्षु हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है, अतः वह किसी भी जीव को कष्ट पहुँचे ऐसा आचरण नहीं करता। इसी बात को ध्यान में रखकर आचाराङ्ग में अनेक स्थानों पर कहा गया है कि वह लता, पेड़ आदि कोई भी हरी वनस्पति मात्र को न छुए। परन्तु उसमें अपवाद-मार्ग का भी विधान मिलता है। आपवादिक स्थिति में मुनि लता, पेड़, तृण, गुच्छ आदि को पकड़कर अपने प्राण बचा सकता है।^{३०} इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भविष्य में होने वाली स्व-पर हिंसा से बचने की दृष्टि से ही वृक्षादि का अबलम्बन लेने का निर्देश दिया गया है। यह अहिंसा का अपवाद है जो मूलतः हिंसा से बचने के लिए ही है।

पूर्ण अहिंसाव्रती मुनि के लिए मन, वचन और काया से कच्चे (सञ्चित) जल का स्पर्श मात्र भी निषिद्ध है। इसी कारण उसके लिए वर्षा में बाहर जाने-आने का निषेध है। कच्चे जल का स्पर्श न किया जाय, यह उत्सर्ग विधान है, किन्तु साथ ही अपवाद मार्ग का विधान भी है। कहा गया है कि विहार करते हुए यदि रास्ते में नदी पड़ जाए और जाने का अन्य कोई मार्ग न हो तो मुनि पूर्ण विवेकपूर्वक पैदल चलकर नदी पार कर सकता है।^{३१} यदि नदी में पानी अधिक है तो वह नोका के द्वारा भी जा सकता है।^{३२} ऐसा करने पर वह प्रायश्चित्त का अधिकारी नहीं माना जाता। आचाराङ्गवृत्ति के अनुसार साधु वर्षा में मल-मूत्र विसर्जन के लिए बाहर आ जा सकता है।^{३३} दश-बैकालिक^{३४} और योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति^{३५} में भी यही बात कही गई है। आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र^{३६} की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखते हैं कि बाल, वृद्ध और रोगी के लिए बरसते हुए पानी में यदि भिक्षा हेतु जाना पड़े तो मुनि विवेकपूर्वक जा सकता है। ऐसी स्थिति में वह जलकायिक जीवों का उतना विराधक नहीं माना जाता है।

आचाराङ्ग में कहा गया है कि भिक्षु औद्देशिक (आधाकर्मादि दोषयुक्त) आहार, वस्त्र-पात्रादि कदापि स्वीकार न करे।^{३७} इसका कारण यह है कि उससे जीव-हिंसा होती है। आचाराङ्ग वृत्तिकार ने प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्यायन के द्वितीय उद्देशक के आधार पर उद्गम, उत्पादन आदि सभी दोषों को टालकर निर्दोष आहार ग्रहण करने की बात कही है। उत्सर्गतः साधु को निर्दोष आहार ही ग्रहण

करना चाहिए।^{३८} परन्तु आचाराङ्ग में एकाध स्थान पर अपवाद मार्ग का उल्लेख भी हुआ है। अपवाद मार्ग परिस्थिति और मनःस्थिति पर आधारित है कि कौन व्यक्ति किस विशेष परिस्थिति में, किस भावना से, कौन-सा कार्य कर रहा है। अतः एकान्त रूप से उसे पाप-बन्ध का कारण नहीं कहा जा सकता। आचाराङ्ग में कहा गया है कि साधु को यदि यह पता चले कि गृहस्थ के घर अतिथि के लिए भोजन तैयार किया गया है तो उसे वहां शीघ्रता से पहुँचकर आहार की याचना नहीं करनी चाहिए। परन्तु विशेष परिस्थिति में यदि किसी रोगी साधु के लिए आवश्यक हो तो आहार की याचना की जा सकती है।^{३९} अतिथि के भोजन कर लेने के पूर्व नहीं जाना—यह उत्सर्ग मार्ग है, किन्तु रोगी के लिए आवश्यकता होने पर अतिथि के भोजन करने के पहले ही भोजन ले आना अपवाद मार्ग है। आचाराङ्गवृत्तिकार के मतानुसार औत्सर्गिक स्थिति में आधार्कामिक आहार अग्राह्य है, किन्तु आपवादिक कारणों के उपस्थित होने पर गीतार्थ मुनि अल्प बहुत्व का विचार कर सदोष आहार भी ग्रहण कर सकता है।^{४०} सूत्रकृतांग^{४१} और निशीथ^{४२} में भी यही बात कहा गई है। भगवती सूत्र में भी महावीर ने औद्देशिक एवं अनेषणोय आहार के सम्बन्ध में गौतम द्वारा पूछे गए प्रश्न का समुचित समाधान किया है।^{४३} निर्दोष आहार ग्रहण करने का यह उत्सर्ग विधान संयम रक्षार्थ है तो सदोष आहार ग्रहण करने का यह अपवाद मार्ग भी उत्सर्ग की भाँति संयम के पालन के लिए ही विहित है। दोनों का उद्देश्य एक ही है—संयम की सुरक्षा।

आचाराङ्ग में अहिंसा व्रत के पूर्णतः पालन करने की दृष्टि से ही किसी भी समूह-भोज (संखडि) में जाकर आहार लाने की आज्ञा नहीं है।^{४४} परन्तु उत्सर्ग या निषेध के साथ ही उसमें अपवाद का भी विधान है। सूत्रकार का कथन है कि समूह-भोज (संखडि) में जाने से यदि संयम-विराधना की संभावना न हो तो प्रज्ञावान् मुनि पूर्व या पश्चात् समूह-भोज में जाकर आहार ग्रहण कर सकता है।^{४५} इस सम्बन्ध में आचाराङ्गवृत्तिकार का अभिमत है कि आचाराङ्ग में समूह-भोज में जाकर आहार लेने का जो अपवाद मार्ग स्वोकार किया गया है वह परिस्थिति विशेष की दृष्टि से ही है।^{४६} इसी तरह उत्तराध्ययन^{४७}, बृहत्कल्प^{४८} और निशीथ^{४९} सूत्र में भी समूह-भोज (संखडि) में जाने का तथा आहार ग्रहण करने का निषेध है।

ये सभी अपवाद मुख्यतः अहिंसा व्रत से सम्बन्धित हैं। साधना-मार्ग

में यथाप्रसंग दोनों की आवश्यकता है। फिर भी, इसका यह अर्थ नहीं है कि साधक जीवन में अपवाद-मार्ग का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। साधना का एक-मात्र लक्ष्य यही होना चाहिए कि साधक के चित्त की समाधि बनी रहे, तथा ज्ञानादि गुणों की अभिवृद्धि होती रहे। उत्सर्ग-मार्ग से प्रगति करते हुए यदि चित्त-समाधि बनी रहती है तो अपवाद मार्ग अपनाते की कोई आवश्यकता नहीं है। अपवाद का सहारा तो तब लिया जाना चाहिए जब चैतन्य समाधि भंग होने की सम्भावना हो अथवा कोई विशिष्ट कारण उपस्थित हो।

सत्य महाव्रत के सम्बन्ध में आचाराङ्ग में कहा गया है कि मुनि मन, वचन और काया से स्वयं मिथ्या भाषण नहीं करता, दूसरों से नहीं करवाता और मिथ्याभाषण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता।^{५०} सदैव सत्य भाषण करना मुनि के लिए उत्सर्ग मार्ग है। आचाराङ्ग में इसके अपवाद की चर्चा भी हुई है। यदि भिक्षु विहार कर रहा है और मार्ग में उसे कोई पथिक मिल जाए और वह उससे पूछे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आपने इधर से मनुष्य, पशु-पक्षी, गाय, भैंस, बैल आदि किसी को भी आते-जाते देखा है ? यदि देखा हो तो बताइए कि वे किस ओर गए हैं, ऐसी विशेष परिस्थिति में मुनि कुछ न कहे अर्थात् मौन रहे। जानता हुआ भी यह न कहे कि मैं जानता हूँ अथवा जानता हुआ भी यह कह दे कि मैं नहीं जानता।^{५१} यह सत्यव्रत का अपवाद है। ऐसा कथन तो असत्य भाषण ही है लेकिन परिस्थिति विशेष में इसका दोष नहीं लगता। आचाराङ्ग में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मुनि को असत्य और मिश्र वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। सदा सत्य और व्यवहार भाषा ही बोलनी चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी कहा है कि सत्य और व्यवहार भाषा में भी जो सावद्य, अप्रिय, कर्कश-कटु या छेदन-भेदनकारी हो तथा जिस भाषा से जीवों की हिंसा होती हो उसे ऐसी सत्य भाषा भी कदापि नहीं बोलनी चाहिए।^{५२} दशवैकालिक^{५३} में भी इसी बात का समर्थन किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि धर्म संकट की स्थिति में यदि कदाचित् असत्य बोलना पड़े तो आपवादिक विधान भी उत्सर्ग की भाँति कर्तव्य रूप हो जाता है। आचारांग की भाँति सूत्रकृतांग^{५४} और निशोथ चूर्ण^{५५} में भी आपवादिक चर्चा है।

अस्तेय व्रत के उत्सर्ग मार्ग के विषय में आचारांग में कहा है कि भिक्षु स्वामी की आज्ञा के बिना कोई भी वस्तु नहीं ले सकता। बिना

५६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आज्ञा के वह स्वयं एक तिनका ग्रहण न करे, न करवाए और न ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करे।^{५१} आपवादिक परिस्थिति में जैनागमों में यह भी विधान मिलता है कि भिक्षु पहले स्वामी की आज्ञा लिए बिना ही उचित स्थान में ठहर जाए और बाद में स्वामी (मालिक) की आज्ञा लेने का प्रयास करे।^{५२}

आचारांग में उत्सर्ग विधान यह है कि भिक्षु को त्रिकरण और त्रियोग से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।^{५३} ब्रह्मचर्य के पालक महाव्रती मुनि के लिए नवजात कन्या का स्पर्श तक निषिद्ध है। किन्तु अपवाद मार्ग यह भी है कि भिक्षु नदी में डूबती हुई साध्वी को बचाने की दृष्टि से पकड़ कर बाहर निकाल सकता है।^{५४} इसी तरह यदि किसी साध्वी को सर्प ने काटा हो और अन्य कोई उपचारमार्ग न हो तो वह उसे छूकर उसका उपचार भी कर सकता है।^{५५}

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य पालन के लिए दूध-दही आदि सरस (रस-प्रणीत) भोजन के सम्बन्ध में भी उत्सर्ग-अपवाद का विधान है। सामान्यतया भिक्षु को रस प्रणीत आहार-पानी नहीं करना चाहिए।^{५६} किन्तु विशेष परिस्थिति में वह दूध, दही आदि रस, आहार-पानी का सेवन कर सकता है। इस प्रकार उत्सर्ग अपवाद दोनों का उद्देश्य एक ही है—संयम की साधना।

आचारांग में औत्सर्गिक साधना की दृष्टि से यह कहा गया है कि भिक्षु मन, वचन और काया से किसी भी प्रकार का परिग्रह (संग्रह) स्वयं न रखे, दूसरों से न रखवाए और रखने वाले का अनुमोदन भी न करे।^{५७} परन्तु साथ ही अपवाद मार्ग में साधक के सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुसार उसमें एक से तीन वस्त्र या पात्र रखने का विधान भी है। इस प्रकार उत्सर्गतः जहाँ एक ओर आचारांग में अचेल धर्म का उल्लेख मिलता है,^{५८} वहीं दूसरी ओर आपवादिक स्थिति में सचेलत्व का समर्थन भी है।^{५९}

वर्तमान सन्दर्भ में परिग्रह वृत्ति को देखते हुए अटपटा-सा लगता है कि कहाँ तो आचारांग का अचेल धर्म अथवा न्यूनतम वस्त्र-पात्र रखने का विधान तथा वे भी अल्पतम मूल्यवाले और कहाँ आज का साधु-साध्वी वर्ग। संग्रह-प्रवृत्ति बढ़ती चली जा रही है। वस्त्र-पात्रादि तथा अनेक फैशनेबुल कीमती वस्तुओं से भरे पड़े हैं पेटो-पिटारे और कपाट ? वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि आज का अधिकांश साधु-साध्वी वर्ग इस भयंकर परिग्रहरूप दसवें महाग्रह से

बुरी तरह जकड़ा हुआ है, जिससे मुक्त होने का निकट भविष्य में कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ रहा है।

कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय का आधार :

आचारांग में नैतिकता के निरपेक्ष और सापेक्ष तत्त्व के सन्दर्भ में उत्सर्ग और अपवाद—दोनों मार्गों का विधान है। नीति के सामान्य या मौलिक नियम निरपेक्ष और विशेष नियम सापेक्ष माने जाते हैं। सापेक्ष-तत्त्व देशकालादि परिस्थितियों पर निर्भर होता है। किन्तु प्रश्न यह है कि किस देश, काल और परिस्थिति में कैसा आचरण किया जाना चाहिए? आचारांग के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब तक कोई अपरिहार्य या विशेष परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक प्रत्येक साधक को नीति के सामान्य मार्ग पर चलना चाहिए। परन्तु इस बात का निर्णय कौन करे कि अमुक परिस्थिति में अपवाद-मार्ग का सहारा लिया जा सकता है? या यदि लिया जा सकता है तो किस रूप में? सामान्य साधक यह निर्णय नहीं कर सकता कि उचित क्या है और अनुचित क्या है? आचारांग के आधार पर यही कहा जा सकता है कि उसमें सामान्य साधक के आचरण के लिए कुशल पुरुषों, प्रज्ञावान्, मुनियों, अर्हदाज्ञाओं या जिनोक्त आगमिक आज्ञाओं को प्रमाण मानना चाहिए। उसमें जगह-जगह यह निर्देश है कि साधक को आगम के अनुसार पुरुषार्थ (आचरण) करना चाहिए। आचारांग में एक स्थान पर यह भी कहा है कि 'कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के से जं च आरभे जं च णारभे अणारद्धं च णारभे'^{६५} कुशल पुरुष न तो बद्ध होता है और न मुक्त होता है। वह किसी प्रवृत्ति का आचरण करता है और किसी प्रवृत्ति का आचरण नहीं करता, (मुनि) उसके द्वारा अनाचरित प्रवृत्ति का आचरण न करे। इस प्रकार संक्षेप में, आचारांग तथा उत्तरवर्ती जैनागमों में परिस्थिति विशेष में सापेक्षधर्म (नैतिकता) के सम्बन्ध में कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य, उचित-अनुचित के निर्णय के लिए अर्थात् व्यक्ति के नैतिक जीवन के लिए मार्गदर्शक के रूप में प्रज्ञावान् मुनियों एवं आगमों को प्रमाणभूत माना गया है। अन्ततोगत्वा कर्तव्याकर्तव्य की अन्तिम निर्णायक निष्पक्ष प्रज्ञा ही है। अभिधान राजेन्द्रकोश^{६६} में भी व्यावहारिक (सापेक्ष) नैतिकता की शुभाशुभता के निर्णय के लिए आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ये पाँच आधार बताये गए हैं। वैदिक^{६७} परम्परा में भी आचरण के निर्णय के लिए वेद, स्मृति, सदाचार

और अन्तरात्मा को प्रमाण माना गया है। गीता^{१८} को भी कर्तव्या-कर्तव्य का प्रमाण शास्त्र माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचारांग का दृष्टिकोण अनेकान्तिक है। वह किसी भी वस्तु के गुण-दोष का विचार सापेक्ष अर्थात् अनेकान्त दृष्टि से करता है। नैतिक जीवन के सम्यक् विकास के लिए एकांगी दृष्टि से विचार करना समुचित नहीं। जिन कार्यों का उत्सर्ग होता है उनका अपवाद भी स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार, आचारांग में यथावसर उत्सर्ग-अपवाद या विधि-निषेध दोनों का महत्त्व है। दोनों में से किसी को न्यूनाधिक नहीं कह सकते। दोनों ही मार्ग हैं, और ब्राह्म्य हैं। दोनों के आलम्बन से ही साधना शुद्ध, सशक्त और परिपुष्ट होती है तथा साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। निशीथसूत्र में कहा गया है कि ज्ञानादिगुणों की साधना देशका अनुसार उत्सर्ग-अपवाद के द्वारा ही सफल होती है।^{१९} इसलिए नैतिक जीवन की सम्यक् प्रगति के लिए यात्रा और पड़ाव के समान उत्सर्ग-अपवाद दोनों ही मार्ग आवश्यक एवं अवलम्बनीय हैं।

नैतिकता के दो रूप—आन्तर और बाह्य

(नैश्चयिक नैतिकता और व्यावहारिक नैतिकता)

प्राचीन जैनागमों में मुख्यतः विवेचन की दो दृष्टियाँ स्वीकार की गई हैं—एक अन्तरंग दृष्टि और दूसरी बहिरंग दृष्टि। इसे पारिभाषिक शब्दावली में निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि भी कहा गया है। ये दोनों दृष्टियाँ नैतिक जीवन में समान मूल्य रखती हैं और आचार-दर्शन के क्षेत्र में इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों के आधार पर विचार किया जाता रहा है।

आचारांग में भी नैतिक साधना के दो रूप स्वीकृत हैं। वे हैं—बाह्य और आन्तरिक। इन्हें क्रमशः नैश्चयिक साधना और व्यावहारिक साधना कह सकते हैं। नैश्चयिक साधना में आन्तरिक वृत्तियों के परिष्कार का प्रयत्न किया जाता है तो बाह्य साधना में आचार के अनेक विधि-विधानों, परम्पराओं और लोक-मर्यादाओं का सम्यक्तया पालन करना होता है।

आचारांग के अनुसार वीतरागता या समता नैतिक जीवन का साध्य है। अतएव जो आचरण वीतरागता की दिशा में ले जाता है,

वही नैश्चयिक नैतिकता है। नैश्चयिक नैतिकता का सीधा सम्बन्ध आन्तरिक वृत्तियों से है। वह प्रत्येक देश-काल, व्यक्ति तथा व्यवहार में एकरूप रहती है। भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हतों या तीर्थङ्करों का नैश्चयिक धर्म का प्ररूपण एक रूप ही होता है। यह नैश्चयिक नैतिकता ही धर्म का मूल है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि आचारांग के अनुसार धर्म क्या है? धर्म की व्याख्या के सम्बन्ध में आचारांग का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। उसमें धर्म की दो व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। एक स्थान पर 'समता',^{१०} को धर्म कहा गया है और दूसरे स्थान पर 'अहिंसा'^{११} को। इन दोनों में से किसे धर्म माना जाए? वस्तुतः इन दोनों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। धर्म की ये दोनों व्याख्याएँ दो भिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। आचारांगकार ने नैश्चयिक दृष्टि से 'समता' को और व्यावहारिक दृष्टि से 'अहिंसा' को धर्म कहा है। समता का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक मनोभावों से है, जबकि अहिंसा का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के बाह्य व्यवहार से है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से इन दोनों में भिन्नता परिलक्षित होती है, तथापि 'समता' और 'अहिंसा' में कोई भेद नहीं है। अहिंसा का उद्भव समता से ही होता है और समता ही व्यावहारिक क्षेत्र में अहिंसा बन जाती है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि समता का सम्बन्ध मन से है और अहिंसा का सम्बन्ध वाणी और काया से है। 'समता' को ही धर्म क्यों माना गया, इसका समुचित समाधान टीकाकार ने करने का प्रयास किया है।

'धम्मविऊ'^{१२} शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा 'धर्म' चेतना चेतन द्रव्य स्वभाव^{१३} अर्थात् चेतन-अचेतन द्रव्यों का स्वभाव धर्म है। अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। 'धम्मो वत्थु सहावो'^{१४} यह जैन विचार की प्रसिद्ध उक्ति है। जिस प्रकार उष्णता अग्नि का स्वभाव है, और शीतलता पानी का स्वभाव है उसी प्रकार 'समता' आत्मा (चेतना) का निज स्वभाव है। भगवतीसूत्र^{१५} में यह प्रश्न उठाया गया है कि आत्मा (चेतना) क्या है और उसका साध्य क्या है? इस प्रश्न का मनावैज्ञानिक उत्तर देते हुए कहा है कि आत्मा समत्व रूप है और इस समत्व की प्राप्ति ही आत्मा का साध्य है। आचारांग में 'समता' को इसलिए धर्म माना गया है क्योंकि वह आत्मा (चेतना) का स्वभाव है और जो आत्मा का स्वभाव होगा, वही जीवन का साध्य होगा।

६० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

व्यक्ति (जीवन) युगों से इसी समत्व को प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयास कर रहा है। वह विक्षोभ, तनाव और मानसिक द्वन्द्व से युक्त होकर समत्व की भूमिका प्राप्त करना चाहता है। संक्षेप में, आचारांग और मनोविज्ञान दोनों के अनुसार स्वस्वभावरूप समत्व की प्राप्ति ही नैतिक जीवन का साध्य है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब 'समता' ही आत्मा (चेतना) का स्वभाव है तो फिर वह (चेतना) समत्वरूप स्वभाव या स्वकेन्द्र से च्युत क्यों हो जाती है? आचारांग में यह स्वीकार किया गया है कि आसक्ति के कारण ही चेतना अपने स्वरूप से विचलित हो जाती है। कहा है कि 'यह विषयातुरता (विषयासक्ति) ही समस्त पीड़ाओं की जननी है'।^{१९} विषयासक्त एवं अज्ञानी व्यक्ति इस आसक्तिरूप जल से कर्म की जड़ को सींचता हुआ पुनः पुनः संसारप्रवाह में बहकर दुःखी होता रहता है।^{२०} इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस आसक्ति से ही तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णाकुल व्यक्ति उसी की सन्तुष्टि के लिए दिन रात प्रयास करता रहता है। जब उसकी पूर्ति नहीं होती है तो वह व्यथित, चिन्तित एवं विक्षुब्ध हो जाता है।^{२१} सूत्रकार ने तृष्णाकुल व्यक्ति की अनेकचित्तता एवं उसके कारण होने वाले अनर्थों का दिग्दर्शन कराया है। अनेक चित्तवाला पुरुष तृष्णारूपी चलनी को जल से भरना चाहता है और इसकी सम्पूर्ति हेतु वह दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है या वध करता है। यहाँ तक की जनपद आदि का संहार करने के लिए भी तत्पर हो जाता है।^{२२} इस प्रकार यह आसक्ति ही चेतना के अपने स्वरूप से च्युति का कारण मानी गई तथा यह बढ़ती हुई आसक्ति ही समस्त विषमताओं का मूल है। यही कारण है कि आचारांग में वीतरागता या समताभाव को बनाए रखने के लिए समस्त आकांक्षाओं, द्वन्द्वों, संघर्षों एवं तनावों के मूल प्रेरक राग के बन्धन को तोड़ने की बात कही गई है।^{२३} निष्कर्ष यह है कि वीतरागता या समता चेतना का स्वभाव और विषमता (आसक्ति) विभाव है।

आचारांग में नैश्चयिक नैतिकता :

आचारांग में नैश्चयिक दृष्टि से समता को ही मुनित्व (श्रमणत्व) का मूल लक्षण कहा है। उसमें कहा है 'संयमनिष्ठ साधक समता की साधना से आत्मा को प्रसादित करे अर्थात् समता से आत्मा को भावित करे'।^{२४} इतसे स्पष्ट है कि समता ही साधना का केन्द्रीय तत्त्व है। समता से ही श्रमण की पहचान होती है। इसी को दृष्टिगत रखते हुए कहा

गया है कि 'समतायोगी साधक समस्त आकांक्षाओं से परे हो जाता है। उसे न तो जीने की चाह होती है और न मरने की। वह दोनों स्थितियों में आसक्तिरहित होकर विचरण करता है'।^{६२} वह सर्वो-गर्भी, भूख-प्यास आदि में भी समदर्शी रहता है। आचारांग में कहा है कि सुख-दुःख (शीतोष्ण) का ल्यागी मुनि रति-अरति को सहते हुए स्पर्श जनित सुख-दुःख का आसक्तिपूर्वक वेदन नहीं करता है,^{६३} क्योंकि संकल्प-शक्ति के विकास के द्वारा वह स्वयं को इतना साध लेता है कि परीषह (कष्ट) जनित पीड़ा उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर पाती और जो कटु-मधुर विषय-प्रसंग उसके समक्ष उपस्थित होते हैं, उन्हें वह सहज भाव से सह लेता है। कष्टों का वेदन (अनुभव) तो वह व्यक्ति करता है, जो पदार्थ को प्रियता-अप्रियता के भावों से देखता है। यही कारण है कि आचारांग में 'जाणति', 'पासति' 'पास' आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसका आशय यह है कि ज्ञानी पुरुष इन्द्रिय-संवेदन रहित होकर प्रिय-अप्रिय पदार्थों को मात्र ज्ञाता, द्रष्टा भाव से देखता है। पदार्थ को केवल पदार्थ के रूप से जानना-देखना ही समत्व है। यह साक्षीभाव ही समत्व की कुञ्जी है। जिसे यह समत्व प्राप्त होता है वही ज्ञानी होता है और जो ज्ञानी होता है, उसी को समता प्राप्त होती है। यदि साधक इष्ट-वियोग और अनिष्ट संयोग की प्राप्ति में सम न रहकर सुख-दुःखात्मक संवेदनाओं के प्रवाह में बह जाता है तो वह अपने साधना-मार्ग से च्युत हो सकता है। आचारांग में संग्रम के प्रति अरुचि और विषयों की अभिरुचि नहीं करने का भी निर्देश है। सूत्रकार कहता है कि वीर साधक रति-अरति (आकर्षण-विकर्षण) दोनों अशुभ (पाप) वृत्तियों को स्वीकार नहीं करता। वह दोनों में स्थिर चित्त (अविमनस्क) रहता है तथा इन वृत्तियों से अपने मन को जरा भी दूषित नहीं होने देता।^{६४} इसीलिए कहा है कि उस अप्रमत्त तथा समतायोगी साधक के लिए क्या अरति और क्या रति? उसे दोनों में अनासक्त अर्थात् रति-अरति के मूल रागद्वेष से रहित होकर विचरण करना चाहिए।^{६५} जिसे आत्म-रति या आनन्द की प्राप्ति हो चुकी है, उसे बाह्य रति-अरति से कोई प्रयोजन नहीं रहता। हर्ष-क्रोधादि के आवेग भी पंडित पुरुष के चित्त को उद्वेलित नहीं कर सकते।^{६६} तात्पर्य यह कि मुनि का सम्पूर्ण जीवन ही समता या वीतरागता से ओतप्रोत रहता है। अतः वह लाभ-लाभ, सुख-दुःख, जन्म-मरण, मान-अपमान, हर्ष-शोक आदि सभी प्रसंगों में शान्त एवं सन्तुलित रहता है।

उत्तराध्ययन,^{९०} अष्टप्राभृत,^{९१} प्रवचनसार,^{९२} धम्मपद^{९३} और गीता^{९४} में भी यही बात प्रतिध्वनित हुई है। आचारांग में यह भी निर्देश मिलता है कि श्रमण को भिक्षाचरी में भी समता भाव रखना चाहिए। दाता के कुछ भी न देने पर मुनि को क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। अल्पमात्रा में भिक्षा उपलब्ध होने पर दाता की निंदा नहीं करनी चाहिए। निषेध करने पर शान्तभाव से लौट आना चाहिए। इस प्रकार वह श्रमण मुनित्व की सम्यक् रूप से आराधना करे। वही वीर प्रशंसा का पात्र होता है जो अपनी संयम-साधना में लीन रहता है।^{९२} यहाँ सूत्रकार ने मुनि को भिक्षाचर्या करते समय अनासक्त रहने का उपदेश देकर इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को स्पष्ट कर दिया है। आहार उपलब्ध हो या न हो, विपुल मात्रा में प्राप्त हो या अल्पमात्रा में, सभी अवस्थाओं में उसे समत्व बनाए रखना चाहिए अन्यथा राग-द्वेष, हर्ष-शोक, क्रोध, अभिमान, संग्रह आदि विकारों से ग्रसित होने की सम्भावना रहती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य स्वभावतः इष्ट पदार्थ उपलब्ध होने पर हर्षित होता है और नहीं मिलने पर रुष्ट होता है।

सूत्रकार ने 'णमे देइ कुप्पेज्जा' (आचारांग—१/२/५-८६) एवं 'लाभुत्ति ण मज्जिज्जा' (आचारांग.....१/२/५-८९) इन दोनों सूत्रों में मनोवैज्ञानिक तथ्य को उजागर किया है। साथ ही, यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि मुनि इन मानसिक आवेगों से सर्वथा बचे और अपने मुनित्व का भलीभाँति पालन करे। सूत्रकार का कथन है कि मिलने पर अभिमान न करे, नहीं मिलने पर शोकाकुल न होवे, विपुल मात्रा में उपलब्ध होने पर संग्रह न करे।^{९३}

मुनि वस्त्र-पात्र आहार आदि से अपना जीवन-निर्वाह करते हुए भी रागद्वेषात्मक मनोवृत्तियों से अपने आपको लेश मात्र भी दूषित न होने दे, आचारांग में इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। सूत्रकार कहता है कि जो व्यक्ति इन प्रिय-अप्रिय मनोवृत्तियों से ऊपर उठ जाता है, उसकी पदार्थ विषयक आसक्ति टूट जाती है और वह प्रबुद्ध सार्थक क्षण भर में मुक्त हो जाता है।^{९४} यह आर्यों द्वारा प्रतिपादित अनासक्ति का मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करने वाला कुशल पुरुष निर्लिप्त रहता है।^{९५} आचारांग में यह भी कहा गया है कि समत्वदर्शी वीर साधक प्रान्त (जो बचा हुआ है), रूखा-सूखा यथा प्राप्त आहार का सेवन करता है।^{९६} सूत्र में 'वीरा सम्मत्तदंसिणो' का प्रयोग करके आचारांग में समता मनोविज्ञान को व्यक्त किया गया है। सामान्यतया

‘वीर’ वह है, जो बाहरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। लेकिन आचारांग के अनुसार ‘वीर’ वह है जो काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं को परास्त कर दे। काम-क्रोधादि से मनोस्नायुविकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी विकृतियों से मुक्त होने वाला ही ‘वीर’ है। वस्तुतः ‘वीर’ समत्वदर्शी होता है और समत्वदर्शी ‘वीर’ होता है। आचारांग के टीकाकार^{९७} ने भी ‘वीर’ शब्द की व्याख्या करते हुए इस तथ्य की पुष्टि की है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचारांग में नैश्चयिक दृष्टि से समता को ही नैतिक जीवन का प्रधान कारण माना गया है। जितने अंश में आचरण समतापूर्ण होगा, उतने ही अंश में हम नैतिक होंगे। समत्व प्रधान मुनित्व की एकता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि—

जं सम्मति पासहा, तं मोणं ति पासहा ।

जं मोणं ति पासहा तंसम्मति पासहा ॥^{९८}

जो समत्व या सम्यक्त्व को देखता है वह मुनित्व को देखता है और जो मुनित्व को देखता है, वह सम्यक्त्व को देखता है।

वस्तुतः जहाँ समत्व होगा, वहाँ मुनित्व (नैतिकता) का होना अवश्यम्भावी है, और जहाँ मुनित्व होगा वहाँ समता होनी चाहिए। दोनों परस्परसाध्य हैं। अतः नैश्चयिक या आध्यात्मिक साधना का मूल केन्द्रबिन्दु समता ही है।

उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अध्यात्मसार में समता को ही एक मात्र मुक्ति का उपाय कहा है। समता के बिना सारी क्रियाएँ ऊसर भूमि में बोये गए बीज के समान निष्फल हैं।^{९९} नैश्चयिक साधना के रूप में समता पर बल देते हुए उपाध्याय विनयविजय जी ने तो यहाँ तक कहा है कि ‘समता विण जे अनुसरे, प्राणी पुण्यना काम । छार ऊपर ते लीपणुं, झांखर रे चित्राम ।’^{१००}

इस सन्दर्भ में अध्यात्मयोगिराज आनन्दधन जी ने भी कहा है कि—

मान अपमान चित्त समगणे, समगणे कनक पाषाण ।

वन्दक निन्दक समगणे, इस्यो होय तु जाण ॥

सर्व जग जन्तुने समगणे, समगणे तृणमणिभावरे ।

मुक्ति-संसार ब्रेड समगणे, मुणे भवजल निधिनावरे ॥^{१०१}

आचाराङ्ग में व्यावहारिक नैतिकता :

व्यवहार-दृष्टि से आचरण के बाह्य पक्ष पर विचार किया जाता है। बाह्य आचार में नियमोपनियमों का समावेश होता है। आचरण का यह बाह्य स्वरूप व्यावहारिक नैतिकता है। यद्यपि आचाराङ्ग की साधना-पद्धति में आचार के बाह्य नियमों का विस्तार से विवेचन हुआ है तथापि नैश्चयिक आचार को एक ऐसा केन्द्र बिन्दु माना गया है, जिस पर समूची व्यावहारिक नैतिकता आधारित है। नैश्चयिक आचार के बिना बाह्य-आचार या साधना का आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष मूल्य नहीं है। आचारांग के अनुसार नैश्चयिक दृष्टि से नैतिक जीवन का साध्य 'समता' है और इसी समताभाव की उपलब्धि हेतु साधन रूप में व्यवहार धर्म का प्रतिपादन हुआ है।

आचाराङ्ग में अहिंसा शुद्ध और अनित्य धर्म के रूप में प्रतिष्ठित है।^{१०२} किन्तु प्रश्न यह है कि आचारांग में अहिंसा को जो 'शुद्धे णिच्चे सासए' कहा गया है उसका क्या तात्पर्य है? किस अपेक्षा से वह शुद्ध और शाश्वत धर्म है और किस अपेक्षा से वह व्यवहार धर्म है? इस प्रश्न के समाधान के लिए दो दृष्टिकोणों से विचार अपेक्षित होगा। अहिंसा-धर्म के भी दो रूप हैं—निश्चय और व्यवहार। नैश्चयिक या मानसिक अहिंसा निरपेक्ष धर्म है। वह शुद्ध और शाश्वत है जबकि आचरणात्मक अहिंसा व्यवहार धर्म है, क्योंकि वह देश, काल और समाज-सापेक्ष है। सापेक्ष धर्म परिवर्तनशील है। उसके विधिविधानों, परम्पराओं और मर्यादाओं में परिवर्तन होता रहता है। उसमें चिरन्तन एकरूपता नहीं रह पाती। पण्डित सुखलाल जी संघवी कहते हैं कि 'व्यावहारिक आचार एक रूप नहीं है। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न-भिन्न देश-काल, जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले आचार भी व्यावहारिक-आचार की कोटि में गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्यावहारिक आचारों में से गुजरता है।^{१०३} तीर्थंकर अपने युग की परिस्थिति के अनुसार पूर्व प्रचलित बाह्य आचार, विधि-विधानों, परम्पराओं और मर्यादाओं को बदलते हैं, उसमें संशोधन परिवर्धन करते हैं।

प्रथम तीर्थंकर के समय में आचार-मर्यादाएँ जिस रूप में थीं, वे अन्य तीर्थंकरों के समय में नहीं रहीं। जो विधि-विधान भगवान पार्श्वनाथ के समय में थे, वे भगवान महावीर के युग में नहीं रह सकते थे।

उन्होंने देश, काल तथा साधकों को बदली हुई मनःस्थिति को ध्यान में रखकर पूर्ववर्ती तीर्थंकर के युग में प्रचलित आचार में परिवर्तन एवं संशोधन किया। उत्तराध्ययन सूत्र में पार्श्वनाथ और महावीर की आचार-सम्बन्धी भिन्नता का स्पष्ट उल्लेख है।^{१०४} यद्यपि आचारांग^{१०५} में अचेल धर्म की प्रशंसा अवश्य की गई है तथापि उसका दृष्टिकोण आग्रहपूर्ण नहीं है। साधकों की सामर्थ्य एवं परिस्थिति को ध्यान में रखकर उसने एक नमनीय व्यवस्था दी है। जो मुनि निर्वस्त्र रहने में समर्थ थे उनके लिए पूर्णतः अचेल रहने का विधान किया गया, किन्तु जो वैसा करने में असमर्थ थे, उनके लिए एक, दो या तीन वस्त्र रखने तक का विधान भी रखा गया है।^{१०६} इसका अर्थ यह है कि आचारांग बाह्य आचार-नियमों में देश-काल, व्यक्ति और परिस्थिति को दृष्टिगत रखता है और यही सापेक्षिक दृष्टिकोण है।

फिर भी, आचारांग बाह्य नैतिकता को इतना लचोला नहीं बनाता है कि उसके आधार पर आचार की समूची मर्यादाएँ ही समाप्त हो जायं। उसमें श्रमण के लिए प्रतिबन्ध भी लगाए गये हैं—जैसे मुनि, हिंसा से निर्मित पतले, सुनहले, चमकीले एवं बहुमूल्य वस्त्रों का कदापि उपयोग न करे।^{१०७} उसे धुले हुए एवं रंगीन वस्त्र भी धारण नहीं करना चाहिए।^{१०८} यह भी कहा है कि मुनि तूम्बे (अलाबु), काष्ठ एवं मिट्टी के अतिरिक्त अन्य पात्रों का उपयोग न करे।^{१०९} औद्देशिक एवं अनेषणीय अर्थात् मुनि के निमित्त बनाया गया एवं अशुद्ध आहार ग्रहण न करे।^{११०} जहाँ नित्यपिण्ड और अग्रपिण्ड दिया जाता है, उन घरों में गोचरी (भिक्षा) के लिए न जाय।^{१११} राजपिण्ड भी न ले।^{११२} एक मास से अधिक एक स्थान पर न रहे^{११३} आदि। इसी तरह स्वाध्याय-ध्यान के सम्बन्ध में निर्देश है कि मुनि रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में स्वाध्यादि में प्रयत्नशील रहे।^{११४} ब्रह्मचर्य पालन के लिए भी आचारांग में अनेक निर्देश हैं।^{११५}

संक्षेप में, आचारांग में आहार-विहार-निहार, आवास (शय्या) वस्त्र, पात्र, भाषा, पाँच महाव्रत तथा तत्सम्बन्धी भावनाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में जो नियम-उपनियम हैं, उन सबका मूल अहिंसा ही है। साथ ही उसमें आचार के जो नियम-उपनियम प्रतिपादित हुए हैं, उनमें अनेक वैज्ञानिक दृष्टि से भी उचित प्रतीत होते हैं।

मोक्ष-साधक इन सदाचरणों से सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखता है। वह आदर्श-समाज का निर्माण भी कर सकता है। व्यावहा-

६६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

रिक्त आचार-पालन की मुख्य उपादेयता यही है कि साधक बाह्य आचार-रूप नियमोपनियमों के पालन के द्वारा जन-चेतना या समाज के समक्ष नैतिक साधना का आदर्श प्रस्तुत करता है। वैयक्तिक मुक्ति के साधक की साधना उस जलती हुई अग्निके के सदृश है जो समीपवर्ती क्षेत्रों को समान रूप से सुगन्धि-सम्पन्न बनाती है। उसकी बाह्य साधना की सारी पद्धतियाँ समाज के लिए हितकर सिद्ध होती हैं।

वर्तमान सन्दर्भ में व्यावहारिक नैतिकता की दृष्टि से प्रश्न उठता है कि आज धर्म के नाम पर मानव-मन में अनास्था क्यों बढ़ रही है? वास्तव में आज साधक-वर्ग की कथनी-करनी में एकरूपता नहीं रह गई है। यह एकरूपता का अभाव ही व्यक्ति की अनास्था का प्रबल कारण है। साधक जीवन का बहुरूपियापन ही सामान्य व्यक्ति को धर्म से विमुख बनाता जा रहा है।

वर्तमान में बाह्य आचार-व्यवहार के आधार पर ही व्यक्ति की निष्ठा में उतार चढ़ाव देखा जा रहा है। साधक वर्ग के निश्चल आचरण से ही सामान्य जन की श्रद्धा बढ़ जाती है और छल-छद्मयुक्त आचरण को देखते ही उसकी श्रद्धा घट जाती है। परिणामतः उसके मन में धर्म के प्रति, साधक वर्ग के प्रति, घृणा उत्पन्न हो जाती है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि स्थूल तक रहती है। वह धर्म की गहराई या धर्म के आन्तरिक तत्त्व तक नहीं पहुँच पाता। उसके लिए तो बाह्य आचार-व्यवहार ही बहुत कुछ होता है। अतः साधकों की जीवनचर्या निश्चल होनी चाहिए। साधक का नैतिक आचरण इतना प्रभावपूर्ण होना चाहिए कि सीधे व्यक्ति के अन्तर्मन को स्पर्श कर सके। वस्तुतः मन-वाणी और कर्म की समरसता अथवा कथनी और करनी की एकरूपता ही मुनित्व (नैतिकता) का मूलधार है।^{१११}

आजकल साधकों या मुनियों का जीवन बाह्य या स्थूल मर्यादाओं की दृष्टि से भी गिर गया है। सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि 'अति क्रोधी, मानी, लोभी, दम्भी, प्रवंचक, नट की भाँति बहुरूपिया, अज्ञान और प्रमाद से मूढ़ बना साधक संसार रूप आवर्त में स्वयं डूब जाता है और परिणामतः जन्म-मरण के प्रवाह में चक्कर काटता है'^{११२} ऐसा वीतराग आज्ञा का अनाराधक चरित्रहीन (दुर्बल) मुनि सच्चाई पूर्वक शुद्ध धर्म का निरूपण नहीं कर सकता। क्योंकि ज्ञानादि गुणों से रहित साधक, धर्म का प्ररूपण करने में लज्जा, भय और ग्लानि का अनुभव करता है।^{११३} ऐसा साधक आत्मघातक तो होता ही है, साथ ही समाज

के लिए भी घातक सिद्ध होता है। आचारांग के अनुसार सच्चा समाज हित तो वही कर सकता है, जो वीतराग-आज्ञा का आराधक है तथा जो निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर समत्व को भूमिका पर अवस्थित हो गया है।

आज साधक वर्ग में लोकैषणा की भूख इतनी बढ़ गई है कि वह लोक-कल्याण के नाम पर अपने स्वार्थ का पोषण कर रहा है। आचारांग के अनुसार हम यह निःसन्देह कह सकते हैं कि बिना वैयक्तिक नैतिकता की उपलब्धि किए, बिना इच्छा-आकांक्षा और कामनाओं से ऊपर उठे, लोक-हित की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। यही कारण है कि आचारांग में लोक-संज्ञा या लोकैषणाओं का त्याग कर संयम में पुरुषार्थ करने वाले व्यक्ति को ही सच्चा मतिमान् (ज्ञानी) कहा गया है।^{११९}

इस प्रकार आचारांग में नैतिकता के दोनों दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। उसमें जहाँ एक ओर समता को धर्म कहकर नैश्चयिक नैतिकता का समर्थन किया गया है, वहीं दूसरी ओर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुसार व्यावहारिक नैतिकता को भी स्वीकार किया गया है।

निश्चय और व्यवहार धर्म : कौन अधिक मूल्यवान ?

यहाँ सहज ही यह जिज्ञासा हो सकती है कि नैश्चयिक और व्यावहारिक नैतिकता में कौन महत्वपूर्ण है ? यह प्रश्न बड़ा पेचीदा है, किन्तु आचारांग में इस प्रश्न का समुचित समाधान मिलता है।

आचारांग का सम्यक् अनुशीलन करने पर यह भलीभाँति विदित होता है कि जहाँ एक ओर आचारांग के प्रत्येक अध्ययन में नैश्चयिक साधना (आन्तरिक विशुद्धि) की दृष्टि से आत्म-समता, आत्म-समाधि, आत्म-जागरूकता, वीतरागता, निःस्पृहता, अनासक्ति, मानसिक पवित्रता आदि के स्वर मुखरित हुए हैं, वहीं दूसरी ओर उसमें व्यावहारिक आचार-पालन की दृष्टि से इन्द्रिय-मनोजय, तप-ध्यान, यम-नियम-संयमादि अनेक विधि-विधानों का प्रतिपादन हुआ है। साधक स्व-स्वरूप दशा को प्राप्त करने के लिए सतत् पुरुषार्थ करता है। इसके लिए वह मानसिक द्वन्द्वों से ऊपर उठकर तप-संयम, स्वाध्यादि का आश्रय लेता है।

आचारांग के अनुसार सच्चे साधक के लिए नैतिकता के अन्तर और बाह्य रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। वह जिस प्रकार मुनित्वभाव को साधना के लिए समता से अपनी आत्मा को प्रसन्न करता है,^{१२०}

६८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

उसी प्रकार आत्मगुप्त होकर बाह्य आचार या संयम का यथावत् पालन करता रहता है। संयम के प्रति कदापि उपेक्षाभाव नहीं रखता।^{१२१} इसके विपरीत जो साधक प्रमाद में पड़ जाता है, संयम की उपेक्षा करता है, वह मुनित्व से च्युत हो जाता है। एतदर्थ यह कहा गया है कि मुनि-जन सदा जागते रहते हैं।^{१२२} इससे यह स्पष्ट है कि नैश्चयिक दृष्टि से परमार्थ की उपलब्धि हो जाने के बाद भी व्यावहारिक दृष्टि से लौकिक आचार मर्यादाओं का पालन करते रहना चाहिए। सामान्यतः बाह्य आचार को ही हमारे नैतिक मूल्यांकन की कसौटी माना जाता है।

सामान्य व्यक्ति बाह्य आचरण के आधार पर ही हमारे सम्बन्ध में कुछ निर्णय दे सकता है कि यह व्यक्ति भला है अथवा बुरा। फिर भले ही, हमारी आन्तरिक मनोवृत्तियाँ कैसी ही क्यों न हों। इससे व्यावहारिक या सामाजिक शुद्धि बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि नैतिक जीवन में न तो एकान्त रूप से व्यावहारिकता को ही पकड़े रहकर निश्चय को आँखों से ओझल करना चाहिए और न एकान्ततः निश्चय के नाम पर व्यावहारिक मर्यादाओं का लोप कर देना चाहिए। एकान्त निश्चय के नाम पर वैयक्तिक जीवन में दम्भ पनपने की सम्भावना बनी रहती है और एकान्त व्यवहार से आत्मशुद्धि पीछे रह जाती है अथवा आत्म-प्रवंचना का भय बना रहता है। इसलिए दोनों को सम्भालकर समन्वित साधना करना आवश्यक है।

आचारांग में कहा है कि इस संसार में आत्मद्रष्टा (परमदर्शी) मुनि राग-द्वेष रहित शुद्ध जीवन जीता है। उपशान्त भाव में रमण करने वाला वह मुनि सम्यक्-प्रवृत्ति तथा ज्ञानादिगुण-सम्पन्न होता है। वह सदा जागरूक रहते हुए जीवन के अन्तिम क्षण तक संयम (साधना) में विचरण करता है।^{१२३} आचारांगसूत्र आचार-साधना का महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कठोरतम साधना वर्णित है। फिर भी इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इसमें कोरी व्यावहारिक आचार-संहिता ही है। यह मूल्य अपने आप में एक विशिष्टतापूर्ण है। इसकी विशेषता यह है कि यह तप-ध्यान-समाधि के साथ ही क्रिया-काण्डरूप कठोरतम बाह्य साधना के लक्ष्य, स्वस्वरूप बोध को अधिक महत्त्व देता है। इसमें कठोरतम बाह्य आचार विधि के वर्णन के बावजूद कहीं नैश्चयिक साधना (आत्मसमाधि-भाव) घूमिल नहीं होने पायी है।

आचारांग में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार एक साथ निश्चय और व्यवहार की साधना सम्भव है। उसमें

कहा गया है कि आत्मसमाधिस्थ वीतरागी (अनासक्त) आत्मा, तप-ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा पुराने काष्ठ के समान अपने कर्म-शरीर को कृश करके शीघ्र जला डालता है।^{१२४} यहाँ सूत्रकार का अभिप्राय मात्र स्थूल शरीर को पतला करने से नहीं है। शरीर भले ही स्थूल हो या कृश, शरीर को कृशता या स्थूलता से साधना में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सूत्रकार का स्पष्ट आशय कषायत्मा को अर्थात् मानसिक विकारों को कृश करने से है। जो अन्तःकरण, कषायों से स्थूल हो रहा है, उसे कृश करना है। कठोर तपश्चरण करने के साथ ही आत्मसमाधि-अनासक्ति एवं तत्त्वबोध रखते हुए यदि स्थूल शरीर कृश हो जाए तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु जोर इस तथ्य पर दिया गया है कि चित्त का समाधिभाव या समता-भाव भंग न हो। इससे ज्ञात होता है कि आचारांग में कहीं भी निश्चय को भुलाकर मात्र देह-दमन या देह-कष्ट को धर्म नहीं माना गया है।

प्रसंगोचित यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन धर्म के कठोर तप, ध्यान, समाधि, उग्र क्रिया-काण्ड को देखकर आज भी अधिकांश सामान्यजनों को यही धारणा है कि जैन-साधना देहोत्पीड़न पर अति बल देती है। परन्तु उनकी यह धारणा निराधार और भ्रान्त है। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि आचारांग में बाह्य आचार-नियमों या व्यावहारिक नैतिकता पर ही बल दिया गया हो। वह बाह्य आचार-नियमों के साथ ही आन्तरिक विशुद्धि पर भी समान रूप से बल देता है।

इस सम्बन्ध में आचारांग में भगवान महावीर ने विवेकज्ञान (परिज्ञा) का निरूपण किया है^{१२५}। साधक पहले ज्ञ-परिज्ञा से वस्तु-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जाने। उसके बाद प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा उसका त्याग करे। निष्कर्ष यह है कि वृत्ति का परिज्ञान हो जाने के बाद प्रवृत्ति को ओर अभिमुख होना चाहिए। यद्यपि यह सही है कि आचारांग और परवर्ती जैन ग्रन्थों में देह-कष्ट रूप आचार-साधना का विधान है, तथापि उसके मूल में एकान्त अतिवाद के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। आचारांग में साधना का मूल समत्व है। उसके प्रकाश में जो भी साधना की जाएगी, उसमें दिव्यता आती ही है। इस प्रकार साधना के दोनों रूपों में सन्तुलन बनाए रखने से ही नैतिक जीवन का सम्यक् विकास सम्भव है।

आचारांग सूत्र का नौवाँ अध्ययन भी इस बात का ज्वलन्त प्रमाण

है कि जहाँ एक ओर श्रमण महावीर के वैयक्तिक जीवन के कण-कण में समता, वीतरागता, निःस्पृहता और निष्कामता परिव्याप्त है, वहीं दूसरी ओर उनके प्रत्येक आचार और व्यवहार से अहिंसा की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है, देहासक्ति का विसर्जन हो रहा है। उनके द्वारा आचरित आत्म-शुद्धिमूलक आचरण ही हमारे समक्ष यह सबल आधार प्रस्तुत करता है कि नैतिक साधना की परिपूर्णता के लिए वैयक्तिक दृष्टि से आत्मनिष्ठ नैतिकता और सामाजिक दृष्टि से वस्तुनिष्ठ नैतिकता दोनों आवश्यक है, क्योंकि सामान्यतया कोई भी साधक आत्मानुभव पर तुरन्त छलांग नहीं लगा सकता। वह शनैः शनैः इस दिशा में आगे बढ़ सकता है। अर्थात् प्रारम्भिक भूमिका में आरूढ़ व्यक्ति को निश्चय (आन्तर-शुद्धि) के शिखर पर चढ़ने के लिए व्यवहार की तलहटी से ही आगे बढ़ना होता है। ऐसी स्थिति में नैश्चयिक आचार उस दिशा-सूचक यंत्र को भांति है, जो सही दिशा में चलने के लिए मार्गदर्शन देता रहता है। वास्तविकता यह है कि नैश्चयिक आदर्श को लक्ष्य में रखकर व्यावहारिक मर्यादाओं का पालन करते रहने से आत्म-पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है। उपाध्याय यशोविजयजी ने भी श्री सीमंधरस्वामी के स्तवन में कहा है -

निश्चयदृष्टि चित्तधरीजी, पाले जे व्यवहार ।

पुण्यवन्त ते पामशे जी, भवसमुद्रनो पार^{१२६} ॥

आचारांग के उक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उनमें वैयक्तिक साधना की दृष्टि से नैश्चयिक आधार पर बल देते हुए भी सामाजिक दृष्टि से व्यावहारिक आचार की उपेक्षा नहीं हुई है। निश्चय, आदर्श की बात करता है तो व्यवहार यथार्थ की। आदर्श के बिना यथार्थ का कुछ भी मूल्य नहीं है। इसी प्रकार वह आदर्श जो यथार्थ नहीं बन सकता, कुछ महत्त्व नहीं रखता है। आदर्श आँख है तो यथार्थ पैर। आँख के बिना देखना सम्भव नहीं है तो पैर के बिना चलना असम्भव है। बिना गति किए देखते रहने से भी क्या लाभ ? और देखे बिना मात्र गति करने से भी क्या लाभ ?

आचारांग के अनुसार दोनों परस्परापेक्षी हैं और दोनों ही अपने-अपने ध्येय के अनुसार अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हैं। सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि 'जहा अंतो तहा बाहि, जहा बाहि तहा अंतो'^{१२७} अर्थात् जैसा भीतर है वैसा बाहर होना चाहिए और जैसा बाहर है वैसा ही भीतर रहना चाहिए। अथर्ववेद में भी कहा है कि जो तुम्हारे अन्दर हो

वही बाहर हो और जो बाहर हो वही तुम्हारे भीतर हो।^{१२८} निश्चय के साथ व्यवहार और व्यवहार के साथ निश्चय का सम्बन्ध जुड़ा रहे, सर्वांगीण शुद्धि बनी रहे, यही आचारांग के निश्चय और व्यवहार का रहस्य है। श्रीमद्राजचन्द्र जी ने निश्चय और व्यवहार के वास्तविक रहस्य को उद्घाटित करते हुए अपनी अध्यात्म-वाणी में कहा है-

लहयुं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
 ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥
 अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
 लोपे सद्व्यवहारने, साधन रहित थाय ॥
 निश्चय वाणी सांभली, साधन तजवा नोय ।
 निश्चय राखी लक्षमां साधन करवा सोय ।
 नयनिश्चय एकान्त थी, अमां नथी कहेल ।
 एकान्त व्यवहार नहीं, बन्ने साथ रहेल^{१२९} ॥

वैयक्तिक और सामाजिक नैतिकता

वैयक्तिक नैतिकता और आचारांग :

आचारांग में विवेचित निश्चय और व्यवहार धर्म तथा वैयक्तिक और सामाजिक धर्म में कोई भेद दृष्टिगत नहीं होता। नैतिक नैतिकता ही वैयक्तिक नैतिकता है और व्यावहारिक नैतिकता ही सामाजिक नैतिकता है। दोनों का सीधा सम्बन्ध हमारे व्यक्तिनिष्ठ और समाजनिष्ठ अर्थात् आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ आचार से है।

आचारांग वैयक्तिक साधना का प्रबल समर्थक है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि आचारांग का मूल स्वर आत्म-हित अथवा वैयक्तिक मुक्ति है। आचारांग में प्रयुक्त प्रत्येक क्रियापद से इसको पुष्टि होती है। यद्यपि विस्तार भय से यहाँ सभी को उद्धृत कर पाना सम्भव नहीं है, तथापि इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। आत्महित को ध्यान में रखकर ही साधक को उद्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे साधक! तुझे मध्यस्थ रहकर कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए।^{१३०} हे आर्य! तू आशा, आकांक्षा और स्वच्छन्दता को छोड़ दे।^{१३१} विषयाशक्ति रूप भावस्रोत को छिन्न-भिन्न कर डाल।^{१३२} हे माहन्! तू अनन्य अर्थात् 'स्व' में रमण कर।^{१३३} सूत्रकार का साधक को निर्देश है कि अपने आप निग्रह करते हुए^{१३४} आलीनगुप्त होकर संयम में पुष्पार्थ करे।^{१३५} हे पंडित! तू वर्तमान क्षण को जान।^{१३६} साधना के लिए उठकर खड़ा हो जा।^{१३७} क्षण भर भी प्रमाद मत कर।^{१३८}

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि आचारांग-शुद्ध रूप से व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता पर बल देता है। नैतिक आचरण दूसरों के लिए नहीं, अपितु स्वयं के लिए ही आचरणीय होता है। सदाचरण का उद्देश्य लोक-कल्याण नहीं, वरन् आत्मोत्थान है। जब तक आत्म-हित नहीं सधता, तब तक लोक-हित या लोक-कल्याण सम्भव नहीं। आचारांग के अनुसार नैतिक साधना की कसौटी है, साधक राग-द्वेष, मोह, आसक्ति का कितना प्रहाण कर पाया है। वह कहाँ तक स्वार्थी, द्वन्द्वों एवं वासनात्मक वृत्तियों से ऊपर उठा है।

आचारांग के अनुसार साधक को असम्यक् आचरण का त्याग, कर्म से नहीं प्रत्युत मन से भी करना होता है। वह अपने प्रति सत्यनिष्ठ होता है। जो साधक लोक-भय के कारण पाप-कर्म नहीं करता, वह अपनी साधना के प्रति निष्ठावान नहीं है। आचारांग में यह प्रश्न उठाया गया है कि जो साधक एक दूसरे की आशंका, लज्जा, भय, दबाव या बाध्यतावश पाप-कर्म या अनैतिक आचरण नहीं करता है, क्या उसमें मुनित्व होता है? अथवा क्या वह मुनि (नैतिक) कहला सकता है? ^{१३९} वस्तुतः यह आत्म-वंचना है। ऐसा साधक मुनि नहीं कहला सकता। आचारांगटीका ^{१४०} में भी यही कहा गया है कि जो साधक मात्र लोक-लज्जा एवं गुरु आदि के भय के कारण पाप-कर्म नहीं करता, उसे मुनि नहीं कहा जा सकता है। उसे लोकोपचार या वेश के कारण ही मुनि कहा जाता है। पारिभाषिक शब्दावली में वह द्रव्य मुनि है। तात्पर्य यह है कि समग्र बाह्य आचरण, विधि-विधान, लोक-मर्यादाओं एवं परम्पराओं का पालन यदि अंतःकरण की समता से प्रेरित होकर किया जाता है, तभी वह मुनित्व का कारण बन सकता है। इसका अर्थ यह है कि नैतिकता लोक-सापेक्ष न होकर आत्म-सापेक्ष है।

इस प्रकार संक्षेप में आचारांग की नैतिकता आत्मकेन्द्रित है। आचारांग के अनुसार आत्मोत्थान ही साधक-जीवन का प्रमुख आदर्श है। साधक का चिन्तन, मनन एवं प्रवृत्ति सब 'स्व' की ओर होनी चाहिए। उसे अपने स्व-स्वरूप में रमण करना चाहिये। ^{१४१}

इस सन्दर्भ में आचारांग का दृष्टिकोण बहुत कुछ समकालीन सत्ता-वादी (अस्तित्ववाद) विचारकों के समान है। कीर्केगार्डिय नैतिकता में सामाजिक नैतिकता का अभाव है। कीर्केगार्ड केवल व्यक्ति की वैयक्तिकता पर ही जोर देता है, जबकि आचारांग में सामाजिक तत्त्व भी

उपलब्ध होता है। वह नैतिकता के सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नहीं करता। उसमें वैयक्तिक कल्याण के साथ ही लोक-कल्याण (सामाजिक नैतिकता) पर भी ध्यान दिया गया है। जहाँ तक वैयक्तिक नैतिकता का प्रश्न है अस्तित्ववाद और आचारांग अधिक निकट हैं। आचारांग भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए वैयक्तिक नैतिकता का पूर्ण समर्थन करता है। वैयक्तिक नैतिकता की अवधारणा के सन्दर्भ में डा० हृदयनारायण मिश्र का कथन है कि नैतिक आत्म-अस्तित्व ही सत्य है। वह गत्यात्मक एवं उदीयमान है। वह व्यक्ति को सतत् महनीयता प्रदान करता है। उसका ज्ञान हमें कोरा ज्ञान प्रदान नहीं करता, वरन् इसके ज्ञान में हमारे जीवन को अधिक ऊँचा और महान बनाने की प्रेरणा रहती है।^{१४२}

सामाजिक नैतिकता और आचारांग :

जो विधि-विधान या आचार-पालन लोक व्यवहार या समाज को दृष्टि में रखकर किया जाता है, उसे सामाजिक नैतिकता कहते हैं। सामाजिक नैतिकता का पालन वैयक्तिक साधना की अपेक्षा संघ की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसमें मुख्यतः लोक-कल्याण को ध्यान में रखा जाता है। सामाजिक नैतिकता या नियमों का पालन इसलिए भी आवश्यक है कि सामाजिक या संघीय व्यवस्था सुव्यवस्थित बनी रहे। यही कारण है कि नैतिक साधना को उच्च भूमिका पर आरूढ़ महापुरुषों द्वारा भी संघ-हित के कार्यों का सम्पादन सहज भाव से किया जाता है। यद्यपि मोक्ष की साधना व्यक्तिगत या आत्मनिष्ठ है, किन्तु संघ (समाज) उसकी साधना में सहयोगी बनता है। अतः संघीय मर्यादाओं का पालन और संघ-हित का सम्पादन साधक के लिए आवश्यक है।

आचारांग में वैयक्तिक मुक्ति या आत्म-हित को ही जीवन का लक्ष्य माना गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें सामाजिक कल्याण को अस्वीकार किया गया है। आचारांग में स्पष्ट कहा गया है कि 'साधक को आत्म-कल्याण करते हुए समाज-कल्याण भी करना चाहिए। समद्रष्टा मुनि धर्मोपदेश के द्वारा पूर्वादि दिशाओं में स्थित सभी लोगों को कल्याण-मार्ग दिखाता है'^{१४३} इससे स्पष्ट है कि लोक-मंगल भी उसका आदर्श है। वह जन-जन को सन्मार्ग की दिशा में प्रेरित करता है। उसकी दृष्टि में उपदेश के लिए व्यक्तिविशेष, जाति, धर्म, सम्प्रदाय और स्थान विशेष के लिए कोई आग्रह नहीं होता। जहाँ भी आवश्यक होता है, वहीं उसकी उपदेश-धारा फूट पड़ती है। उसके उप-

७४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

देशों में समभाव की प्रधानता रहती है। समदर्शी होने के कारण उसके मन में किसी के प्रति कोई भेद नहीं होता। आचारांग^{१४४} में इस बात का समर्थन करते हुए कहा गया है कि ज्ञानी मुनि जैसे सम्पन्न को धर्मोपदेश देता है, वैसे ही विपन्न को भी और जैसे विपन्न को धर्मोपदेश देता है, वैसे ही पुण्यवान् या सम्पन्न को भी धर्मोपदेश देता है। आचारांग में लोक-हितार्थ जिन नैतिक-सद्गुणों या धर्म की चर्चा है, वह इस बात का सबल प्रमाण है कि सूत्रकार की दृष्टि न केवल वैयक्तिक कल्याण तक ही सीमित है वरन् उसमें समाज-कल्याण को भी समाहित किया गया है। पुनः इस बात की पुष्टि करते हुए आचारांग में कहा है कि प्राणिमात्र के प्रति कल्याण-कामना से आप्लावित होकर अर्हत् प्रवचन का प्रस्फुटन होता है।^{१४५} तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक साधन की उपलब्धि के बाद स्वयं तीर्थंकर जीवन भर जन-जीवन को उपदेशामृत का पान कराकर सत्पथ दिखाते रहते हैं। आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पन्द्रहवाँ अध्ययन इस बात का प्रमाण है कि महावीर ने वैयक्तिक कल्याण के लिए बारह वर्ष पर्यन्त एकाकी जीवन व्यतीत कर कठोरतम साधना की। उनके द्वारा की गई निवृत्तिपरक आत्म-केन्द्रित साधना जन-कल्याणकारी सिद्ध हुई। उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग उन्होंने लोकहितार्थ किया। इससे यह सिद्ध होता है कि आचारांग मात्र आत्म-हित की ही बात नहीं करता, उसे लोक-हित भी स्वीकार्य है।

उपर्युक्त समग्र तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक कल्याण करने के पूर्व वैयक्तिक साधना अत्यावश्यक है। वैयक्तिक कल्याण की साधना सामाजिक कल्याण में बाधक नहीं, अपितु साधक बनती है। इस दृष्टि से आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण में परस्पर विरोध प्रतीत नहीं होता। आचारांग में वैयक्तिक दृष्टि से साधक को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समता में प्रतिष्ठिति होने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही वह समाज के सभी वर्गों के प्रति समतापूर्ण व्यवहार करने का सन्देश भी देता है। उसका आदर्श समतावादी समाज की संरचना है।

सन्दर्भ-सूची

अध्याय ३

१. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा। आचाराङ्ग १/४/२.
२. आचारांग १/४/२ पर शीलांक की टीका पत्रांक १६४-१६५.

नैतिकता की मौलिक समस्याएँ और आचारांग : ७५

३. श्री उपाध्याय यशोविजय जी, अध्यात्मसार, केशरबाई ज्ञानभण्डार, स्थापक-संघवी नगीनदास करमचन्द, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९९४, अधिकार १८.
४. श्री भद्रबाहु स्वामी, ओघनियुक्ति, द्रोणाचार्यकृत वृत्तिसहित, प्रका० श्रीमद्विजयदानसूरि जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९५७, ५३.
५. संपा० श्रीजुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर' योगसारप्राभृत, श्री आचार्य अभितगति, भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी-५, प्रथम संस्करण सन् १९६८, ६/१८.
६. हरिभद्रसूरि, उपदेशपद टीका-मुनिचन्द्रसूरि, श्रीमुक्तिकमलजैन मोहनमाला, बड़ोदरा, पुष्प १९, सन् १९२३, ७७८.
७. आचाराङ्ग टी० १/४/२.
८. श्रीजिनदासगणिमहत्तर, उत्तराध्ययनचूर्णि, श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी स्वैताम्बर संस्था रतलाम, १९३३, अध्ययन २३.
९. श्री हरिभद्रसूरि, अष्टकप्रकरण, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्रथम आवृत्ति, सन् १९४१, टीका २५/५.
१०. उमास्वाति, प्रशमरतिप्रकरण, श्रीपरमश्रुतप्रभावक मण्डल, जौहरी बाजार, बम्बई-२, प्रथम आवृत्ति, १९५०, अधि० ८/१४५-४६.
११. महाभारत (शान्तिपर्व), ३३/३२, ६३/९९, २५९/८-१७-१८.
१२. गीता, १७/२०.
१३. बालगंगाधर तिलक, गीता-रहस्य, अनु० माधवराव सप्रै रामचन्द्र बलबन्त तिलक, नारायणपेठ, पुणे, सन् १९३३, प्रकरण २.
१४. विशुद्धिमग्न, अनु० भिक्षुधर्मरक्षित, प्रका० महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९५६, ४/६६.
१५. लिवाई अ-थन खण्ड-२ अध्याय २७, पृ० १३ उद्धृत डा० सागरमल जैन, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-१, प्राकृत भारती, जयपुर, १९८१, पृ० ९.
१६. जान स्तुअर्टमिल, युटिलीटेरिअनिज्म अ० ५, पृ० ९५.
१७. जाँडिवी, नैतिक जीवन के सिद्धान्त, आत्माराम एण्ड सन्स देहली, सन् १९६३, पृ० ५९ तथा टी० एच० हिल, कण्टेम्प्रेरी एथिकल, पृ० १६३.
१८. एफ० एच० ब्रैडले, एथिकल स्टडीज, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, सन् १९३५, पृ० १८९-१९६.
१९. जे अईया, जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता, भगवंतो ते सब्बे एव मा इक्खंति, एवं भासंति एवं पण्णाविति एवं प रूविति-सब्बे पाणां

७६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

सब्बे भूया सब्बे जीवा सब्बे सत्ता न हंतव्वा ण अज्जा वेयव्वा ण परि-
घित्तव्वा ण परियावेयव्वा णउद्दवेयव्वा । आचाराङ्ग १/४/१

२०. कण्ठेम्प्रेरी एथिकल थ्योरीज, पृ० १६३.
२१. डॉ० सागरमल जैन, (नीति के सापेक्ष और निरपेक्ष तत्त्व), दार्शनिक
त्रैमासिक सम्पा० यशदेव शल्य, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, अंक-२,
वर्ष २२, अप्रैल १९७६, पृ० ७१.
२२. संपा० जिनेन्द्रविजयगणि, स्थानांगसूत्र, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला,
सौराष्ट्र, सन्-१९७५, ९/३/६८१.
२३. उपदेशपद, गा० ७८४.
२४. सम्पा० डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, स्याद्वादमंजरी (कारिका टीका सह),
मल्लिषेण सूरि, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमद्रायचन्द्र जैन-
शास्त्रमाला), अगास, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९३५, ११.
२५. क-संपा० मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल', निशीथभाष्य, आगम प्रतिष्ठान
सन्मतिज्ञानपीठ आगरा-१९५७ सू० ५२४५ ख-निशीथचूर्णि, ५२४५.
२६. सं० मुनि श्री पुण्यविजयजी, बृहत्कल्पभाष्य, आत्मानन्द जैन सभा,
भावनगर, सन् १९३३, ३३२७.
२७. अष्टकप्रकरण, (टीका) २७/५.
२८. आचाराङ्ग, १/२/२, १/३/३, १/८/१, १/१/२-३/एवं २/१५.
२९. आचाराङ्ग, १/२/३. ३०. वही, २/३/२.
३१. वही, २/३/२. ३२. वही, २/३/१.
३३. देखें-आचाराङ्गवृत्ति-उद्धृत आत्मा० टी० पृ० ७९९, ८०१.
३४. दशवैकालिक, ५/१९.
३५. हेमचन्द्राचार्य, योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति (विवरण सहित), एशियाटिक
सोसायटी ऑफ बंगाल-१, पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता, सन् १९२१, ३/८७.
३६. वही, ३/८७. ३७. आचाराङ्ग, २/१/९, १/८/२, २/१/६.
३८. आचाराङ्ग १/६/३ की वृत्ति.
३९. आचाराङ्ग (आत्माराम जी), २/१/९/५१.
४०. आचाराङ्ग २/१/१/१ वृत्ति उद्धृत आत्मारामजी टीका ७४५.
४१. सूत्रकृतांग सूत्र २/५/८/९. ४२. निशीथ, १०/६.
४३. भगवती, १/९ एवं ८/६.
४४. आचाराङ्ग (आत्मारामजी) २/१/२/१२-१३.
४५. वही, २/१/४/२२.
४६. आचाराङ्गवृत्ति, उद्धृत आत्मारामजी टी०, पृ० ८०८.

नैतिकता की मौलिक समस्याएँ और आचारांग : ७७

४७. उत्तराध्ययन, १/३२. ४८. बृहत्कल्प, १/४६.
४९. निशीथ-३/१४. ५०. आचाराङ्ग, आत्माराम जी २/१५ पृ० १४२९.
५१. वही, २/३/३ तथा देखें-आचाराङ्ग, आत्माराम जी टीका (संस्कृत छाया), २/३/३/१२९
५२. वही, २/४/१/१३३ एवं २/१५. ५३. दशवैकालिक, ७/१.
५४. सूत्रकृतांग, १/८/१९. ५५. निशीथचूर्ण, ३२२.
५६. आचाराङ्ग (आत्माराम जी) २/१५, पृ० १४३६.
५७. व्यवहारसूत्र, ८/११. ५८. आचाराङ्ग, २/१५
५९. स्थानांगसूत्र-स्थान ५/२ एवं बृहत्कल्पसूत्र, ७/१२.
६०. संपा० श्री विजयजिनेन्द्र सूरिस्वर, व्यवहारसूत्र, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, सौराष्ट्र. ५/२० एवं अनु० श्री अमोलक ऋषि जी, बृहत्कल्पसूत्र (हिन्दी अनुवाद सहित), राजबहादुरलालामुखदेवसहाय जी, ज्वालाप्रसाद जी जौहरी, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, सिकन्दराबाद, बीर सं० २४४६, ३/६.
६१. आचाराङ्ग, (आत्माराम जी) २/१५ एवं भगवतीशतक, १५.
६२. आचारांग, २/१५. ६३. आचाराङ्ग, १/६/२-३.
६४. आचाराङ्ग, १/८/४-५, २/५/१ एवं २/६/१.
६५. आचारांग, १/२/६.
६६. स्थानांग, २/५ उद्धृत अभिधानराजेन्द्रकोश (१ से ७ भाग), ले० श्रीमद् राजेन्द्रविजयसूरिजी, प्रका० श्री श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम, सन् १९१३, खण्ड ६, पृ० ९०७.
६७. मनुस्मृति. २/१२. ६८. गीता, १६/२४.
६९. निशीथभाष्य, ५२४९.
७०. 'समियाए धम्मे आरिएहि पवेइए' । आचाराङ्ग, १/५/३.
७१. 'एस धम्मे सुद्धे निइए सासए' समिच्च लोयं खेयण्णेहि पवेइए । आचाराङ्ग, १/४/१.
७२. आचाराङ्ग, १/३/१.
७३. आचाराङ्ग १/३/१ पर शीलांक टी० पत्रांक, १३९.
७४. स्वामी कार्तिकेय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला) अगास, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६०, पृ० ४७८.
७५. भगवतीसूत्र, १/९/२२८. ७६. आचाराङ्ग, १/१/२.
७७. वही, १/३२, १/२/३ एवं १/२/५. ७८. वही, १/२/५
७९. वही, १/३/२. ८०. वही, १/३/२.

७८ : आचाराङ्ग का नोतिशास्त्रीय अध्ययन

८१. बही, १/३/३ तुलनीय सूत्रकृतांग, २/२/३ तुलनीय उत्तराध्ययन, २४/२७.
 ८२. आचाराङ्ग, १/८/८. ८३. बही, १/३/१.
 ८४. बही, १/२/६. ८५. बही, १/३/३. ८६. बही, १/३/३.
 ८७. उत्तराध्ययन, २५/३२.
 ८८. श्रीमदकुन्दकुन्दाचार्य, सीलप्राभृत (अष्टप्राभृत) अनु० रावजीभाई छगनभाई देसाई, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, (श्रीमद्रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला), अगास, सन् १९६९, ७२.
 ८९. श्रीमदकुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, जौहरी बाजार, बम्बई-२, प्रथम आवृत्ति, सन् १९५०, १/१४.
 ९०. घम्मपद, ३८८. ९१. गीता, १२/१८-१९, २/१५-३८.
 ९२. आचाराङ्ग, १/२/४. ९३. बही, १/२/५. ९४. बही १/२/२.
 ९५. बही, १/२/५. ९६. बही, १/२/६.
 ९७. विशेषेणेरयति-प्रेरयति अष्टप्रकारं कर्मारिषड्वर्गं वेति वीरः—'शक्तिमान'
 आचाराङ्ग १/२/६ शीलांक टी० पत्रांक १२९ ।
 ९८. आचाराङ्ग, १/५३. ९९. अध्यात्मसार, अधिकार ९.
 १००. आनन्दघन चौबीसी में उद्धृत, पृ० ३००.
 १०१. आनन्दघन, चौबीसी-शान्तिजिनस्तवन ९-१०.
 १०२. आचाराङ्ग, १/४/१.
 १०३. पं० सुखलाल जी संघवी, दर्शन और चिन्तन (खण्ड १-२) प्रका० पं० सुखलाल जी समिति, गुजरात, विद्या सभा, भद्र, अहमदाबाद-१, भाग २, पृ० ४९९.
 १०४. उत्तराध्ययन, २३/१२-१३. १०५. आचाराङ्ग, १/६/२-३.
 १०६. बही, १/८/४-७. १०७. बही, २/५/१. १०८. बही, १/८/४-२.
 १०९. बही, २/६/१. ११०. बही, १/८/२ एवं २/१/९.
 १११. बही, २/११/१. ११२. बही, २/१/३. ११३. बही, २/२/२.
 ११४. बही, १/५/३. ११५. बही. १/५/४. ११६. बही १/१/३.
 ११७. बही, १/५/१. ११८. बही, १/२/६. ११९. बही, १/२/६.
 १२०. बही, १/३/३. १२१. बही, १/३/३. १२२. बही, १/३/२.
 १२३. बही, १/३/२. १२४. बही, १/४/३. १२५. बही, १/१२/५.
 १२६. उपा० यशोविजयजी कृत सवासो गाथानुं स्तवन ढाल पाँचवीं, गाथा० ५५.
 १२७. आचाराङ्ग, २/२/५.
 १२८. अथर्ववेद संहिता, प्रका० वसन्त श्रीपाद सातवलेकर स्वाध्याय मंडल, पारडी, तृतीय आवृत्ति, सन् १९५७, १/२/३०/४.

नैतिकता की मौलिक समस्याएँ और आचारांग : ७९

१२९. संपा० पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री, आत्ममिद्धिशास्त्र, ले० श्रीमद्राजचन्द्र, श्रीपरमश्रुत प्रभा० मंडल अगास, प्रथम आवृत्ति, सन् १९३७, १३१-१३२.
१३०. आचाराङ्ग, १/१/८. १३१. वही, १/२/४. १३२. वही, १/३/२.
१३३. वही, १/३/२. १३४. वही, १/३/३.
१३५. वही, १/३/३, १/५/६. १३६. वही, १/२/१. १३७. वही, १/५/२.
१३८. वही, १/२/१. १३९. वही, १/३/३.
१४०. आचाराङ्ग शी० टी० पत्रांक १४९. १४१. आचाराङ्ग, १/२/६.
१४२. हृदयनारायण मिश्र, अस्तित्ववाद, किताबघर, कानपुर-३, सन् १९६८, पृ० ७४.
१४३. आचाराङ्ग, १/६/५. १४४. वही, १/२/६. १४५. वही, १/४/१.



चतुर्थ अध्याय

नैतिक प्रमापक और आचारांग

नैतिक प्रमापक-सिद्धान्त :

नैतिक मानदण्ड नैतिक चेतना के विकास का परिणाम है। म्योरहेड के अनुसार नैतिक चेतना के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं—

(१) **बाह्य नियम**—प्रथम अवस्था में बाह्य नियमों द्वारा व्यवहार का नियंत्रण होता है। नैतिक-निर्णय इन्हीं नियमों के आधार पर दिये जाते हैं। ये नियमावल्याँ प्रायः विधि-निषेधमूलक होती हैं। बाह्य नियमों का युग रीति-रिवाजों या प्रचलित नैतिकता का युग था, तब नियम और प्रचलन से निर्देशित आचरण, नैतिक आचरण माना जाता था।

(२) **आन्तरिक नियम**—नैतिक चेतना के विकास की दूसरी अवस्था में बाह्य नियमों का स्थान आन्तरिक नियम ले लेते हैं। इस अवस्था में मनुष्य के नैतिक निर्णयों की कसौटी, आन्तरिक नियम होते हैं। बाह्य आदेश के बन्धन से वह मुक्त हो जाता है। वैसे, इस आन्तरिक प्रमापक को भी विधानवाद कहा जा सकता है, क्योंकि यह आन्तरिक विधान या नियम पर ही बल देता है।

(३) **साध्य या उद्देश्यमूलक नियम**—नैतिक जागृति की तृतीय अवस्था में विधिमूलक नैतिकता का स्थान नैतिक मानदण्ड विषयक एक नवीन विचार ग्रहण कर लेता है। अब उद्देश्य, प्रयोजन या साध्य को ध्यान में रखकर नियम बनाए जाने लगे हैं। इस प्रकार विधानवाद के स्थान पर साध्यवाद अपनाया जाता है अर्थात् वैधानिक नीति के स्थान पर साध्यमूलक नीति आ जाती है।

नैतिक निर्णय उन कर्मों पर दिया जाता है, जिन्हें बुद्धिजीवी वर्ग स्वतंत्रतापूर्वक करता है। नैतिक निर्णय का विषय स्वेच्छाकृत कर्म है। स्वेच्छाकृत कर्म निश्चित हो जाने पर प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सा प्रमापक है जिसके आधार पर कर्मों को नैतिक या अनैतिक कहते हैं या उनके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय देते हैं। यह आधार है—नैतिकता का मानदण्ड।

अतः यह स्पष्ट है कि बिना किसी मापदण्ड के कर्मों के शुभाशुभत्व का नैतिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। नैतिक निर्णय की दृष्टि से कर्मों के स्वरूप को समझने के लिए शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। वह कर्म शुभ है, जो ध्येय की प्राप्ति के लिए उपयोगी है या किसी उद्देश्य का साधक है या वह कर्म उचित है जो यियम के अनुरूप है। कर्मों का मूल्यांकन करते समय हमारे समक्ष कोई मानदण्ड अवश्य रहता है। पाश्चात्य नीति परम्परा में कर्मों के नैतिक मूल्यांकन के लिए दो भिन्न मापदण्ड रहे हैं—एक तो नियम सम्बन्धी या विधिमूलक नियम और दूसरा ध्येय या साध्य सम्बन्धी।

पाश्चात्य परम्परा में स्वीकृत इन दो प्रमापकों को लेकर भी नीतिज्ञों में काफी मतभेद रहा है। परिणामतः विभिन्न सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है।

प्रश्न यह है कि आधुनिक पाश्चात्य नीति-दर्शन में स्वीकृत विभिन्न मानदण्डों से भारतीय-दर्शन एवं आचारांग कहाँ तक सहमत हैं? दूसरे शब्दों में तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों परम्पराओं में नैतिक प्रमापक सम्बन्धी विचारों में कितना साम्य-वैषम्य है। अब क्रमशः इन पर विचार किया जाएगा।

विधानवाद और आचारांग :

विधानवाद के चरम नैतिक मानदण्ड के सम्बन्ध में विविध परिकल्पनाएं हमारे सामने आती हैं। विधिमूलक परिकल्पना के अनुसार कोई बाह्य विधि (नियम) को चरम नैतिक मानदण्ड मानता है तो कोई अन्तस्थ नियम को। प्रो० संगमलाल पाण्डेय का कथन है कि 'प्रत्येक विधान, विधिमूलक और निषेधमूलक दोनों प्रकार का होता है। उसका स्पष्ट रूप है—यह करो और यह मत करो। वह आदेश है, परामर्श या विमर्श नहीं है। यदि उसका पालन नहीं होता तो आप्तपुरुष धमकी, ताड़ना और दण्ड देता है। उसके विधानों का रूप केवल करो, इतना ही नहीं है, वरन् यह भी है कि 'अगर नहीं करोगे तो उचित दण्ड मिलेगा। आज्ञाकारी पुरुष उसके विधानों और निषेधों की नैतिकता के सम्मान के कारण नहीं मानता है वरन् वह उनका पालन भयवश अथवा विवश होकर करता है'।

विधानवाद में कोई कर्म स्वतः सत् या असत् नहीं है। वही कर्म उचित है जो प्रचलित रीति, आप्तपुरुष के आदेश या विधान के अनुरूप है और वह जो नियम के विपरीत या विधान के प्रतिकूल है, अनुचित

८२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

है। विधानवाद की दृष्टि में वही व्यक्ति नैतिक गुण-सम्पन्न है जो प्रचलित मान्यताओं, बाह्य नियमों या आदेशों का मूकभाव से पशुवत् पालन करता हो। विधानवाद कर्म के औचित्य-अनौचित्य का मूल्यांकन बाह्य आदेश की कसौटी पर करता है और उसके अनुसार बाह्य आदेश ही अन्तिम प्रतिमान है। कर्म के शुभाशुभत्व को निर्धारित करने वाला बाह्य आदेश सामाजिक, प्राकृतिक, राजकीय या ईश्वरीय आदि उच्च शक्तियों से नियंत्रित होता है।

विधानवादी-सिद्धान्त के प्रकार :

नैतिक मानदण्ड के विधानवादी सिद्धान्त को दो भागों में बाँटा जा सकता है- (१) बाह्य विधानवादी (२) आन्तरिक विधानवादी। पुनः बाह्य विधानवादी सिद्धान्त के भी मोटे रूप से चार भेद हैं-

(१) जातीय विधानवाद (२) सामाजिक विधानवाद (३) वैधानिक विधानवाद और (४) धार्मिक या ईश्वरीय विधानवाद।

(१) जातीय विधानवाद :

प्राचीन युग में जाति का स्वामी मुखिया या चौधरी होता था। जिसकी आज्ञा को शिरोधार्य करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य था। समुदाय का मुखिया सदस्यों के कर्मों पर निर्णय देता था। उसके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन ही नैतिकता थी। समुदाय के मुखिया द्वारा स्वीकृत कर्म सत् और अस्वीकृत कर्म असत् समझे जाते थे। इस प्रकार उस युग में कर्मों के औचित्य-अनौचित्य के मूल्यांकन का परम मानदण्ड जातीय विधान ही था। नैतिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि आचारांग को जातीय विधानवाद मान्य नहीं है। मनुस्मृति में इन विधानों को कुछ मान्यता अवश्य प्रदान की गई है। भगवद्गीता में जातीय विधानवाद की कुछ हद तक गुंजाइश है।

(२) सामाजिक विधानवाद :

इस सिद्धान्त के अनुसार समाज जिन कर्मों का अनुमोदन करता है, वह उचित या सत् और जिनका निषेध करता है वह असत् कहा जाता अर्थात् समाज द्वारा निर्धारित कर्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। इस प्रकार, सामाजिक नियमों, नैतिक संहिताओं, प्रचलित धारणाओं, अन्ध विश्वासों एवं रीति-रिवाजों के अनुरूप आचरण को शुभ समझा जाता था। भारतीय परम्परा में जो सामाजिक नियमों को स्वीकार किया

गया है। गीता का कथन है कि 'सज्जन जैसा आचरण करते हैं, अन्य सामान्य लोग भी वैसा ही करते हैं, जिसे सज्जन पुरुष-प्रमाणित मानता है उसका लोग अनुसरण करते हैं।^२ मनु भी शाश्वत आचार को नैतिक मानता है। शाश्वत आचार में तात्पर्य है -समाज में पौढियों से चले आने वाला भले पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार। जो समाज में प्रचलित नैतिकता का आचरण करता है, वह दीर्घायु होता है और मुख पाता है, तथा जो उसका उल्लंघन करता है, उसकी निन्दा करता है और वह दुःख को प्राप्त होता है।^३ इस तरह मनुस्मृति में सामाजिक नियम को नैतिक प्रमापक माना गया है। महाभारत (शान्तिपर्व) में भी परम्परागत सत्पुरुषों का आचार नैतिक प्रतिमान के रूप में स्वीकृत है।^४ आचारांग में इन सामाजिक नैतिक नियमों को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। हाँ, परवर्ती जैन आचार-दर्शन में व्यावहारिक दृष्टि से इन्हें कुछ मान्यता मिली है, फिर भी इन्हें नैतिकता का अन्तिम प्रतिमान नहीं माना जा सकता।

(३) वैधानिक विधानवाद :

इस सिद्धान्त के अनुसार राजनैतिक नियमों को नैतिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है। राज्य, नियमों का निर्माण करता है। राजसत्ता के नियमों को नैतिक आत्मा संचालित नहीं करती है, अपितु पुरस्कार को भावना और दण्ड का भय आदि बाह्य प्रतिबन्ध परिचालित करते हैं। उनसे भयभीत होकर मनुष्य कर्म करने के लिए बाध्य होता है। उसके आचरण को बागडोर वैधानिक नियमों या प्रचलों के हाथ में है। बिना समझे-बूझे बाह्य नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए, आदि तथ्यों से अचेत रहता है। राजसत्ता द्वारा आदेशित कर्मों का पालन उचित है और उसका उल्लंघन करना अनुचित है। अतः राज्यादेश नैतिक निर्णय को कसौटी है। भोजप्रबन्ध में कहा गया है कि लोक राजा का अनुसरण करता है, जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है। जिसके (राजा) वचन या विधान से पवित्रात्मा भी अपवित्र हो जाती है और अपवित्र भी पवित्र बन जाता है। इसलिए राजा को देवता माना गया है।^५

आचारांग के अनुसार राजकीय या वैधानिक नियम नैतिकता का प्रमापक नहीं बन सकता। उन आदेशों की प्रकृति 'करना पड़ेगा' की होती है जो नैतिकता का विरोधी है। अतः इन्हें नैतिकता का चरम मानदण्ड नहीं माना जा सकता।

धार्मिक विधानवाद :

धार्मिक विधानवाद के अनुसार शास्त्र या धर्मग्रन्थ ईश्वरीय वचन हैं, जिसमें सभी मनुष्यों के लिए त्रिधि-निषेधमूलक कर्तव्य निर्धारित होते हैं। आप्त पुरुषों का आदेश, या ईश्वरीय नियमों का पालन कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्धारण करता है। पश्चिमी विचारक देकार्त, लॉक आदि भी मानते हैं कि ईश्वरीय नियम ही नैतिकता की अन्तिम कसौटी हैं। ईश्वर की निरपेक्ष इच्छा ही नैतिक प्रमापक है। लॉक तो कहता है कि नैतिकता का वास्तविक आधार ईश्वरीय इच्छा और नियम ही हो सकता है।^९

भारतीय परम्परा में भी धार्मिक या ईश्वरीय विधानवाद नैतिक मापक रूप में मान्य है। मनु ने कहा है कि वेदविहित ईश्वरीय नियम ही सर्वोच्च मानदण्ड है। समाज में प्रचलित नैतिकता अगर ऐसे विधि-निषेधों के प्रतिकूल है तो मनु उसे आदर्श स्वरूप नहीं मानते।^{१०} महाभारत भी ईश्वरीय नियम को प्रकट करने वाले वेद-स्मृति को नैतिकता का प्रमाण मानता है।^{११} पुराण भी इस प्रमापक के समर्थक हैं कि वेद और स्मृतियों में जिस ईश्वरीय नियम का आदेश है, वही नैतिक मानक है, वही धर्म है।^{१२} रामायण भी वेदाज्ञाओं को नैतिक मानदण्ड के रूप में प्रमाण मानती है।^{१३} चार्वाकदर्शन के अनुसार राजा को ईश्वर तुल्य माना गया है। अतः उसके द्वारा आदिष्ट कर्तव्य या नियम नैतिक मानदण्ड हैं।^{१४}

गीता, शास्त्र को कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी स्वीकार करती है। गीताकार का मत है कि जो शास्त्रीय विधान की उपेक्षा करके अपनी इच्छानुसार आचरण करता है, उसे शाश्वत सुख, सफलता और परमगति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः कर्तव्या-कर्तव्य के निर्णय के लिए शास्त्रों को प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रोक्त विधान को जानकर कर्म करना चाहिए।^{१५} बौद्ध और जैन धर्म, न तो ईश्वर में विश्वास करते हैं और न ही वेदों में। फिर भी बौद्ध 'बुद्ध' को और जैन 'जिन' को आप्तपुरुष मानते हैं और उनके वचनों या आगमोक्त विधान को नैतिकता का मानदण्ड मानते हैं। बौद्ध परम्परा^{१६} में भी बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आदेशों को नैतिक जीवन का प्रमापक माना गया है। जैन परम्परा में 'जिन' के आदेश को नैतिक मूल्यांकन की कसौटी माना गया है। परवर्ती जैन सूत्रों में 'आणाए धम्मो' कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। मीमांसा दर्शन में भी कहा गया है कि 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'

अर्थात् वैदिक प्रवर्तक वाक्य ही धर्म का लक्षण है। आचारांग में धार्मिक विधानवाद स्वीकृत है। जिनाज्ञाओं का पालन सत् आचार है और उनके द्वारा निषिद्ध कर्म असत् आचार है। आचारांग में स्पष्ट कहा गया है कि 'आणए मामगं धम्मं एम उत्तरवादे इह माणवाणां वियाहिते'^{१४}। अर्थात् मनुष्य के लिए मेरी आज्ञाओं में ही धर्म है। इस प्रकार जिन आज्ञाओं का सम्यक् रूप में अनुपालन करने का विधान है। 'जिन' वचनों का परिपालन नैतिक जीवन का अनिवार्य अंग है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गए हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है, तो आचारांग के अनुसार वह कर्म, अनैतिकता की कोटि में आता है। आज्ञा पालन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिन-प्रमाणित (सत्य) आगमोक्त आज्ञा को भली-भांति समझकर जो साधक उसी के अनुरूप आचरण करते हैं, वे ही बुद्धिमान, संसार-सागर से पार होते हैं^{१५}। जो साधक, वीतराग आज्ञा का पालन नहीं करता, वह चारित्र-शून्य होता है, दुर्बल होता है अर्थात् मुक्ति पाने के योग्य नहीं होता और इसीलिए वह शुद्ध धर्म-मार्ग का प्ररूपण करने में ग्लानि (लज्जा-भय) का अनुभव करता है^{१६}। अर्हत् शासन में जिनाज्ञा की आराधना ही संयम (धर्म) की आराधना मानी गई है। आज्ञा और धर्म (नैतिकता) का सह-अस्तित्व बताया गया है। आज्ञा ही धर्म है। आज्ञा-विरुद्ध आचरण करने का अर्थ है—नैतिकता के विरुद्ध आचरण करना।

अतः यह कहा जाता है कि अर्हत् आदेशानुसार प्रवर्तन करने वाला वह वीर साधक ही प्रशंसित होता है और धर्माचरण करता हुआ लोक संयोग से पर हो जाता है।^{१७} जिन वचनानुसार आचरण करने वाला श्रद्धावान् साधक लोक के स्वरूप को जानकर अकुतोभय हो जाता है अर्थात् वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता^{१८}, और ऐसा सद्ब्यवहार ही धर्म है, तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। इस अर्हत् प्रवचन में भगवदाज्ञा का आकांक्षी साधक, राग-द्वेष रूप स्निग्धता से विलग होकर अपना निरीक्षण करते हुए शरीर को सुखा लेता है।^{१९} आचारांग में आगमोक्त विधानों के अनुसार प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है। कहा गया है कि आज्ञा-पालक साधक, धर्म या नैतिक कर्मों के अवलम्बन से श्रेय का साक्षात्कार कर लेता है।^{२०} प्रबुद्ध साधक तीर्थंकर के आदेशों (निर्देशों) का अतिक्रमण न करे^{२१}। विशुद्ध नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए धर्माज्ञाओं का पालन आवश्यक है। आज्ञाओं के पालन के परिणामस्वरूप साधक

८६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

परम आदर्श की दिशा में अधिकाधिक अग्रसर होता चला जाता है। यहाँ तीर्थंकरों की अनाज्ञा में उद्यमी और आज्ञा में अनद्यमी, ऐसे दोनों प्रकार के साधकों की स्थिति का चित्र खींचते हुए आचारांग में कहा गया है कि कुछ लोग तीर्थंकर की आज्ञा के विरुद्ध अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से कुमार्ग या कल्पित अनाचार का सेवन करते हैं। वे धर्माचरण की तरह प्रतीत होने वाले अपने मनमाने सावद्य (अनैतिक) आचरण में उद्यत रहते हैं और कुछेक साधक अर्हत्-आज्ञा में निरुद्यमी होते हैं। समुचित रूप से उनके परिपालन में पुरुषार्थ नहीं करते। वे आज्ञा के महत्त्व, प्रयोजन, लाभ से अभिज्ञ होते हैं, फिर भी अपनी जड़ता, आलस्य, प्रमादादि के कारण वीतराग निर्दिष्ट धर्माचरण के प्रति उद्यमवान नहीं होते। कुमार्ग (अनाज्ञा) में पुरुषार्थ और सन्मार्ग (आज्ञा) में प्रमाद, ये दोनों ही दोष साधक के जीवन में न हों, ऐसा तीर्थंकर का आदेश है। उनका आदेश है कि साधक या शिष्य को तीर्थंकर एवं उनके शासन के संचालक आचार्य की आज्ञानुसार प्रत्येक कार्य (साधना) करना चाहिए। उनकी निर्लोभ वृत्ति के अनुरूप धर्माचरण करना चाहिए। उन्हीं की भांति सदा ज्ञान-साधना में लीन रहना चाहिए। उन्हीं के सान्निध्य में रहकर उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए।^{२२}

इस प्रकार आचारांग में साधक के लिए आज्ञा को विशेष महत्त्व दिया गया है, क्योंकि आगमों में 'विणय धम्मो मूलो' अर्थात् विनय को धर्म का मूल कहा गया है। विनय के अभाव में जीवन में धर्म का उदय नहीं हो सकता। विनय की आराधना आज्ञा में है, इसीलिए आज्ञा-पालन में ही धर्म माना गया है और उसे ही नैतिकता और अनैतिकता का प्रमापक स्वीकार किया गया है।

तीर्थंकर प्रणीत धर्म, द्वीप तुल्य होने से सभी जीवों का आश्वासन स्थान अर्थात् रक्षक है। आचारांग में इसे एक सुन्दर रूपक के द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार जल में आप्लावित असंदीन द्वीप यात्रियों के लिए आश्वासन स्थान (आश्रयभूत) होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर उपदिष्ट धर्म, संसार-सागर पार करने वालों के लिए आश्वासन-स्थान होता है।^{२३} इस प्रकार आज्ञा परायण साधक अपने नैतिक परम साध्य को सुगमतया पा लेने में समर्थ होता है। इसके विपरीत, विवेकशून्य, मोह से आवृत, कई साधक परीषद्दों के उपस्थित होने पर आज्ञा-विरुद्ध आचरण करके अपने संयम-पथ (नैतिक-साधना) से च्युत हो जाते हैं।^{२४} धर्म से पतित साधकों की स्थिति 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' सी हो जाती

है। वे न इस पार आ सकते हैं और न उस पार जा सकते हैं। ऐसे आज्ञा या धर्म के विरुद्ध चलने वाले नैतिक (संयम) पथ-भ्रष्ट साधक को अध-मार्थी, अज्ञानी, आरम्भार्थी आदि शब्दों से सम्बोधित करते हुए जिन-प्रतिपादित धर्म की उपेक्षा करने वाला कहा गया है।^{२५} पुनः धर्म-मार्ग एवं नैतिक आचरण में स्थिर करने के लिए यथोचित बोध के द्वारा गुरु, शिष्य को अनुशासित करते हुए कहते हैं कि संयम-भ्रष्टता (अनैतिक-कर्मों) के अनिष्टकर परिणामों को भलीभाँति जानकर पण्डित, मर्यादा-शील एवं निष्ठितार्थ वीर साधक को सदा आगमों में विहित साधना-पथ के अनुरूप संयम-मार्ग में पुरुषार्थ करना चाहिए।^{२६}

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचारांग में बाह्य विधान-वाद की धारणा मान्य रही है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों को नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है। फिर भी इसे अन्तिम रूप से नैतिक मूल्यांकन का प्रमापक नहीं माना जा सकता।

बाह्य विधानवाद की समीक्षा :

भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों परम्पराओं में बाह्य विधानवाद की मान्यता या स्वीकृति है, किन्तु इन बाह्य-नियमों को ही अन्तिम रूप से नैतिकता की कसौटी नहीं माना गया है। कभी-कभी बाह्य नियम नैतिक विकास में बाधक होते हैं। साधक-जीवन की प्रगति के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होते, व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयों को सुलझा नहीं पाते और जनसामान्य को अन्ध-विश्वासों, रूढ़िप्रियता, थोथी आस्थाओं एवं विश्वासों से जकड़ देते हैं।

बाह्य आदेश 'करना चाहिए' के बजाय 'करना होगा' की सृष्टि करता है। वह अन्दर की बाध्यता न होकर बाह्य बाध्यता या आरोपित बाध्यता होती है और आरोपित बाध्यता से फलित कोई भी कर्म नैतिक नहीं कहा जा सकता। वे बाह्य आदेश अधिकांशतः स्वर्ग में पुरस्कार के प्रलीभन एवं नर्क में दण्ड के भय से युक्त होते हैं। यदि पुरस्कार एवं भय को भावना ही नैतिकता की प्रवर्तक शक्तियाँ हैं, तो फिर ऐसी स्थिति में किये हुए कर्म की कोई नैतिकता नहीं रह जाती है। वस्तुतः नैतिक नियम बाह्यारोपित न होकर स्वतःप्रसूत होते हैं। कर्म का औचित्य केवल बाह्य नियमों पर ही निर्भर नहीं करता। यदि बाह्य विधानवाद को ही सब कुछ मान लिया गया तो फिर नैतिक चेतना का कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा। हाँ, ईश्वर, बुद्ध या जिनोपदिष्ट वचन या आदेश हमारा पथ प्रदर्शन करते हैं। आत्म-जागरण की प्रेरणा भी देते हैं।

८८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

बाह्य विधान फिर चाहे वे ईश्वर या जिन प्रसूत ही क्यों न हों, नैतिकता के शरीर हो सकते हैं, नैतिकता की आत्मा नहीं। प्रारम्भिक स्तर पर इनकी उपयोगिता अवश्य है, क्योंकि ये साधना की भूमिका को पुष्ट करते हैं। ये नैतिक मानण्ड के अन्तिम आधार नहीं बनते। यह सम्भव है कि इन नियमों का अक्षरशः पालन करते हुए भी मनुष्य की नैतिक चेतना प्रसुप्त रहे। इनमें नैतिक आचरण यान्त्रिक होता है। आचारांग के परिप्रेक्ष्य में देखें तो लगता है कि उसमें बाह्य विधानवाद के सम्बन्ध में कुछ संकेत मिलते हैं। उसमें तीर्थंकरोपदिष्ट विधानों की चर्चा अवश्य है। साधना की दृष्टि से उन विधानों के पालन को नैतिक जीवन का अनिवार्य अंग भी माना गया है। साधना-मार्ग में प्रविष्ट प्रारम्भिक श्रेणी के साधकों के लिए वीतराग-आज्ञा (आदेशों) का पालन अत्यावश्यक एवं उपयोगी है, लेकिन निष्ठारहित एवं विवेकहीनता से उन नियमों का पालन करने से कोई भी साधक नैतिक नहीं बन जाता। उन नियमों या साधना के प्रति जीवनपर्यन्त हमारी पूरी निष्ठा बने रहना भी आवश्यक है। आचारांग^{२७} में इसी बात की पुष्टि की गई है, क्योंकि श्रद्धा एवं प्रज्ञा के प्रकाश में सम्पादित कर्म या आचरण ही नैतिक होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रबुद्ध साधकों के लिए उन नियमों का पालन बिल्कुल निरर्थक है। विवेक दृष्टि सम्पन्न साधकों के लिए भी आदेशों के पालन की आवश्यकता बनी रहती है। अन्तर्दृष्टि जाग जाने के बाद की जाने वाली संयम-साधना में इन नियमों का पालन अपेक्षित होता है, किन्तु तब वे बाह्य आरोपित नहीं रह जाते हैं, अपितु अपनी ही अन्तरात्मा से प्रसूत होते या, अनुभवित होते हैं। इनका पालन तो होता है किन्तु 'बुद्ध' या 'जिन' के आदेश के रूप में नहीं, अपितु अन्तरात्मा के आदेश के रूप में।

इस सन्दर्भ में आचारांग में स्पष्ट रूप से यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या जो साधक दूसरों की आलोचना से भयभीत होकर पापकर्म नहीं करता है, उसे मुनि कहा जा सकता है? इसना समाधान करते हुए कहा गया है कि अन्तरात्मा के समुज्ज्वल प्रकाश में व्यावहारिक नियमों का पालन करना ही मुनित्व है क्योंकि साधक की समता मुनित्व (नैतिकता) का आधार है।^{२८}

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नैतिकता का आधार बाह्य नियम नहीं, बल्कि साधक की अन्तरात्मा है! जब तक अन्तःकरण पवित्र नहीं

बन जाना है तब तक बाह्य साधनाओं, आचरणों एवं नियमों का विशेष मूल्य नहीं।

विकासवाद और आचारांग :

हर्बर्ट स्पेन्सर का सिद्धान्त विकासवादी सुखवाद के नाम से प्रसिद्ध है। स्पेन्सर नैतिक-नियमों को जैविक विकास के सिद्धान्तों से निर्गमित करता है। विकासवादी मानते हैं कि नैतिकता क्रमिक विकास का परिणाम है और इसे केवल विकास-प्रक्रिया के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। उनकी मान्यता है कि विकास की अवस्था में नैतिकता सापेक्ष होती है और पूर्ण विकसित जीवन में नैतिकता निरपेक्ष हो सकती है। जो प्रतिक्रियाएँ जीवन को अधिक विकसित करती हैं, वे नैतिक हैं और जो उसमें अवरोध उत्पन्न करती हैं, वे अनैतिक हैं।

स्पेन्सर का कहना है कि विकास की प्रक्रिया में सहायक बनकर पर्यावरण एवं समाज के साथ समायोजन स्थापित करना मनुष्य का परम लक्ष्य होना चाहिए। यह लक्ष्य, सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह सुख को नैतिक जीवन का परम शुभ मानते हुए भी आत्म-रक्षण एवं जाति-संरक्षण को महत्त्व देता है। उसका कथन है कि 'जीवन का परम लक्ष्य सुख है, परन्तु सन्निकट लक्ष्य जीवन की लम्बाई और चौड़ाई है।^{२९} स्पेन्सर के शब्दों में सदैव आत्म-रक्षण की दिशा में प्रवृत्त विकास तब अपनी सीमा पर पहुँचता है जब व्यक्तिगत जीवन लम्बाई और चौड़ाई दोनों में महत्तम होता है।^{३०}

हर्बर्ट स्पेन्सर जीवन-रक्षण की प्रवृत्ति को नैतिक जीवन का साध्य मानता है तथा उसे नैतिक प्रतिमान के रूप स्वीकार करता है। प्रत्येक प्राणी में आत्म-रक्षण एवं जोने की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं इच्छा है। स्पेन्सर के अनुसार अच्छा आचरण जीवनवर्धक होता है और बुरा आचरण, मृत्यु या जीवन-विनाश का कारण।^{३१}

विकासवादियों के अनुसार विकास का साध्य है, वातावरण से समायोजन करना। स्पेन्सर के शब्दों में सभी बुराइयों का स्रोत देह का परिवेश के अनुरूप न होना है।^{३२} समायोजन ही जीवन का साध्य है और वही अच्छाई और बुराई का मानदण्ड भी है।

इस प्रकार विकासवादी आचार-दर्शन में निम्नलिखित प्रमुख प्रत्ययों-सिद्धान्तों का नैतिक कसौटी माना गया है—

- (१) आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति,
- (२) परिवेश के साथ अनुरूपता,

९० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

(३) विकास की प्रक्रिया में सहायक बनना,

(४) जीवन की लम्बाई और चौड़ाई ।

अब हम आचारांग और विकासवादी-सिद्धान्त को तुलना करते हुए यह देखेंगे कि उनका आचारांग के साथ कितना साम्य है ।

आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति :

आत्म-रक्षण का प्रत्यय विकासवादी सिद्धान्त का प्रमुख प्रत्यय है । स्पेन्सर के उपर्युक्त जीवन-रक्षण के नैतिक प्रतिमान को आचारांग में भी कर्म के शुभाशुभत्व का आधार माना गया है । जीवन-रक्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आधार पर ही आचारांग का अहिंसा-सिद्धान्त प्रतिष्ठित है और उसे ही नैतिक निकष के रूप में मान्यता भी दी गई है । अहिंसा-सिद्धान्त से यह प्रतिफलित होता है कि जीवन-रक्षण शुभ है और जीवन-विनाश अशुभ है । जीवन-रक्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति के मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहता है कि 'सभी को अपने प्राण या अपना जीवन प्रिय है और मृत्यु अप्रिय है' । सुख सभी को अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है ।^{३३} यह भी माना गया है कि जीवन-वर्धक होने के कारण सुख, सदैव अनुकूल प्रतीत होता है और जीवन-नाशक होने के कारण दुःख प्रतिकूल प्रतीत होता है । यद्यपि आचारांग का दृष्टिकोण स्पेन्सर के समान केवल स्व-रक्षण तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह स्व-रक्षण के साथ प्राणि-मात्र के रक्षण की भी बात करता है । आचारांग कहता है कि जो अपनी पीड़ा को जानता है वह बाह्य-जगत् की पीड़ा को जानता है । अतः अपनी सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों के साथ अन्य जीवों की अनुभूतियों की तुलना कर उनकी रक्षा करना चाहिए ।^{३४} यहाँ अनुभूति के तुल्यता-बोध के आधार पर समस्त प्राणि-वर्ग के संरक्षण की प्रेरणा दी गई है । दूसरों के जीवन की रक्षा वही कर सकता है जो हिंसा या जीवन-विनाश के भयावह परिणामों को जानता है ।^{३५} जो दूसरों को पीड़ा का आत्मवत् अनुभव करता है, वह हिंसा से निवृत्त होकर समस्त प्राणि-वर्ग के रक्षण का प्रयत्न करता है । स्पेन्सर के सिद्धान्त में जीवन-रक्षण का विचार मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है और उसे नैतिकता का आधार भी माना गया है किन्तु उसे बौद्धिक आधार प्रदान नहीं किया गया है । जबकि आचारांग में अहिंसा-सिद्धान्त का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है और वह जीवन के सभी रूपों को समान महत्त्व देता है । दूसरे, मानवीय जगत् से लेकर वनस्पति जगत् तक के सभी जीवों के रक्षण की बात

करता है जो कि स्पेन्सर के दर्शन में अनुपलब्ध है। स्पेन्सर, जीवन-रक्षण के अधिकार को स्वीकार करता है किन्तु जीवन-रक्षण के कर्तव्य को प्रस्तुत नहीं करता, जबकि आचारांग बौद्धिक आधार पर दूसरों की पीड़ा को आत्मवत् मानकर पर-पीड़ा से निवृत्त होने का सन्देश देता है और इस प्रकार जीवन-रक्षण को कर्तव्य के रूप में भी प्रस्तुत करता है। आचारांग केवल आत्म-रक्षण की ही बात नहीं करता, अपितु सभी जीवों के रक्षण की बात करता है।

आचारांग में प्रतिपादित ये विचार सूत्रकृतांग^{३६} दशवैकालिक^{३७} और उत्तराध्ययन^{३८} में भी मिलते हैं। आचारांग के समान कौषीतकी उपनिषद्,^{३९} महाभारत^{४०} धम्मपद^{४१} मनुस्मृति^{४२} श्रीमद्भागवत् पुराण^{४३} और चाणक्यनीति^{४४} में भी जीवन-रक्षण प्रवृत्ति को आवश्यक बताया गया है।

परिवेश से अनुरूपता :

जिस प्रकार विकासवादी, समायोजन के प्रत्यय को आवश्यक मानते हैं तथा उसे नैतिकता का आधार बताते हैं, उसी प्रकार आचारांग भी समायोजन के प्रत्यय को स्वीकार करता है, किन्तु दोनों में समायोजनों का आशय भिन्न-भिन्न है। स्पेन्सर बाह्य समायोजन की बात करता है, जबकि आचारांग आन्तरिक समायोजन को महत्त्व देता है। आचारांग के अनुसार सम योजन का अभिप्राय चेतना या आत्मा का स्वस्वरूप के अनुरूप होने से है। उसमें इसी स्वस्वरूप से अनुरूपता को नैतिक जीवन का साध्य माना गया है। जो चेतना अपने स्वस्वरूप के अनुरूप होती है, वह नैतिक है और जो स्वस्वभाव के प्रतिकूल होती है, वह अनैतिक है। शुद्ध चैतन्य का अपना स्वस्वभाव समता है, यही समता उसका साध्य है। साधना काल में जो साध्य होता है, वह सिद्धि-काल में स्वभाव बन जाता है, इसीलिए आचारांग में समता से अपनी आत्मा को प्रसादित करने की बात कही गई है^{४५}, क्योंकि समत्व और मुनित्व या नैतिकता में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।^{४६} आचारांग, चित्तवृत्तियों (राग-द्वेष, कषा-यादि) और स्वस्वरूप के मध्य समायोजन को महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके अनुसार समता रूप स्वस्वभाव में स्थित रहने के लिए चित्त-विक्षोभ का निराकरण आवश्यक है।

यहाँ दोनों में एक प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ आचारांग में समता को स्वभाव कहा गया है, वहाँ विकासवादी-संघर्ष को स्वभाव कहते हैं।

१२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

संघर्ष की प्रवृत्ति स्वभाव नहीं हो सकती है, क्योंकि वह निराकरण के लिए होती है ।

विकास की प्रक्रिया में सहायक होना :

‘विकास की प्रक्रिया में सहायक होना’ भी विकासवादी सिद्धान्त का महत्वपूर्ण प्रत्यय है । उसके अनुसार उचित आचरण वह है, जो विकास में साधक है और अनुचित आचरण वह है, जो विकास में बाधक है । यद्यपि स्पेन्सर के समान आचारांग में भौतिक विकास की अवधारणा उपलब्ध नहीं है, तथापि वह आध्यात्मिक विकास की अवधारणा को अवश्य प्रस्तुत करता है । आचारांग में आध्यात्मिक विकास का गुण-स्थान सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है, फिर भी उसमें अहिंसा व समता की साधना के रूप में आध्यात्मिक विकास की चर्चा अवश्य है ।

जीवन को लम्बाई-चौड़ाई :

स्पेन्सर ने लम्बाई और चौड़ाई—एसे जीवन के दो आयाम प्रस्तुत किया है, जिनसे जीवन को लम्बाई और चौड़ाई को मापा जा सकता है । लम्बाई का आशय दीर्घायु होना है और चौड़ाई का आशय कर्मठ होना है । नैतिकता इस बात पर निर्भर है कि प्राणी कितना दीर्घायु एवं कर्मठ है । इस प्रकार स्पेन्सर जीवन को लम्बाई और चौड़ाई को नैतिक मूल्यांकन के आधार के रूप में प्रस्तुत करता है । यद्यपि आचारांग को आत्म-रक्षण का प्रत्यय मान्य है, लेकिन उसमें स्पेन्सर की जीवन को लम्बाई-चौड़ाई की अवधारणा उपलब्ध नहीं होती और न वह इसे नैतिकता का प्रतिमान मानता है ।

आचारांग की दृष्टि से नैतिक जीवन के लिए दीर्घायु और कर्मठता जीवन के आदर्श नहीं हैं, किन्तु जीवन-आदर्श है, नीति या सद्गुण से युक्त होना । क्या किसी सदाचारो, संयमी साधक के अल्पायु होने के कारण उसे बुरा कहा जा सकता है ? और क्या एक दुराचारी को शारीरिक कर्मठता के कारण अच्छा कहा जा सकता है ?

आचारांग में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन का उत्सर्ग करके भी नैतिक सद्गुणों की रक्षा करनी चाहिए । ऐसी मृत्यु भी उसके लिए श्रेयस्कर हो जाती है । आचारांग में कहा गया है—तपस्वी भिक्षु के लिए ब्रह्मचर्यादि सद्गुणों की रक्षा के लिए फांसी, विष-भक्षण आदि से मृत्यु का आलिगन करना भी श्रेयस्कर है । उसकी वह मृत्यु, अकाल मृत्यु नहीं है । वह मृत्यु तो उसके लिए मोह को दूर करने वाली, हितकर, सुखकर, कर्मक्षय करने में समर्थ, निःश्रेयष अथवा मोक्ष प्रदायिनी होती है ।^{४०}

इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग में सद्गुण एवं संयम की सुरक्षा के लिए वैखानस साधना के द्वारा प्राणोत्सर्ग को भी अनैतिक नहीं अपितु नैतिक माना गया है। उसमें यह भी बताया गया है कि अभिग्रह-निष्ठ मुनि अपनी शक्ति, रुचि एवं योग्यतानुसार विविध संकल्पों को ग्रहण करते हैं। लेकिन प्रतिज्ञा अंगीकार करने के पश्चात् कभी अस्वस्थ होने पर या उपसर्ग आने पर भी वह साधक अपने कृतसंकल्प, व्रत एवं नियमों पर दृढ़ प्रतिज्ञ रहें। किसी भी परिस्थिति में अपने स्वीकृत संकल्प या प्रतिज्ञा से विचलित न हो। भले ही वह प्राणान्त कर दे, लेकिन स्वीकृत प्रतिज्ञा से विचलित न हो।

नैतिक निरपेक्षता एवं सापेक्षता के प्रत्यय के विषय में विकासवादी आचार-दर्शन और आचारांग दोनों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि आचारांग के समान विकासवादी स्पेन्सर भी नैतिकता में सापेक्ष एवं निरपेक्ष दोनों पक्षों को स्वीकार करता है। स्पेन्सर का दृष्टिकोण है कि जब तक अपूर्णता है तब तक सापेक्ष नैतिकता की स्थिति बनी रहती है। वर्तमान में हम सापेक्ष नैतिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं परन्तु पूर्ण विकसित जीवन में निरपेक्ष नैतिकता की स्थिति आ जाती है। आचारांग भी यह स्वीकार करता है कि आध्यात्मिक विकास की अवस्था में नैतिकता सापेक्ष रहती है, लेकिन जैसे ही आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होती है, नैतिकता निरपेक्ष हो जाती है।^{४८} जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, आचारांग में हमें नैतिकता और सापेक्ष नैतिकता^{४९}—दोनों दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं।

सुखवाद और आचारांग :

पाश्चात्य आचार परम्परा में कर्मों के मूल्यांकन के लिए दो प्रकार के प्रतिमान स्वीकृत रहे हैं—एक विधानमूलक प्रतिमान और दूसरा साध्यमूलक प्रतिमान। साध्यवादी विचारक मानते हैं कि कर्म के औचित्य-अनौचित्य के निर्णय का आधार कोई साध्य या आदर्श होता है। यद्यपि यह साध्य क्या है? इस सम्बन्ध में भी साध्यवादो विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। सुखवाद सुख को, बुद्धिपरतावाद शुद्ध बुद्धिमय जीवन को और आत्मपूर्णतावाद दोनों के समन्वय को अन्तिम नैतिक आदर्श या साध्य मानता है।

सुखवादी परम्परा

नैतिकता के साध्यवादी सिद्धान्तों में अनेक मत हैं, उनमें से सुखवाद सबसे महत्त्वपूर्ण है। सुखवाद वह सिद्धान्त है जो सुख को जीवन

९४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

का परम साध्य मानता है। सुखवाद को अंग्रेजी भाषा में हिडोनिज्म (Hedonism) कहते हैं। यह यूनानी शब्द 'हिडोन' से बना है जिसका अर्थ होता है—सुख। प्रत्येक मानव का चरम लक्ष्य 'सुख' प्राप्त करना है, यही सुखवाद कहलाता है। सुखवादी यह मानते हैं कि नैतिक दृष्टि से वही कर्म या आचरण शुभ है, जो सुख को उत्पन्न करता है या इन्द्रिय-जन्य वासनाओं को सन्तुष्टि देता है, और वह आचरण या कर्म अशुभ है जो वासनाओं की पूर्ति करने में बाधक है या दुःख देता है।

सुखवाद के कई रूप हैं। उनमें से प्रमुख हैं—मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद। प्राचीन सुखवाद मनोवैज्ञानिक है। वह वास्तविक तथ्य को स्वीकार करता है। आधुनिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करने के साथ ही आदर्शमूलक मान्यता को भी स्वीकार करता है। वह कहता है कि मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए। मनो-वैज्ञानिक सुखवाद को भी पुनः दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है—स्थूल सुखवाद और संस्कृत या परिष्कृत सुखवाद। स्थूल सुखवादी अधिक से अधिक ऐन्द्रिक सुख (दैहिक सुख) की प्राप्ति को महत्त्व देते हैं जबकि परिष्कृत सुखवादी, शान्त सुख या मानसिक सुख को महत्त्व देते हैं।

अब हम मनोवैज्ञानिक सुखवादी विचारधारा को दृष्टि में रखकर यह देखने का प्रयास करेंगे कि आचारांग का क्या दृष्टिकोण है ?

(ख) मनोवैज्ञानिक सुखवाद और आचारांग :

मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथ्यात्मक है। मनोवैज्ञानिक सुखवादी विचारक यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से सुख का खोजी है। तुलनात्मक दृष्टि से कह सकते हैं कि आचारांग भी इस मनोवैज्ञानिक सुखवादी अवधारणा का पोषक है, क्योंकि वह भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि समस्त प्राणी सुखेच्छु हैं। सूत्रकार का मन्तव्य द्रष्टव्य है—'सभी प्राणियों को अपने प्राण प्रिय हैं। सभी सुख चाहते हैं और दुःख से घबराते हैं'।^{१०}

सूत्रकार कहता है कि प्रत्येक जीव सुखेप्सु है। समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को 'असाता', अशांति, त्रास और दुःख अप्रिय है।^{११} इस प्रकार प्राणी अनुकूल या सुखद पदार्थों एवं साधनों के प्रति अनुराग रखता है और प्रतिकूल या दुःखद पदार्थों के प्रति द्वेष रखता है। 'सुखद विषयों की और प्रवृत्ति और दुःखद विषयों से बचाव', ये काम-वासना या आसक्ति के दो केन्द्र हैं और यही वासना

या कामेच्छा, सुख-दुःख का रूप धारण करती है। वासना-पूर्ति इन्द्रिय-जन्य स्वभाव है। जब विषय-वासना की पूर्ति हो जाती है तो प्राणी सुखानुभूति करता है और जब उसमें बाधा उत्पन्न होती है तो वह दुःखानुभूति करता है। अज्ञानी व्यक्ति काम-वासनाओं में आसक्त होकर उससे प्रताड़ित होता रहता है। आचारांग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कामभोगेप्सु व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति नहीं होने से शोक करता है, मन में खिन्न होता है, रोता-चिल्लाता है, दुःखो होता है और सब तरह से पश्चात्ताप करता है।^{५२}

आचारांग में एक स्थान पर प्राणि-मात्र के इस मनोवैज्ञानिक स्वभाव कि 'समस्त प्राणि-वर्ग को सुख-प्रिय है, दुःख अप्रिय है' के आधार पर नैतिक मान्यता को प्रस्थापना की गयी है जिसका सार यह है कि समस्त प्राणियों को वेदना, असाता और अशान्ति महाभयंकर दुःखरूप है।^{५३} प्रस्तुत सूत्र से ये विचार स्पष्ट ध्वनित होते हैं कि 'सुखाकांक्षा और दुःखनिवृत्ति' इस मनोवैज्ञानिक स्वभाव को नैतिकता की कसौटी के रूप में माना जा सकता है। आचारांग के इस सुखवादी दृष्टिकोण का समर्थन सूत्रकृतांग^{५४} और दशवैकालिक^{५५} आदि आगम ग्रन्थों में भी मिलता है।

जैनेतर परम्परा में भी सुखवादी दृष्टिकोण पाया जाता है। छान्दोग्योपनिषद्^{५६} एवं महाभारत^{५७} के शान्तिपर्व में भी सुखवादो विचार मिलते हैं। चार्वाकदर्शन^{५८} भी सुखवाद का समर्थक है, यद्यपि वह ऐन्द्रिक सुख को प्रधानता देता है। उसका कथन है कि 'जब तक जीएँ सुख से जीएँ और ऋण लेकर भी घी पीएँ'। इस भस्मीभूत देह का पुनः मिलना असम्भव है। प्रसिद्ध विद्वान उद्योतकर^{५९} ने भी मनोवैज्ञानिक आधार पर यह घोषित किया है कि 'सुख-प्राप्ति या दुःखनिवृत्ति ही मानव जीवन का काम्य साध्य है।' धम्मपद,^{६०} महाभारत^{६१}—अनुशासन पर्व और मनुस्मृति^{६२} में भी ऐसे विचार उपलब्ध होते हैं।

(ब) नैतिक सुखवाद और आचारांग :

अर्वाचीन सुखवाद नैतिक सुखवाद है। उसके अनुसार सुख मूल्य है। नैतिक सुखवादी विचारक यह मानते हैं कि नैतिक जीवन का आदर्श समष्टि का अधिकतम सुख है और वही नैतिकता का मानदण्ड है। तुलनात्मक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आचारांग भी नैतिक सुखवाद का समर्थक है। उसमें नैतिक आदर्श के रूप में 'सुख' की अवधारणा रही है। यद्यपि दोनों में 'सुख' का प्रत्यय एक है। तथापि उसकी व्याख्या में

दोनों में पर्याप्त मतभेद है। नैतिक सुखवादी भौतिक सुखों को महत्त्व देता है। इसके विपरीत आचारांग, सुख के आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देता है। वह अव्याबाध सुख के अनुसरण की बात करता है। अव्याबाध सुख की अवस्था आध्यात्मिक परमानन्द की अवस्था है और यही मुक्ति या पूर्णता की स्थिति है। आचारांग में 'निर्वाण' 'परिनिर्वाण' 'मोक्ष' 'प्रमोक्ष' या 'मुक्ति' की अवधारणा तो अवश्य है किन्तु उसमें कहीं स्पष्टतः अनाबाध सुख की अवधारणा नहीं मिलती। परवर्ती जैनागम सूत्रकृतांग में दस प्रकार के सुख वर्णित हैं जो इस प्रकार हैं—(१) साम्पत्तिक सुख, (२) काम-सुख, (३) भोग-सुख, (४) शुभभोग-सुख, (५) आरोग्य-सुख, (६) दीर्घायु-सुख, (७) सन्तोष-सुख, (८) निष्कमण-सुख—(९) अस्तित्व सुख (१०) अनाबाध सुख।^{१३}

जैनाचार्यों ने सांसारिक सुखों का कारणभूत होने से साम्पत्तिक सुख को भी 'सुख' माना है।^{१४} आचारांग में यह कहा गया है कि भोग और अर्थ में आसक्त व्यक्ति, स्वयं को अमर की भाँति मानता है और आचरण भी तदनु रूप ही करता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि इस लोक में तपश्चर्या, इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसादि यम-नियम का कोई फल नहीं दिखाई देता। ये सब व्यर्थ हैं, अतः वह अर्थ-मूढ़ व्यक्ति बार-बार सुख की अलिभाषा करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा सुख के बदले दुःख ही पाता है।^{१५} इससे स्पष्ट है कि आचारांग के अनुसार आर्थिक या साम्पत्तिक सुख, दुःख-वृद्धि और क्रन्दन का कारण होने से त्याज्य है।

काम और भोग-सुख के सन्दर्भ में विचार करते हुए आचारांग में कहा गया है कि इससे वास्तविक सुख प्राप्त नहीं होता अपितु जीव-संसार रूप दुःख-चक्र में घूमता रहता है।^{१६} इसीलिए आचारांग में इस काम-भोग को दुःख, मोह, मृत्यु, नर्क और तिर्यञ्चगति का महाकारण बताकर उसके परित्याग पर बल दिया गया है।^{१७} आचारांग के अनुसार यह कहा जा सकता है कि उच्च स्तरीय सुखों की प्राप्ति के लिए निम्नस्तरीय सुखों का त्याग कर देना चाहिए। इस दृष्टि से 'शुभ-भोग' सुख मानसिक या वैचारिक सुख का द्योतक है^{१८} और कल्याणकारी कर्म का भी।^{१९} इस दृष्टि से अवलोकन करें तो दैहिक सुखों की अपेक्षा मानसिक या बौद्धिक सुख श्रेष्ठ है। अतः मानसिक सन्तुष्टि या सुख के लिए दैहिक सुख का त्याग करना चाहिए।

आचारांग में कहा है कि बोधि-सम्पन्न साधक के लिए सत्यप्रज्ञ अन्तःकरण से पाप कर्म अकरणीय होता है।^{२०} बुद्ध ने भी कायिक और

मानसिक दोनों सुखों में से मानसिक सुख को ही मुख्य और श्रेष्ठ माना है।^{११} अन्य दृष्टि से सोचें तो वैयक्तिक सुख की अपेक्षा 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' अर्थात् लोक कल्याणकारी सुख श्रेष्ठ है। आचाराङ्ग में भी लोक कल्याणकारी कर्म (आचरण) उपलब्ध है। आचाराङ्ग में कहा है—आगमज्ञाता भिक्षु विश्वबन्धुत्व की भावना से आप्लावित होकर लोक कल्याणार्थ अपने वैयक्तिक सुखों का भी त्याग कर देता है। वह हिंसक लोगों द्वारा दिए गए विविध कष्टों को सहते हुए लोगों को कल्याण-मार्ग दिखाता रहता है।^{१२} यह दृष्टिकोण उपयोगितावादी मान्यता के निकट आ जाता है।

परन्तु जब हमारे समक्ष आरोग्य का प्रश्न आता है तो साम्पत्तिक आदि सभी निम्न कोटि के सुख, त्याज्य हो जाते हैं, क्योंकि पहला सुख निरोगीकाया' कहा है, किन्तु यदि गहराई से सोचा जाय तो स्वास्थ्य या आरोग्यसुख भी स्थायी नहीं है। ये सभी निम्नस्तरीय सुख आकांक्षा-जन्य हैं। 'इच्छा' 'आकांक्षा' अपने आप में साध्य नहीं है। आकांक्षा-जन्य सुखों से सन्तोष जनित सुख श्रेष्ठ है। काम-भोगादि निम्नस्तरीय सुखों में आकांक्षा रहती है और जहाँ इच्छा-आकांक्षा या कामना है वहाँ दुःख है। इसलिए सन्तोष-सुख के लिए आकांक्षा-जन्य निम्न सुखों का त्याग कर देना चाहिए। आचाराङ्ग में भी निम्नस्तरीय सुख (लोभ) की अपेक्षा निर्लोभता (सन्तोष) को श्रेष्ठ कहा है। सच्चा त्यागी अलोभ से लोभ को पराजित करता हुआ आकांक्षाजनित प्राप्त काम-भोगों का भी आसेवन नहीं करता^{१३}। परन्तु संतोष या अलोभ भी अन्तिम आदर्श नहीं हो सकता। निष्क्रमण या चारित्र (प्रव्रज्या) सुख के लिए सभी सुख छोड़ दिये जाते हैं। यदि अल्प सुख त्यागने पर विपुल सुख प्राप्त होता हो तो अल्पसुख का त्याग कर देना चाहिए। यही बात धम्मपद में भी है।^{१४}

निष्क्रमण-सुख में इन्द्रिय-विषय, लोभ-तृष्णा, आसक्ति आदि भाव स्रोतों का सर्वथा अभाव हो जाता है और निःस्पृहता, वीतरागता, अर्थात् स्व-स्वरूपरमणता उपलब्ध होती है। इसीलिए कहा जाता है कि एक सन्तोषी पुरुष की अपेक्षा भी निःस्पृह वीतरागी श्रमण अधिक सुखी है। प्रशमरतिप्रकरण में लिखा है कि सभी इच्छा-आकांक्षाओं अर्थात् सांसारिक प्रपंचों से निवृत्त एक निःस्पृह श्रमण को जो सुख प्राप्त होता है वह न तो चक्रवर्ती को प्राप्त होता है और न देवराज इन्द्र को। समस्त लोक चिन्ताओं से निवृत्त, राग-द्वेष और काम-विजेता तथा आत्म-

चिन्तन में लीन वीतरागी साधु सुखपूर्वक रहता है।^{१७} अभिधान राजेन्द्र कोश में निष्क्रमण-सुख को चारित्रिक सुख कहा है।^{१८} यह चारित्रिक सुख की अवस्था उच्चतम नैतिकता की अवस्था है। आचाराङ्ग के अनुसार निःस्पृही को ही सच्चा अनगार कहा जाता है।^{१९} आचाराङ्ग में यह भी कहा गया है कि 'विषय-वासना रूप भावस्रोतों को त्याग कर निष्क्रमण करने वाला महान साधक, कर्मों का क्षय कर लोक को जानता-देखता है'।^{२०} अभिप्राय यह है कि भावस्रोत अर्थात् विषय-वासना, कर्मि-स्रव के प्रवेश द्वार हैं। इन कर्म आने के द्वारों को बन्द कर देने पर ही कर्मबन्धन रुक सकता है और कर्म-बन्ध रुकने पर ही अकर्म की अर्थात् शुद्धात्मदशा प्रकट होती है। यही समत्व रूप अस्तित्व-सुख की दशा है। जो रागादि परभाव हैं, वे आत्मा के नहीं हैं। वस्तुतः निष्क्रमण-सुख और अस्तित्व-सुख एक ही अवस्था के निषेधात्मक और भावात्मक दो पहलू हैं। जो अपना नहीं है, उन पदार्थों या पदार्थजन्य आसक्ति से निवृत्त होना चारित्रिक या नैष्क्रमणिक सुख है, और जो अपना है, स्व-स्वभाव है, उसे पा लेना ही अस्तित्व-सुख है।

बुद्ध भी कहते हैं कि जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो। उसे छोड़ने से ही तुम्हारा हित होगा, सुख होगा।^{२१} पाश्चात्य विचारक जे० एस० मिल भी कहते हैं कि शुद्ध अर्थ में अपने अस्तित्व के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है।^{२२} उपयुक्त विवेचन के आधार पर हम यह पाते हैं कि यह निष्क्रमण-सुख ही अनाबाधसुख का मूल कारण है परन्तु यह निष्क्रमण सुख भी स्वयं में आदर्श नहीं है, क्योंकि नैतिक आदर्श तो निरपेक्ष होता है। वह किसी अन्य सुख पर आश्रित नहीं होता। अतः नैतिक जीवन का चरम साध्य है—अनाबाध सुख। यही सर्वोच्च नैतिक आदर्श है जिसे मोक्ष या निर्वाण की संज्ञा से अभिहित किया गया है। आचाराङ्ग नियुक्तिकार ने भी संयम का सार निर्वाण अर्थात् शाश्वत परमानन्द की प्राप्ति बताया है^{२३} और वही परमसुख है। निर्वाण-प्राप्ति का प्रतिफल ही वास्तविक एकान्त सुख की प्राप्ति होना है। आचाराङ्गनियुक्ति में ही नैतिक जीवन का साध्य बताते हुए आचार्यभद्रबाहु लिखते हैं कि 'चारित्र्य का सार निर्वाण और निर्वाण का सार अनन्त अनाबाधसुख की प्राप्ति है'।^{२४}

छान्दोग्योपनिषद् में इस अनाबाधसुख को 'भूमा' कहा गया है। जो भूमा या अनन्त है, वही सुख है। अल्प या अनित्य वस्तु में सुख नहीं है, अतः उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए।^{२५} यह सुखवाद का सुख नहीं है, क्योंकि यह अभौतिक, नित्य और शाश्वत सुख है। इसे सुखवाद के

‘सुख’ से भिन्न परमानन्द कहा जाता है। धम्मपद,^{६४} अष्टकप्रकरण^{६५} और योगशास्त्र^{६६} में भी नैतिक आदर्श के रूप में इसी परम स्वाभाविक सुख की धारणा उपलब्ध होती है।

आचाराङ्ग में कहा है कि जहाँ आत्मा जन्ममरणादि के वृत्त मार्ग का अतिक्रमण कर देता है और मोक्ष-सुख में रत रहता है अर्थात् जहाँ जन्ममरणादि वृत्त मार्ग का अभाव हो। वही मोक्षसुख है।^{६७} अभिधान राजेन्द्रकोश^{६८} में भी कहा गया है कि यह अनाबाध (मोक्षसुख), अवि-नश्वर, निर्बाध, अतीन्द्रिय और स्वभावजन्य सुख है। वह ‘मोक्ष सुख’ शब्द द्वारा वर्णनीय नहीं है, तर्कगम्य नहीं है, और न उस मोक्ष सुख के लिए कोई उपमा ही है।^{६९} वह स्वयं अपने उपमान-उपमेय स्वरूप को प्राप्त है। उसका वर्णन करने में समर्थ अन्य उपमा कोई नहीं है।^{७०} उत्तराध्ययन में भी मोक्षसुख को अतुलनीय कहा है।^{७१}

इस प्रकार, आचाराङ्ग के अनुसार सभी निम्न स्तरीय सुख परम या सर्वोच्च सुख की प्राप्ति में बाधक होने के कारण त्याज्य माने गए हैं। उसके अनुसार (अनाबाध) मोक्षसुख ही अन्तिम साध्य है, जो एक निरपेक्ष आध्यात्मिक परमानन्द की अवस्था है। यही परमपद, निर्वाण या मुक्ति है। यही आचाराङ्ग का सुखवादी दृष्टिकोण है। आचाराङ्ग^{७२} के समान ही प्रवचनसार^{७३} प्रशमरतिप्रकरण^{७४} और ज्ञानार्णव^{७५} में भी इन्द्रिय-सुख की कटुता का दिग्दर्शन कराया गया है कि यह इन्द्रिय विषयजन्य सुखाभास वस्तुतः दुःखरूप ही है। अभिधानराजेन्द्र कोश में भी यही कहा है कि वीतरागसुख के अतिरिक्त शेष सब सुख, दुःख प्रतिकार के निमित्त हैं, सुख का अभिमान उत्पन्न करते हैं अतः वे वास्तविक सुख नहीं हैं।^{७६}

वास्तविक सुख की प्राप्ति कैसे हो, इस सन्दर्भ में आचारांग के ‘आसंच छंदं च विगिंच धीरे’.....१/२/४ तथा ‘उम्मंच पास इहमच्चिर्हि’ १/३/२ इन सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रागभाव या काम-वासना को समाप्त करने पर ही सच्चा सुख अथवा स्वस्वभाव रूप सुख की प्राप्ति हो सकती है। यह भी कहा है कि ‘अरहं आउट्टे से मेहावी खणंसिमुक्के-१।२।२। अर्थात् अरति (विषय-तृष्णाओं) से निवृत्त साधक क्षणभर में मुक्त हो जाता है। दशवैकालिकसूत्र (२।१०) में भी ‘कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं’ कहकर यह स्पष्ट किया है कि काम-वासनाओं को जीत लो, दुःख दूर हो जाएगा। परिणामतः निरुपाधिक वास्तविक सुख की प्राप्ति हो जाएगी।

१०० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

बुद्धिपरतावाद और आचाराङ्ग :

सुखवाद आत्मा के भावनात्मक पक्ष पर जोर देता है और बुद्धिपरतावाद आत्मा के बौद्धिक पक्ष पर। काण्ट, विशुद्ध बुद्धि प्रधान या बौद्धिक जीवन का पक्षधर है, जिसमें वासनाओं, भावनाओं, इच्छाओं, संवेगों अथवा इन्द्रियपरता का कोई स्थान नहीं है। पश्चिम के इस वैराग्यवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राचीन काल में कठोर तपश्चर्यावाद के रूप में सिनिकस ने, विरक्तिवाद के रूप में स्टोइक्स ने, संन्यासवाद के रूप में ईसाई धर्माचार्यों ने किया था। वर्तमान युग में इस सिद्धान्त को काण्ट ने बुद्धिपरतावाद के रूप में प्रस्तुत किया है।

काण्ट का विचार है कि बौद्धिक संकल्प या सदिच्छा (Good-Will) ही जीवन का परम शुभ है। सदिच्छा का अर्थ सद्भावना नहीं, बल्कि कर्तव्य बुद्धि है। सदिच्छा बौद्धिक है और वह निरपेक्ष नैतिक बुद्धि अथवा शुभ-संकल्प का परिणाम है। शुभ-संकल्प नैतिक नियम है। अतः इसे किसी परिणाम विशेष से सम्बद्ध करना अनैतिक होगा। बौद्धिक अथवा शुभ संकल्प ही एकमात्र शुभ है और शुभ संकल्प कर्तव्य के लिए कर्म करता है और उसमें अपवाद की कोई गुंजाइश नहीं होती। शुभ-संकल्प की विशेषता यह है कि वह शुभ है। वह विषय-रहित, विशुद्ध आकारिक एवं अनुभव-निरपेक्ष है और उसका निरपेक्ष रूप यह बतलाता है कि कर्म की नैतिकता कर्म के परिणाम पर नहीं, अपितु उसके प्रेरक तत्त्व अर्थात् संकल्प पर निर्भर करती है।

कर्म कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो, लेकिन यदि वह सहानुभूति, दया, प्रेम, करुणा आदि भावनाओं से प्रेरित होकर किया गया हो तो काण्ट के मतानुसार वह शुभ या नैतिक नहीं है। इच्छाओं से युक्त कर्म अनैतिक है।

काण्ट के अनुसार कर्म तभी शुभ है, जब वह बौद्धिक संकल्प या कर्तव्य बुद्धि से किया गया हो। उसका स्पष्ट विचार है कि किसी कर्म का सम्पादन किसी भावना या वेग की परितृप्ति के लिए नहीं, प्रत्युत बौद्धिक संकल्प के आदेश से होना चाहिए।

काण्ट ने अपने सिद्धान्त में नैतिकता के ऐसे पांच सूत्र प्रस्तुत किए हैं, जिनके द्वारा कर्म के शुभ-अशुभत्व को परखा जा सकता है। उसके ये पांच सूत्र हैं—

(१) सार्वभौम विधान सूत्र :

तुम केवल उसी नियम का पालन करो, जिसके माध्यम से तुम

उसी समय इच्छा कर सको कि यह एक सार्वभौम विधान होने वाला हो ।

(२) प्रकृति विधान का सूत्र :

ऐसा करो कि मानो तुम्हारे कर्म का नियम तुम्हारी इच्छा के माध्यम से प्रकृति का एक सार्वभौम विधान होने वाला हो ।

(३) स्वयं साध्य का सूत्र :

ऐसा करो जिससे अपने व्यक्तित्व में प्रत्येक अन्य पुरुष के व्यक्तित्व में निहित मानवता को तुम सदा एक ही समय साध्य के रूप में प्रयोग करो, कभी साधन के रूप में नहीं ।

(४) स्वतंत्रता का सूत्र :

ऐसा करो कि तुम्हारी इच्छा उसी समय अपने नियम के माध्यम से अपने को सार्वभौम विधान बनाने वाली समझ सके ।

(५) साध्यों के राज्य का सूत्र :

तुम सदा अपने नियम के माध्यम से साध्यों के एक सार्वभौम राज्य के विधायक सदस्य हो ।^{१७}

काण्ट की उपर्युक्त नीति-शास्त्रीय मान्यताएं आचारांग में कहां तक मान्य रही हैं तथा दोनों के विचारों में कितना सामंजस्य है, इस सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है ।

(१) सार्वभौमविधान सूत्र :

काण्ट के इस सूत्र के अनुसार कोई भी कर्म तभी नैतिक माना जा सकता है, जबकि वह उसी समय सार्वभौम या सामान्य नियम बन जाने की क्षमता रखता हो । यदि वह सामान्य या सार्वभौम नियम बन सकता है तो वह शुभ है, अन्यथा अशुभ है । इसके व्यवहारिक रूप को समझाने के लिए काण्ट शपथ तोड़ने का उदाहरण प्रस्तुत करता है । यदि शपथ तोड़ने को एक सामान्य नियम बना दिया जाय-प्रत्येक व्यक्ति शपथ तोड़ने लगे तो फिर शपथ लेने का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा । इसी तरह झूठ, चोरी, बेईमानी आदि को भी सामान्य-नियम नहीं बनाया जा सकता । इस दृष्टि से ये सभी कर्म अनुचित हैं । काण्ट के इस सूत्र का मन्तव्य यही है कि जो सार्वभौम नियम बन सकता है वही कर्म आचरणीय या नैतिक है ।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि काण्ट का सार्वभौम विधान-सूत्र आचारांग में अहिंसा-सिद्धान्त के रूप में

१०२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

प्रतिष्ठित है जो उसकी त्रैकालिक सार्वभौमिकता को सिद्ध करता है अहिंसा नैतिकता का सामान्य या सार्वभौमिक मौलिक नियम है। आचारांग के अनुसार यदि विश्व का कोई सार्वभौमिक या सर्वसामान्य धर्म (नियम) बन सकता है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा धर्म को चर्चा करते हुए कहा है कि किसी भी प्राणी, भूत, सत्य या जीव को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है।^{९८} हम अपने लिए जिसकी इच्छा करते हैं उसको दूसरों के लिए भी करनी चाहिए और जिसकी इच्छा अपने लिए नहीं करते हैं, दूसरों के लिए भी उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए। इससे यही फलित होता है कि प्राणी मात्र को आत्मवत् समझना चाहिए। आचारांग में इसी आत्मोपम्य-सिद्धान्त को आचरण के शुभाशुभत्व का शाश्वत प्रतिमान स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काण्ट की प्रथम नीतिवाक्य सम्बन्धी धारणा आचारांग में आत्मोपम्य दृष्टि या अहिंसा-सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत रही है। इस दृष्टि से दोनों के विचारों में काफी सादृश्य है।^{९९} सूत्रकृतांग,^{१००} उत्तराध्ययन,^{१०१} दशवैकालिक,^{१०२} प्रश्नव्याकरण,^{१०३} में भी ये ही विचार मिलते हैं।

आचारांग के समान बौद्ध परम्परा के सुत्तपिटक,^{१०४} धम्मपद,^{१०५} तथा वैदिक परम्परा के महाभारत, गीता,^{१०६} मनुस्मृति,^{१०७} हितोपदेश,^{१०८} में भी इस तरह के विचार दृष्टिगोचर होते हैं।

(२) प्रकृति-विधान का सूत्र :

काण्ट का दूसरा सूत्र प्रकृति विधान का है। काण्ट के अनुसार जो कर्म प्रकृति की एकरूपता एवंसोद्देश्यता के अनुरूप होगा वही प्राकृतिक कहा जाएगा। इसके विपरीत किया जाने वाला कर्म अप्राकृतिक होगा। काण्ट के इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि मानव को आदर्श प्रकृति के अनुरूप कर्म उचित होगा, इसके विपरीत कर्म अनुचित।

जैन दर्शन में इसे यह कहकर प्रकट किया गया है कि स्वभावदशा की ओर ले जाने वाले कर्म नैतिक और विभावदशा की ओर ले जाने वाले कर्म अनैतिक होते हैं।

आचारांग के अनुसार समता रूपी स्वभाव की उपलब्धि नैतिकता का आवश्यक तत्त्व है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में^{१०९} आनन्दघन जी ने आनन्दघनचौबीसी^{११०} में एवं उपाध्याय यशोविजय जी ने अध्यात्मसार एवं अध्यात्मोपनिषद्^{११२} में भी स्वभाव और परभाव (विभाव)

को कर्म के शुभाशुभत्व के मूल्यांकन का आधार माना है । उनके अनुसार नैतिकता इस बात पर निर्भर करती है कि जीव कितना निज स्वभाव में स्थित है, जितनी निज स्वभाव में अवस्थिति है उतनी ही नैतिकता है और जितनी परभाव, परद्रव्य या परपर्यायों में अवस्थिति है उतनी ही अनैतिकता है अर्थात् जब जीव ज्ञाता-द्रष्टा रूप आत्म-स्वभाव में सुस्थित रहता है तब वह स्वसमय है और जब वह मोह, राग-द्वेष वश परद्रव्य, पौद्गलिक पर्यायों अथवा विभाव दशा में रत रहता है, तब उसे परसमय कहा जाता है ।

गीता में भी इस स्वभाव को नैतिक प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते हुए यह कहा है कि ज्ञानवान अपनी प्रकृति के अनुरूप ही कर्म करते हैं । सभी प्राणी अपने स्वभाव की ओर जा रहे हैं ।^{१३}

इस प्रकार आचारांग^{१४} के अनुसार समता ही आत्मा या चैतन्य का शुद्ध स्वभाव है और विषमता विभाव है । समता से निष्पन्न आचरण सदाचरण है और विषमता से निःसृत आचरण असदाचरण है । आचारांग में नैश्चयिक (वैयक्तिक) दृष्टि से समता को ही सदाचार या नैतिकता का प्रतिमान स्वीकार किया गया है । इस तरह काण्ट के नीतिशास्त्र और आचारांग दोनों में स्वस्वभाव के रूप में समभाव पर बल दिया गया है ।

(३) स्वयं साध्य का सूत्र :

काण्ट का तृतीय सूत्र यह है कि इस प्रकार कर्म करो जिससे समस्त मानवता को, चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व के रूप में हो या किसी अन्य व्यक्ति के रूप में हो, सदैव साध्य समझो, साधन नहीं । यह आदेश झूठ, चोरी, धोखा, शोषण, चापलूसी आदि का निषेध करता है । इसका सरल आशय यह है कि अपने सहित समस्त मानव-मात्र के प्रति कभी भी साधन के रूप में नहीं, अपितु साध्य के रूप में ही व्यवहार करो । उदाहरण के तौर पर हम यह कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति न तो दूसरे की चीज चुरा सकता है और न दूसरे के द्वारा स्वयं का माल चुराने के लिए अनुमति दे सकता है । इस सूत्र के अनुसार दोनों ही वर्जित हैं क्योंकि एक में दूसरा और दूसरे में पहला ही व्यक्ति साधन बन जाता है । मानवता स्वयं साध्य है । न तो हमें दूसरे के हित का साधन बनना है और न दूसरों को अपने हित का साधन बनाना है । यदि मनुष्य स्वयं अपनी आत्मा को दूसरे के हाथ की कठपुतली बनाता है तो उसका आचरण अनैतिक ही कहा जायगा और यदि दूसरों की आत्मा को अपने

स्वार्थ का साधन बनाता है तो वह कर्म भी अनैतिक ही कहा जायगा। यह सूत्र भी काण्ट के प्रथम सूत्र की भाँति ही सदगुण-दुर्गुण या शुभा-शुभत्व का प्रतिमान है।

आचारांग में भी काण्ट की उपर्युक्त मान्यता के अनुरूप विचार उपलब्ध होते हैं। उनमें कहा है कि 'णो अत्ताणं आसा एज्जा णो परं असाएज्जा'^{११५} साधक को चाहिए कि वह न तो अपनी आत्मा की आशा-तना या अवहेलना करे और न दूसरों में प्रतिष्ठित आत्मा की अवहेलना करे। यदि हम कोई ऐसा आचरण करते हैं जिसमें हमारी आत्मा अथवा दूसरों की आत्मा की अवज्ञा होती है तो निश्चित ही वह कर्म अनैतिक होगा। यह सूत्र हमें कर्म के शुभाशुभत्व को परखने को दृष्टि देता है। सरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि हम अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी व्यक्ति या जीव को साधन बनाकर अपना स्वार्थ साध लें तो वह आचरण अनुचित होगा और यदि हम उसकी स्वार्थ पूर्ति का साधन बन जाँय अथवा वह हमें अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाकर अपना काम साध लें तो वह भी अनैतिकता ही होगा। इतना ही नहीं, अपितु आचारांग काण्ट से भी एक कदम आगे जाकर जगत् के समस्त प्राण, भूत, सत्त्व और जीवों की अवहेलना नहीं करने पर बल देता है।^{११६} सबको आत्मौपम्य की दृष्टि से देखने की बात कहता है। सूत्रकार कहता है कि न तो अपनी आत्मा का अपलाप (निषेध) करें और न लोक की आत्मा का अपलाप (निषेध) करें, क्योंकि जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है वह लोक की आत्मा का अपलाप करता है और जो लोक की आत्मा का अपलाप करता है वह अपनी आत्मा का अपलाप करता है।^{११७}

काण्ट के उपर्युक्त सूत्र में सबके प्रति समान एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने का भाव अन्तर्निहित है। आचारांग, भी तुल्य व्यवहार के रूप में इस विचार का समर्थन करता है। वही व्यक्ति आत्म-अभ्युदय कर सकता है, जो अपनी और विश्व की समस्त आत्माओं की वेदना को समान जानकर उनके प्रति तुल्यता का व्यवहार करता है।^{११८}

(४) स्वतंत्रता का सूत्र :

काण्ट का स्वतंत्रता का सूत्र उसके प्रथम सूत्र में अन्तर्भूत व्याख्या का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता का या समानता का अधिकार है। हमें किसी परम शुभ की प्राप्ति हेतु अपने संकल्प का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र होना

चाहिए। यदि हम सार्वभौम-विधान या नियम में स्वतंत्रता का अनुभव नहीं करते हैं तो हमारा कर्म अनैतिक है। सार्वभौम नियम में ही स्वतंत्रता की सिद्धि होती है। इस दृष्टि से यह सूत्र भी आत्मोपम्य भावना का प्रतिपादन करता है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम कह सकते हैं कि इस सूत्र में सन्नहित भाव आचारांग में अहिंसा सिद्धान्त के रूप में उपलब्ध हैं और इसे ही नैतिकता की कसौटी माना गया है। आचारांग में आत्मा की स्वतंत्र शक्ति को भी व्यक्त किया गया है।^{११९} आत्मा का उत्थान-पतन आत्मा पर ही निर्भर है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि काण्ट के विचार आचारांग की मान्यता से बहुत कुछ समानता रखते हैं।

(५) साध्यों के राज्य का सूत्र :

काण्ट को साध्यों के राज्य का सूत्र भी यही प्रतिपादित करता है कि सबको समान मूल्य वाला समझो। नैतिकता का यह सूत्र सार्वभौम नियम है। इस सूत्र में निहित भाव आचारांग में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के रूप में देखे जा सकते हैं। अहिंसा ही सामाजिकता के विस्तार का हेतु है। पारस्परिक व्यवहार को 'सर्वथा अविरोधी' बनाना अहिंसा की पहली शर्त है। इस दृष्टि से दोनों में विचार साम्य है।

निष्कर्ष यह है कि काण्ट के सभी नीति-सूत्रों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी-न-किसी रूप में समत्व, अनासक्ति, आत्मोपम्य दृष्टि के भाव ध्वनित हैं। इस प्रकार काण्ट का दृष्टिकोण आचारांग के दृष्टिकोण के अत्यधिक निकट प्रतीत होता है।

काण्ट और आचारांग :

काण्ट इन्द्रिय-निग्रह का प्रबल पक्षपाती है। वह अपने दर्शन में इच्छाओं, वासनाओं और मनोवेगों के दमन पर जोर देता है। काण्ट द्वारा प्रस्तुत 'निग्रह' या 'दमन' का प्रत्यय आचारांग में भी स्वीकृत रहा है। उसमें देह-दमन एवं इन्द्रिय निग्रह पर काफी बल दिया गया है। आचारांग में कहा गया है कि साधक को भावस्रोत का परिज्ञान कर तथा दमनेन्द्रिय बन संयम में विचरण करना चाहिए।^{१२०} उसमें यह भी निर्देश है कि मोक्ष के इच्छुक साधक को कामनाओं को छिन्न-भिन्न कर डालना चाहिए।^{१२१}

आचारांग में देह-दमन के सन्दर्भ में लिखा है कि प्रज्ञाप्राप्त मुनि की बाहें कृश होती हैं, उनके शरीर का रक्त और मांस सूख जाता है।^{१२२} वास्तव में इच्छाओं, वासनाओं का दमन मनोवैज्ञानिक दृष्टि-

१०६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

कोण से नितान्त असमोचीन प्रतीत होता है, क्योंकि यह मन को दूषित बना देता है। इन कामनाओं को दबाने के बजाय उनका ऊर्ध्वीकरण करना चाहिए। उत्तराध्ययन^{१२३} एवं धम्मपद^{१२४} में भी उर्ध्वीकरण सम्बन्धी विचार उपलब्ध होते हैं।

काण्ट कहता है कि शुभ-संकल्प या परम आदेश परिस्थिति विशेष पर अबलम्बित नहीं हैं। शुभ संकल्प सदैव शुभ होगा। वह परिस्थिति विशेष में अशुभ नहीं हो सकता। परिस्थितिजन्य आदेश कारण सापेक्ष आदेश हैं। वह अपने आचार-दर्शन में नैतिकता के दोनों रूपों को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। वह केवल निरपेक्ष नैतिकता पर ही पूरा बल देता प्रतीत होता है। उसने अपने नैतिक नियमों में न तो आपवादिक मार्ग को स्थान दिया है और न उसकी सापेक्षता को ही स्वीकार किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर आचारांग और काण्ट के विचारों में थोड़ा मतभेद है जबकि आचारांग में नीति के निरपेक्ष एवं सापेक्ष दोनों पक्ष उपलब्ध हैं तथा उनमें औत्सर्गिक-आपवादिक मार्ग की भी चर्चा की गई है।

काण्ट जीवनके ज्ञानात्मक पहलू पर ही बल देता है। विशुद्ध विवेक-मय जीवन ही काण्ट के सिद्धान्त का परम आदर्श है। वह अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में आत्मा के भावात्मक पक्ष की पूर्णतः अवहेलना करता है।

तुलनात्मक दृष्टि से आचारांग की ओर दृष्टिपात करने पर यह कहा जा सकता है कि उसमें भी ज्ञानपक्ष अर्थात् केवल ज्ञान को नैतिक जीवन का साध्य माना गया है। यद्यपि आचारांग में स्पष्ट रूप से सीधे सीधे कहीं केवलज्ञान या 'केवल' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु अणेलिसन्नाणि णाणी, जोगं च सब्ब सा णच्चा सब्बसमण्णागयपण्णा-णेण^{१२५}-जैसे शब्दों द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। इससे स्पष्ट है कि आचारांग की रचना के समय ऐसे पारिभाषिक शब्दों का निर्माण नहीं हुआ था।

इस प्रकार दोनों में वैचारिक समानता दृष्टिगत होती है, परन्तु साथ ही, आचाराङ्ग चेतनामें भावात्मक एवं संकल्पात्मक (दर्शन और चारित्र) पक्ष की भी उपेक्षा नहीं करता है। उसमें नैतिकता को परिपूर्णता के लिए अन्तदर्शन, अनन्तचारित्र एवं अनन्तसौख्य को महत्त्वपूर्ण माना गया है अर्थात् इन तीनों की समन्वित उपस्थिति को ही नैतिक जीवन का चरम आदर्श माना गया है।

आचारांग में कहा है कि जो अनन्य (चैतन्य स्वरूप) को देखता है वह अनन्य (चैतन्य स्वरूप) में रमण करता है।^{१२१} रत्नत्रय की भाषा में कह सकते हैं कि आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान, आत्मा को देखना सम्यग्दर्शन और आत्म-रमण करना सम्यक् चारित्र है।

उपर्युक्त सूत्र से दर्शन और चारित्र का स्पष्ट दर्शन होता है, परन्तु यहाँ दर्शन में ज्ञान अन्तर्भूत है, क्योंकि दोनों सहभावी हैं। इस प्रकार आचाराङ्ग चेतना या आत्मा के तीनों पहलुओं पर समान बल देता है जबकि काण्ट इन तीनों की चर्चा नहीं करता है। यहाँ आचाराङ्ग काण्ट के विचारों से पुनः पृथक् पड़ जाता है।

काण्ट के सिद्धान्त को कठोरतावाद भी कहा जाता है। वह मनुष्य के नैतिक जीवन में भावात्मक तत्त्व को नितान्त अस्वीकार करता है अर्थात् उसके अनुसार ऐसा कोई भी कर्म नैतिक नहीं हो सकता जो भाव या संवेग से सम्प्रेरित होता हो। यहाँ तक कि उसके अनुसार श्रद्धा-आस्था दया-प्रेम, करुणा, क्षमा आदि से प्रेरित कोई भी आचरण नीति सम्मत नहीं है। दूसरे, उसे अपने नैतिक नियमों में किसी तरह का अपवाद-मार्ग स्वीकार्य नहीं है। वह कहता है कि बौद्धिक नियम, नैतिक नियम है और नैतिक नियम उस सिद्धान्त को प्रस्थापित करता है जिसमें अपवाद या आपद्धर्म के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। इस प्रकार वह भावना एवं अपवाद मार्ग को पूर्णतः अस्वीकार कर देने के कारण अपने आचरण-शास्त्र को आवश्यकता से अधिक कठोर बना देता है और इन्हीं कारणों से उसकी नीति बहुत शुष्क एवं कठोर हो जाती है।

आचारांग में भी कठोरतावाद के दर्शन होते हैं। उसमें श्रमण-जीवन के लिए कठोरतम नियमों का विधान है। कठोरतम नियमों के विधान के वावजूद उसमें देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अपवाद मार्ग का भी विधान है। साथ ही, आचारांग हमें भावपक्ष-जैसे दया, क्षमा, करुणा, श्रद्धा, सत्य, शील, सन्तोष, आत्म-संयम, दृढ़ संकल्प आदि सद्गुणों या सद्भावों के विकास का पाठ सिखाता है। उसे कठोरतावाद इसी रूप में कहा जा सकता है कि उसका आचार-विधान, तप एवं ध्यान-मार्ग अतीव कठोर है। वह देहोत्पीड़न एवं इन्द्रियों को सुखा डालने तक की बात कहता है। सामान्यजन के लिए उन कठोर आचार-नियमों का सम्यक् रूपेण पालन करना बड़ा कठिन है। आचारांग^{१२७} में तप एवं ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कल्याणात्मा को जीर्ण-शीर्ण एवं सुखा डालने की बात कही गई है। कठोर तपश्चरण के द्वारा

१०८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

साधक रक्त और मांस को कम या अलग कर देता है।^{१२८} आचारांग में स्वीकृत कठोरतावाद ईसाई धर्ममें संन्यासवाद के रूप में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि 'जीवित रहने के लिए मर जाओ' तात्पर्य यह कि वहाँ भी आचारांग के समान आत्मोद्धार के लिए देहोत्पीड़न की बात मान्य है।

आत्मपूर्णतावाद और आचारांग :

नीतिशास्त्र में आत्मपूर्णतावाद का सिद्धान्त आत्म-सिद्धिवाद, आत्म-साक्षात्कारवाद, आत्म-कल्याणवाद आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। यह सिद्धांत बहुत प्राचीन है। फिर भी हेगेल, ग्रीन, ब्रैडलें और बोसांके ने इसे और अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। पूर्णतावाद आत्म-पूर्णता को ही नैतिक जीवन का चरम आदर्श मानता है और इसे ही कर्म के शुभाशुभत्व के मूल्यांकन के लिए अन्तिम मानदण्ड के रूप में स्वीकार करता है।

सुखवाद आत्मा को विशुद्ध रूप से इन्द्रियमय मानता है एवं उसकी संतृप्ति को परम शुभ कहता है अर्थात् सुख या भोग को ही नैतिक जीवन का परम साध्य मानता है। बुद्धपरतावाद के अनुसार विशुद्ध बुद्धिमय जीवन ही नैतिक परमसाध्य है। इस प्रकार ये दोनों मत एकांगी हैं। पूर्णतावाद ने इन दोनों सिद्धान्तों की एकांगिता से ऊपर उठकर वासना एवं विवेक-इन दोनों पक्षों का समन्वय कर एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वह आत्मा को वासनामय एवं विवेकमय दोनों ही मानते हुए पूर्ण आत्मा की सिद्धि को सर्वोच्च नैतिक जीवन का साध्य मानता है।

मध्ययुगीन ईसाई धर्माचार्यों ने भी आत्म-पूर्णता पर विशेष बल दिया। ईसामसीह कहते हैं कि 'तुम वैसे ही पूर्ण बन जाओ जैसे स्वर्ग में तुम्हारे पिता हैं।'

हेगेल का नैतिकता का आदर्शात्मक दृष्टिकोण उसकी एक उक्ति से स्पष्ट हो जाता है 'व्यक्ति बनो और व्यक्तित्व के रूप में दूसरों का सम्मान करो।' इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य व्यक्तित्व लाभ है। हम अपने व्यक्तित्व-निर्माण या आत्म-साक्षात्कार के लिए अधिकतम क्षमता अर्जित करें और दूसरों के व्यक्तित्वों का आदर करें। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य प्रज्ञा (विवेक) के द्वारा निम्न स्तरीय आत्मा अर्थात् वासनामय आत्मा पर नियंत्रण करे।

इस प्रकार पाश्चात्य एवं भारतीय सभी मोक्षलक्षी आचार-दर्शन किसी न किसी रूप में पूर्णतावाद का समर्थन करते हैं।

नैतिकसाध्य के सन्दर्भ में आचारांग आत्म-पूर्णता (चेतना के ज्ञान, भाव एवं संकल्प इन तीनों के पूर्ण प्रकटन) को स्थान देता है। यहाँ पूर्णतावाद एवं आचारांग द्वारा प्रतिपादित सामान्य तत्त्वों का तुलनात्मक विचार अपेक्षित है।

जिस प्रकार पूर्णतावाद आत्म-सिद्धि के लिए प्रज्ञा एवं भावना दोनों को समान महत्त्व देता है उसी प्रकार आचारांग में भी नैतिक साध्य की उपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार के लिए चेतना के दोनों पक्षों को समान रूप से स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि त्रिविध पुरुष परम (मोक्ष) को जानकर (हिंसादि में आतंक देखता है) जो (हिंसादि में) आतंक देखता है वह पापकर्म या अनैतिक आचरण नहीं करता। वह अग्र और मूल का विवेक कर आत्मदर्शी (आत्मद्रष्टा) बन जाता है।^{१२९}

यहाँ 'परम' का अर्थ सत्य मा मोक्ष है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र्य भी परम के साधन होने के कारण परम कहे गये हैं। अतः परम का ज्ञाता पुरुष पाप का अनुबन्ध न करता है न करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है।^{१३०} सूत्रकार कहता है कि हे धीर पुरुष! तू इस प्रकार (जागरूकता, ज्ञान, सहिष्णुता, मैत्री, करुणा, दया आदि) के सदाचरण के द्वारा सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जायेगा।^{१३१}

जिस प्रकार पूर्णतावाद नैतिक साध्य की प्राप्ति के लिए प्रज्ञात्मक या ज्ञानात्मक आत्मा के द्वारा इन्द्रियमय आत्मा का संयमन एवं परिमार्जन आवश्यक मानता है, उसी प्रकार आचारांग भी इस बात पर बल देता है कि निम्न आत्मा (विषय-कषायात्मा) को ज्ञानात्मा से अनुशासित होना चाहिए। यही कारण है कि आचारांग में स्थान-स्थान पर राग-द्वेष, विषय-कषाय, प्रमाद, आसक्ति आदि के पूर्ण संयमन एवं निग्रह पर बल दिया गया है। वह राग या वासना के पूर्ण परिमार्जन, परिष्करण या उदात्तीकरण का पक्षधर है, उसके कुचल डालने का नहीं। सूत्रकार कहता है कि त्रिविध ज्ञानो पुरुष को चाहिए कि वह अपने अन्तर्मन को विषय-कषयों की अग्नि से प्रज्वलित न होने दे।^{१३२} क्योंकि विषय-कषायों की उपस्थित में धर्म की उपलब्धि सम्भव नहीं हो सकती है। आचारांग में कहा है कि जिन पुरुषों की कषाय या देहासक्ति मृत जैसी होती है, वे ही पुरुष धर्म के यथार्थ स्वरूप को जान पाते हैं और धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले पुरुष ही ऋजु या ज्ञानी कहलाते हैं।^{१३३} ज्ञानी पुरुष अपनी निम्न आत्मा को किस प्रकार संयमित और जागरूक

११० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

रखते हैं, इस सन्दर्भ में सूत्रकार कहता है कि विपुल ज्ञानी विपुलदर्शी, उपशान्त सम्यक् प्रवृत्ति करने वाले ज्ञानादि गुणों से युक्त एवं इन्द्रिय-जयी पुरुष अपनी अध्यात्म साधना में बाधा उत्पन्न करने वाले परीषह विशेष रूप से स्त्रीपरीषह के प्रसंग उपस्थित होने पर अपनी आत्मा को अनुशासित करते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य से विचलित करने के लिए उपस्थित स्त्री आदि को देखकर अपने मन में पर्यालोचन करते हैं कि आत्मनः 'किमेस जणोकरिस्सति ? एस से परमारामो जाओ लोमसि इत्थिओ'^{१३४} यह जन स्त्री मेरा क्या कर लेगा ? यद्यपि लोक में जितनी स्त्रियाँ हैं वे परम आराम रूप हैं (अर्थात् मोहोदय का मूल कारण हैं) किन्तु मैं तो सहज सुखी हूँ वे मुझे क्या सुख दे सकती हैं ?

इस प्रकार ज्ञानी अपने सम्यग्ज्ञान के द्वारा विषम परिस्थितियों में भी अपने आपको संयमित तथा सन्तुलित बनाए रखता है। वह राग से अनुरक्त होता है और न द्वेष-दिष्ट। वह आत्मविद् मुनि शब्दादि विषयों को इतना परिष्कृत कर लेता है कि उनसे तनिक भी प्रभावित नहीं होता, अपितु उनके बीच रहकर भी सदा निर्लिप्तता का अनुभव करता है।^{१३५} कहा गया है कि जो अपनी प्रज्ञा से लोक के स्वरूप को जानता है वही मुनि कहलाता है और वह संग (आसक्ति) को स्रोत (जन्म मरण चक्र के उद्गम) के रूप में देखता है।^{१३६}

यहां 'मुनि' शब्द का प्रयोग 'ज्ञानी' के अर्थ में आया है, क्योंकि यह शब्द प्राकृत की ज्ञानार्थक 'गुण' धातु से निष्पन्न है। आचारांग की साधना पद्धति से जानने-देखने या साक्षी भाव को महत्त्वपूर्ण माना गया है। जानना-देखना सम्पुष्ट होने पर धीरे-धीरे आसक्ति या विषय-वासनाएं अपने आप क्षीण होती चली जाती हैं। इस प्रकार आचारांग के विचार से ज्ञानी पुरुष आत्मगुप्त (संयमित) होकर सदा संयम-साधना में विचरण करता है।

आचारांग भी यह मानता है कि आत्म-त्याग के द्वारा आत्म-लाभ सम्भव है अर्थात् कषायात्मा के त्याग से ही विशुद्ध द्रव्यात्मा को उपलब्धि होती है। आचारांग में विषय-कषाय एवं आसक्ति-त्याग का तथ्य ज्ञानादिगुणों की प्राप्ति का पदे-पदे निर्देश है। इन्द्रियों को वहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोककर निष्कर्म बनने का उपदेश है।^{१३७} यह भी कहा है कि राग-द्वेष, विषय-कषाय रूप आवर्त स्रोतों का सम्यक्तया निरीक्षण कर ज्ञानी पुरुष उससे विरत हो जाए। स्रोतों (इन्द्रिय-विषयों) का त्याग कर निष्क्रमण करने वाला महान् साधक कर्मावरण रहित

(निरावरण) होकर जानता-देखता है।^{१३८} इस स्थिति में उसे विशुद्ध द्रव्यात्मा की उपलब्धि हो जाती है। फिर उस कर्म मुक्त आत्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता।^{१३९} आचारांग के अनुसार यही अहिंसक तथा निरावरण द्रष्टा का दर्शन है।^{१४०} आचारांग में कषायात्मा का त्याग और द्रव्यात्मा की उपलब्धि के सम्बन्ध में गहन चिन्तन है।^{१४१} यह भी कहा है कि साधक कोपादि कषायों को क्षीण कर निश्चल (स्थिर) हो जाए।^{१४२} उसमें कषायात्मा के त्याग पर बार-बार इसलिए बल दिया है कि वह शुद्धात्मा की प्राप्ति में बाधक हैं। कषायों की उपस्थिति में योगों में स्थिरता भी नहीं आती। अतएव पूर्णतावाद और आचारांग अधिक निकट है।

जिस प्रकार पूर्णतावाद यह स्वीकार करता है कि अपने अन्दर निहित अव्यक्त क्षमताओं को पहचान कर उन्हें पूर्णतया विकसित करने का प्रयास करना चाहिए उसी प्रकार आचारांग भी आत्म-स्वरूप को पहचान कर अपनी क्षमतानुसार आत्मपूर्णता के लिए वैयक्तिक रूप से जागरूक रहने तथा सतत् पुरुषार्थ करने पर बल देता है। इस सन्दर्भ में वह मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार करता है। उसके अनुसार आत्म-स्वरूप को पहचान कर तदनुरूप उस दिशा में सतत् पुरुषार्थ या साधना करने का एक मात्र उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही है और मोक्ष, आत्म-पूर्णता की स्थिति है। वस्तुतः आत्मा या चेतना का जो स्वस्वभाव है, उसे प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है। इस प्रकार आचारांग की दृष्टि से आत्म-पूर्णता का अभिप्राय हमारे अन्दर रही हुई बीज रूप क्षमताओं या शक्तियों को पूर्ण विकसित कर लेने से है और ये बीजरूप क्षमताएं सतत् साधना एवं परिश्रम के द्वारा ही पूर्णतः प्रकटित हो सकती हैं। कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष को अपने परम सत्य के प्रति कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए अपितु उसे वीर (पराक्रमी), अप्रमत्त और आत्मगुप्त होकर सतत् पुरुषार्थ करना चाहिए।^{१४३}

इस प्रकार आचारांग के विचार से नैतिक व्यक्ति स्वस्वभाव से सम्बद्ध है और वह उस स्वस्वभाव को प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयास करता रहता है। वस्तुतः आचारांग की मान्यता के अनुसार पूर्णात्मा बनने के लिए आत्मजागरूकता और अथक पुरुषार्थ आवश्यक है।

अन्तर्दृष्टि जाग जाने पर भी साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। इस बात को दृष्टिगत रखकर सूत्रकार कहता है कि साधक को चाहिए कि वह सतत् अप्रमत्त (जागरूक) रहते हुए पुरुषार्थ करने में

११२ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

संगलन हो जाए।^{१४४} इस दृष्टि से आचारांग पूर्णतावाद के द्वारा प्रतिपादित मान्यता का समर्थक है।

पूर्णतावादी विचारक मानते हैं कि नैतिकता एक आदर्श है। आदर्श आत्मा शाश्वत एवं अनन्त विकास की प्रक्रिया है। पूर्णतावाद और विशेष रूप से ब्रंडले का मत है कि जितनी अधिक नैतिक प्रगति होती है उतना ही नैतिक आदर्श दूरस्थ एवं उच्चतर होता जाता है। अनन्त विकास की प्रक्रिया भी अनन्त है वह कभी समाप्त नहीं होती। इस सन्दर्भ में आचारांग और पूर्णतावाद में थोड़ा विचार-भेद परिलक्षित होता है। आचारांग भी पूर्णतावाद के समान यह तो मानता है नैतिक जीवन एक आदर्श आत्मा की अनन्त विकास की प्रक्रिया है, किन्तु साथ ही वह उस परम आदर्श के यथार्थ बन जाने में भी विश्वास प्रकट करता है, जबकि पूर्णतावाद इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता। आचारांगकार की मान्यता है कि हम सतत् परिश्रम एवं साधना के द्वारा अपनी आत्मा में निहित अनन्त अव्यक्त शक्तियों को प्रस्फुटित कर पूर्णता तक पहुँच सकते हैं। हम इसी जीवन में समस्त कर्मों को क्षय करके नैतिक साध्य (मोक्ष) को प्राप्त कर सकते हैं। इस अवस्था में हमारी मूलभूत क्षमताएं पूर्णतः अभिव्यक्त हो जाती हैं इसीलिए कहा गया है कि जो कर्मक्षय करने की प्रक्रिया को जानता है और जो मुक्ति या मोक्ष-मार्ग को जानता है वह कर्म-क्षय की प्रक्रिया को जानता है।^{१४५}

कर्म-क्षय की प्रक्रिया आभ्यन्तर साधना से ही सम्भव है। इसीलिए सूत्रकार कहता है कि हे पुरुष। तू अपना ही निग्रह कर^{१४६} अर्थात् बहिर्मुखी प्रवृत्ति से हटकर भीतर की गहराई में पहुँचकर अपनी वृत्तियों को देख। भीतर स्थित होकर मन के वास्तविक स्वरूप को जान, मन के यथार्थ-स्वरूप को जान लेने पर या आन्तरिक वृत्तियों पर विजय पा लेने पर तू समस्त दुःखों से मुक्त हो जाएगा। इस सन्दर्भ में स्वयं सूत्रकार का कथन है कि साधक (श्रुत एवं चारित्र) धर्म को अपना कर इसी जीवन में आत्म-साक्षात्कार कर लेता है।

पूर्णतावादी ब्रंडले ने मनुष्य बनने के लिए सामाजिक नैतिकता को आवश्यक माना है, किन्तु सामाजिक नैतिकता ही नैतिक जीवन का अन्तिम आदर्श नहीं है, अपितु उसके अनुसार इससे भी ऊपर उठकर एक निर्द्वन्द्व, असीम या निरपेक्ष सत्ता का स्तर है और उसे प्राप्त कर लेना ही आत्म साक्षात्कार की स्थिति है और यही उसकी आदर्श-नैतिकता है। आचारांग में भी सामाजिक नैतिकता या सापेक्ष नैतिकता की विवेचना

की गई है किन्तु उसे ही नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड नहीं माना गया है। अपितु उससे ऊपर उठकर निरपेक्ष नैतिकता को मान्यता दी गयी है जो जीवन का परम आदर्श है। अन्य दृष्टि से उममें सामाजिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक नैतिकता को महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह स्वोप-लब्धि आत्मोपलब्धि अथवा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है जो कि एक निर्द्वन्द्व, निराकुलता एवं निरपेक्षता की अवस्था है। इस प्रकार आचारांग में आत्मा की स्वभाव-दशा को ही नैतिक जीवन का साध्य स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि जितनी स्व-स्वरूप में रमणता होती है उतनी ही नैतिकता है।^{१४७} यही वैयक्तिक दृष्टि से नैतिकता का मानदण्ड है।

आचारांग भी नैतिकता के आन्तरिक पक्ष-चारित्रिक विकास एवं निम्न पाशविक वृत्तियों के परिष्कार पर बल देता है। उसमें काम-क्रोध लोभ-मोह, वासना, आसक्ति आदि को मात्र दबाने या नियंत्रित रखने का ही उपदेश नहीं है, अपितु स्थान-स्थान पर यह निर्देश है कि साधक अपनी प्रज्ञा या विवेक बुद्धि के द्वारा सम्यक् रूप से पर्यालोचन कर पाशविक वृत्तियों पर संयमन करें। आचारांग में कहा गया है कि अरति (चैतसिक उद्वेग) का निवर्तन करने वाला मेधावी काम-वासनाओं के बन्धन से क्षण भर में मुक्त हो जाता है।^{१४८} चारित्रिक विकास होने पर उसकी अन्तःप्रज्ञा या अन्तर्विवेक जाग जाता है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति के लिए सभी पाप-कर्म अकरणीय होते हैं।^{१४९} क्योंकि उसका आन्तरिक (चारित्रिक) विकास इतना हो गया होता है कि वह अलोभ से लोभ को पराजित करता हुआ प्राप्त काम-भोगों का भी आसेवन नहीं करता है। मात्र यही नहीं, अपितु लोभ पर विजय पाने वाला व्यक्ति आवरण रहित होकर केवल साक्षि-भाव से जानता-देखता है।^{१५०}

इसीलिए आचारांग में यह कहा गया है कि 'पडिलेहाण णावकंखति एस अणगारेत्ति पवुच्चति' अर्थात् (हिताहित की) सम्यक् समीक्षा करने वाला व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों की आकांक्षा नहीं करता और नैतिक दृष्टि से वही सच्चा अणगार है।^{१५१}

आचारांग में प्रतिपादित उक्त विवेचन का आशय यह है कि साधक जब इन्द्रिय-जन्य क्षुद्र पाशविक वासनाओं के परिणामों का विचार कर उनकी निःसारता और नश्वरता को पूरी तरह से जान लेता है तब उसके मन में उनके प्रति किसी तरह का लगाव पैदा नहीं होता। वह अपने आत्म-हित का पर्यालोचन करता है तो उनके कटु परिणाम उसकी

११४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आखों के सामने घूमने लगते हैं। फलतः वह उनसे विरक्त हो जाता है। इस चिन्तन-मनन से प्रत्युत्पन्न वैराग्य स्थायी एवं सुदृढ़ होता है। इस उच्चतर या आन्तरिक विकास की अवस्था में उसकी काम वासनाएं या तो पूर्णतः क्षय हो जाती हैं या फिर उनका इतना उदात्तीकरण हो जाता है कि उसे अपनी साधना से स्वलित होने का किञ्चित भी भय नहीं रह जाता क्योंकि उसने अपनी निम्न मनोवृत्तियों को दबाया नहीं, प्रत्युत प्रज्ञा के प्रकाश में उनका क्षय कर दिया है या उन्हें परिष्कृत कर लिया है। इस प्रकार वह साधक वासनाओं का उध्वीकरण करते हुए शीघ्र गति से आगे बढ़ता रहता है।

आचारांग के इसी उद्देशक में निर्दिष्ट अन्य साधकों की भांति पुनः वह विषयों की ओर लौटता नहीं है।^{१५२} आचारांग में सूत्रकार ने अरति-प्राप्त साधकों की मनोदशा का चित्रण भी किया है। संक्षेप में, ऐसा साधक न तो गृहस्थ होता है और न मुनि अर्थात् न तो इस संसार का आस्वादन कर पाता है और न मोक्ष सुख का।^{१५३}

इससे स्पष्ट है कि आचारांग में आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिए त्याग-वैराग्य, आभ्यन्तर साधना पर विशेष बल दिया गया है, न कि बाह्य आचार या वेश पर। यही कारण है कि आचारांग में 'लद्धे कामे णा मिगाहइ' कहकर सच्चे त्यागी का लक्षण दिया गया है। अन्य शब्दों में यही तथ्य दशवैकालिक में भी दुहराया गया है।^{१५४} तुलनात्मक दृष्टि से आचारांग का यह आत्मनिष्ठता या अन्तर्मुखी साधना का तत्त्व सत्तावाद (अस्तित्ववाद) की आत्मनिष्ठ नैतिकता का समानार्थक ही है। सत्तावादियों में भी विशेषतः किर्कगार्ड आत्म-निष्ठ नैतिकता का ही समर्थक है। उसकी दृष्टि से नैतिकता वस्तुनिष्ठता (बहिर्मुखता) से आत्म-निष्ठ (अन्तर्मुखी) बनने की स्थिति है। आचारांग की शब्दावली में इसे विभाव दशा से स्वभाव दशा में आना कहा गया है। यह स्वभाव दशा चेतना के समत्व की स्थिति है और यही आत्म-साक्षात्कार है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचारांगकार को वासनाओं का मात्र दमन अभिप्रेत नहीं है। वस्तुओं के उपलब्ध नहीं होने से कोई व्यक्ति सच्चा त्यागी नहीं माना जा सकता। सच्चा त्यागी बनने के लिए काम-वासनाओं का त्याग अनिवार्य है। इसके बिना आन्तरिक विकास सम्भव नहीं है। अतएव आचारांग में कहा गया है कि जब तक इन्द्रिय और मन की दौड़ अन्तर्मुखी है तब तक आत्म-सिद्धि सम्भव नहीं है। सूत्रकार का कथन है कि साधना के पथ पर गतिशील साधक का

यह नैतिक कर्तव्य है कि वह इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोककर मरणधर्मा जगत् में निष्कर्मदर्शी बने।^{१५५}

इससे स्पष्ट है कि आन्तरिक विकास के लिए इन्द्रिय-जन्य अनुभूतियों का दमन नहीं करना है अपितु उसके बहिर्मुखी प्रवाह को मोड़कर मोक्ष की दिशा में नियोजित कर देना है। इस दृष्टि से आचारांग और पूर्णतावाद के विचारों में काफी समानता परिलक्षित होती है। जिस प्रकार पूर्णतावाद एक व्यापक आत्मा की बात करता है उसी प्रकार आचारांग भी एक की व्यापक (पूर्णात्मा) आत्मा की अवधारणा को स्वीकार करता है। आचारांग एवं पूर्णतावादियों की व्यापक आत्मा का आशय राग-द्वेष रहित अर्थात् पूर्ण वीतरागी आत्मा से है। इस अवस्था में वह 'स्व' और 'पर' अथवा अपने और पराये की भेद-बुद्धि से ऊपर उठ जाता है तथा सबके प्रति समान व्यवहार करता है।

सामान्यतया हम देखते हैं कि रागी, राग से दूष्यमान जगत् में (रक्त) होता है और द्वेषी, द्वेष से, जबकि वीतरागी कर्म के उपादन राग और द्वेष इन दोनों अन्तों से दूर रहता है,^{१५६} क्योंकि ये राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही समत्व को भंग करती हैं एतदर्थ ही वह ज्ञानी पुरुष न तो हर्षित होता है और न कुपित।^{१५७} राग-द्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठ जाने के कारण वह प्रत्येक परिस्थिति में समदर्शी बना रहता है। इस अर्थ में आचारांग पूर्णतावादियों की व्यापक आत्मा की अवधारणा के समान ही हमें 'सयंतुल्लमणोसि' के द्वारा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात सिखाना चाहता है।

उपर्युक्त समग्र विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचारांग में आत्मपूर्णता या आत्म-सिद्धि का अर्थ चेतना की ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक शक्तियों की पूर्णता है। इन तीनों पक्षों का अनन्त वीर्य के रूप में अभिव्यक्त हो जाना ही आत्मपूर्णता है। यह वह अवस्था है जिसमें आत्मा पूर्णात्मा बन जाता है। इस दृष्टि से आचारांग और पूर्णतावाद दोनों में काफी विचार-साम्य दृष्टिगोचर होता है।

न केवल आचारांग में ही, अपितु भारतीय विचारधारा में भी आत्म-लाभ की अवधारणा नैतिक जीवन के साध्य के रूप में स्वीकृत रही है। बृहदारण्यकोपनिषद्^{१५८} एवं उपदेशसहस्री^{१५९} में भी आत्म-लाभ सम्बन्धी विचार मिलते हैं। गीता में भी परमात्मा को पूर्ण पुरुष के रूप में माना गया है।

११६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

सन्दर्भ-सूची

अध्याय ४

१. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ९२. २. भगवद्गीता, ३/२१.
३. मनुस्मृति, २/१८, ४/१५६-१५७. ४. महाभारत, शान्तिपर्व २५९/३.
५. भोजप्रबन्ध-४४, उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ८८.
६. जे० एन० सिन्हा, नीतिशास्त्र, प्रका० जयप्रकाशनाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, सन् १९६०, पृ० ६८.
७. मनुसंहिता, ६/४६, १२/३७, ४/१६१ उद्धृत नीतिशास्त्र, अ० ३४, पृ० १३.
८. महाभारत, शान्तिपर्व २५९/३.
९. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, जि० १, पृ० ६९-७० उद्धृत-नीतिशास्त्र, अध्याय ३४, पृ० १४।
१०. वही, ११. सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाक दर्शन अ० १, पृ० ९।
१२. गीता, १६/२३-२४.
१३. यो धम्मं पस्ससि सोमं पस्ससि ।
यो मं पस्ससि सो धम्मं पस्ससि ॥—इतिवृत्तक ५/३
तु० 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' मोमांसादर्शन २.
१४. आचाराङ्ग, १/६/३. १५. वही, १/३/३- १६. वही, १/३/६.
१७. वही, १/२/६. १८. वही, १/३/४. १९. वही, १/४/३.
२०. वही, १/३/३.
२१. निद्देशं नाति वट्टेज्जा आ० मेहावी वही, १/५/६.
२२. वही, १/५/६. २३. वही, १/६/३. २४. वही, १/२/२.
२५. वही, १/६/४. २६. वही, १/६/४.
२७. वही, १/१/३. २८. वही, १/३/३.
२८. उद्धृत-नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १३८.
३०. वही, पृ० १३८-१३९.
३१. डेटा ऑफ एथिक्स (स्पेन्सर) पृ० २१, उद्धृत-नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १९१.
३२. सोशल स्टेटिस्टिक्स, पृ० ७७ उद्धृत-नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, १९५.
३३. सब्बे पाणा पियाउआ सुहसाया दुक्खपडिक्कूला-आचाराङ्ग, १/२/३.
३४. जे अञ्जलत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ, आचाराङ्ग १/१/७.
३५. 'आयंकदंसी अहियंतिणच्च'-आचाराङ्ग १/१/७.
३६. सूत्रकृताङ्ग, १/८/१५. ३८. दशवैकालिक, ६/११.

३८. उत्तराध्ययन, ६/७.
३९. अस्तित्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति, कौषीतक्युपनिषद् (अष्टादश उप-
निषद्) प्रथम खण्ड-प्रका० वैदिक संशोधन मण्डल, पूना प्रथम संस्करण,
शक सं० १८८०, ३/२.
४०. अहिंसा परमोधर्मः सर्वमाणभूतां वरम्, महाभारत (आदिपर्व) ११/१३.
४१. घम्मपद, १५७-१०३ दण्डवग्ग ।
४२. आत्मानं सततं रक्षेत् मनुस्मृति, ७/२१३.
४३. आत्मावैपाणिनापेष्ठ. महर्षि वेदव्यास, भागवतमहापुराण (द्वितीय खण्ड)
गीता प्रेस, गोरखपुर, पंचम संस्करण, सं० २०२१, १०/८०/४०.
४४. आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि, 'हितोपदेश' संग्राहक, श्री नारायण पंडित
चौखम्भा संस्कृत सिरीज बनारस, १९९२ श्लो० ४२.
४५. समयं तत्थु वेहाए,, अप्पाणं विप्पाए-आचाराङ्ग, १/३/३.
४६. ज सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा ।
ज मोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा ॥ आचाराङ्ग, १/५/३.
४७. वही, १/८/४. ४८. वही, १/४/१. ४९. वही, १/४/२.
५०. वही, १/२/३. ५१. वही, १/१/६.
५२. वही, १/२/५. ५३. वही, १/४/२.
५४. सूत्रकृताङ्ग, २/२. ५५. दशवैकालिक, ४/१.
५६. यदा वै सुख छान्दोग्योपनिषद्, ७/२२/१.
५७. दुःखाद्दुःखजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् । महाभारत शान्तिपर्व-
१३९/६१.
५८. सर्वदर्शनसंग्रह (चार्वाक दर्शन), श्लोक १८, पृ० २४.
५९. न्यायवार्तिक, पृ० १३, उद्धृत-नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १३७.
६०. घम्मपद, १०१३१-१३२.
६१. महाभारत (अनुशासन पर्व, ११३/५. ६२. मनुस्मृति, ५/४५.
६३. (अ) सूत्रकृताङ्ग, ३३७ (ब) अभि० राजे० खण्ड ७, पृ० १०१८.
६४. धनपतित्वं सुखकारणत्वात् सुखम् । अभि० राजे० खण्ड ७, पृ० १०१८.
६५. आचाराङ्ग, १/२/३, १/२/५.
६६. वही, १/२/६, १/२/४ एवं गडिद्वए लोए अणुपरियट्टमाणे १/२/५.
६७. वही, १/२/४.
६८. सुह-शुभाध्यवसाये शुभ कल्याण हेतौ मंगल मूते । अभि० राजे० खण्ड ७,
पृ० १०१७.
६९. वही, पृ० १०१७. ७०. आचाराङ्ग, १/५/३.

११८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

७१. अंगुत्तरनिकाय, अनु० भदन्त आनन्दकौशल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, २।७।७.
७२. आचाराङ्ग, १।६।५. ७३. आचाराङ्ग, १।२।२.
७४. धम्मपद, २।१।१.
७५. प्रशमरति प्रकरण, अष्टम् अधि०, गा० १२८.
तु० लोक संज्ञोज्झित साधुः परब्रह्मसमाधिमान् ।
सुखमास्ते गतद्रोह ममतामत्सरज्वरः ॥ अभि० राजे० भा० ६, पृ० ७४१.
७६. निष्क्रमणं सुखं चारित्रं सुखभक्तम्—अभि० राजे० भा० ७ पृ० १८.
७७. आचाराङ्ग, १।२।२. ७८. वही, १।५।६.
७९. संयुक्तनिकाय, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षुधर्मरक्षित, महाबोधि-सभा, सारनाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९५४, ४।३।५।१०।१.
८०. हिन्दी अनुवाद—मेकेन्जी, नीतिशास्त्र प्रवेशिका, पृ० २५१.
सारो परवणाए चरणं, तस्सविय होई निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अब्बावाहं जिणाविति ॥ आचाराङ्ग नियुक्ति गा० १७.
८१. आचाराङ्ग नियुक्ति—
८२. वही । ८३. छान्दोग्योपनिषद्, ७।२३।१.
८४. धम्मपद, १।५।८. ८५. अष्टकप्रकरण (मोक्षाष्टक)—३।२।१-७-८.
८६. श्रीहेमचन्द्राचार्य, योगशास्त्र श्रीविजयकमलकेशर ग्रन्थमाला, चौथी आवृत्ति, वि० सं० १९८०, १।१।६।१.
८७. आचाराङ्ग, १।५।६. ८८. अभि० राजे० कोश, ख० ७, पृ० १०१८.
८९. आचाराङ्ग, १।५।६.
९०. आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथमावृत्ति, सन् १९७७, प्रक०, ३।१।५९-७०-७१.
९१. उत्तराध्ययन, ३।६।६६.
९२. आचाराङ्ग, १।५।४, १।२।४ तु०—उत्तराध्ययन, १।३।१६, १४, १३.
९३. प्रवचनसार, ६३. ९४. प्रशमरतिप्रकरण, ७ अधि० गा०, १०७-८-९.
९५. ज्ञानार्णव, प्रकरण—१८.
९६. अभि० राजे० को०, खण्ड ७, पृ० १०१८.
९७. उद्घृत—नीति० का सर्वे०, पृ० २४०-२४१.
९८. आचाराङ्ग, १।४।१. ९९. सूत्रकृताङ्ग, १।१।२।१८.
१००. उत्तराध्ययन अ० २८. १०१. दशवैकालिक सूत्र, ४।९.
१०२. प्रश्नव्याकरण सूत्र (संवरद्वार), २।५.
१०३. श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं—समाचरेत् यद् यदात्मनि चेच्छतेच्छते तत्त्वरस्यापि चिन्तयेत् महाभारत अनु० पर्व, १।१।६८.

नैतिक प्रमाद और आचारांग : ११९

१०४. सुत्तपिटक, ३।३७।२७. १०५. धम्मपद, १०।१३, १९।९५.
 १०६. गीता, ६।२९-३२. १०७. मनुस्मृति, ६।६०.
 १०८. हितोपदेश (मित्रलाभ), श्लोक-१२-१३, पृ० ८.
 १०९. समयसार-जोवाजीवाधिकार गा० २, एवं प्रबचनसार-ज्ञेयतत्त्वा-
 धिकार गा० २.
 ११०. आनन्दघन चौबीसी-अरनाथ जिनस्तवन गा० २.
 १११. अध्यात्मसार, ३१.
 ११२. श्री उपाध्यायशोविजयजी, अध्यात्मोपनिषद्, केशरबाई ज्ञानभण्डार
 स्थापकसंघवी नगीनदास करमचन्द प्रथम आवृत्ति, वि० सं०
 १९९४, २६.
 ११३. गीता, ३।२. ११४. आचाराङ्ग, १।३.
 ११५. वही, १।६।५. ११६. वही, १।६।५.
 ११७. वही, १।१।४. ११८. आचारांग, १।१।७.
 ११९. 'पुरिसा तुममेब तुममित्त किं बहियामित्तमिच्छसि' । वही, १।३।२.
 १२०. वही, १।३।२. १२१. छिद्रिज्जसोयं लहुमूय गामी, वही, १।३।२.
 १२२. वही, १।६।३. १२३. उत्तराध्ययन, १।१५.
 १२४. धम्मपद, १।४५. १२५. आचाराङ्ग, १।९।१, १।५।३, १।६।१.
 १२६. 'जे अणण्णदंसी' । वही, १।२।६. १२७. वही, १।४।३.
 १२८. वही, १।४।४.
 १२९. एवं अणोमदंसी नि सण्णे पावेहि कम्महेहि वही, १।३।२। देखें १।३।२ पर
 शीलांक, पत्रांक १४७-१४८.
 १३०. वही, शीलांक टी० पत्रांक-१४४-१४७. १३१. वही, १।३।१.
 १३२. वही, १।४।३. १३३. वही, १।४।३.
 १३४. आचारांग शी० टी० १।५।४ पत्रांक, १९७.
 १३५. आचाराङ्ग, १।३।१. १३६. वही, १।३।१.
 १२७. वही, १।४।४. १३८. वही, १।५।६, १।२।२.
 १३९. वही, १।३।१. १४०. वही, १।३।४. १४१. वही, १।४।३.
 १४२. वही, १।४।३. १४३. वही, १।३।३ एवं १।५।६.
 १४४. जहोयराओय-वही, १।४।१
 'पुरिसा, परमचक्खू विपक्कमा' वही, १।५।२.
 उट्ठए णो पमायए वही, १।५।२.
 १४५. वही, १।३।३. १४६. वही, १।३।३. १४७. वही, १।२।६.
 १४८. अरइ' आउट्टे से मेहावी खणंसिमुक्के वही, १।२।२ एवं विमुक्काहु ते
 जणा जे जणा पारगमिणो वही, १।२।२.

१२० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

१४९. से वसुमं सव्वसमण्णागय पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणीज्जपावंकम्मं-
वही, १।५।३.
१५०. लोभं अलोभेण दुगुंछमाणे, लद्धे कामेणाभिगाहइ ।
विणएत्तुं लोभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति-पासति वही, १।२।२.
१५१. 'पडिलेहाए णावकंखति' वही, १।२।२.
१५२. वही, १।२।२।७३.
१५३. 'णो हव्वाए णो पाराए' । वही, १।२।२.
१५४. दशवैकालिक, २।२-३.
१५५. पालिच्छिदेय बाहिरगं च सोयं णिक्कम्मदंसी इह मच्चिर्एहि-आचाराङ्ग,
१।४।४.
१५६. दोहि अन्तेहि अदिस्समाणे । वही, १।३।१.
१५७. तम्हा पंडिए णो हरिसे णो कुज्जे । वही, १।२।३.
१५८. बृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।५.
१५९. श्रीशंकराचार्य, उपदेशसहस्री, भागव पुस्तकालय, वाराणसी, सन्
१९५४, १६।४.



पंचम अध्याय

आचाराङ्ग का नैतिक मनोविज्ञान

मनोविज्ञान और आचार शास्त्र का सम्बन्ध :

मनोविज्ञान यथार्थमूलक विज्ञान है, जबकि आचार-शास्त्र आदर्श-त्मक विज्ञान है। मनोविज्ञान हमारे आचरण, संस्कार एवं आदतों का विश्लेषण करता है और आचार-शास्त्र आचरण की संहिता बनाता है। आचारशास्त्र जीवनमूल्यों या साध्य को व्यवहार में कार्यान्वित करने की व्यवस्था का निर्धारण करता है और मनोविज्ञान जीवन की वास्तविक प्रकृति का अन्वेषण करता है। आदर्श या साध्य की दृष्टि से शुभ या अशुभ का निर्णय या निर्धारण आचार-शास्त्र का विषय है।

आचारांग में मुख्य रूप से श्रमण-जीवन के व्यवहार एवं आदर्श की दृष्टि से विचार किया गया है। इनका आधुनिक मनोविज्ञान एवं नीति-शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि जीवन के साध्य का निर्धारण करने के लिए मानव की यथार्थ प्रकृति को जानना नितान्त आवश्यक है। नैतिक-साध्य का निर्धारण एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है, जहाँ पर मनोविज्ञान एवं आचार-दर्शन दोनों मिलते हैं। दोनों को एक-दूसरे से पूर्णतः विलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य को क्या करना चाहिए? यह बात इस तथ्य पर आधारित है कि मनुष्य क्या है? क्या हो सकता है? उसकी योग्यताएँ एवं क्षमताएँ क्या हैं?

आचारांग में आचार के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को गहराई से रखने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हमारा विचारणीय विषय है कि आचारांग में नैतिकता के सम्बन्ध में किस सीमा तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया गया है।

बन्धन के कारण :

आचारांग का नैतिक आदर्श बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है अतः यह जानना आवश्यक है कि बन्धन के कारण क्या हैं? जैन परम्परा में राग-द्वेष और मोह को बन्धन का कारण माना गया है। अतः आचारांग के सन्दर्भ में इन पर विचार करना अपेक्षित है।

राग-द्वेष और मोह :

जब किसी पदार्थ या व्यक्ति या प्राणी के प्रति लगाव या आकर्षण

१२२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

पैदा होता है तो उसे राग कहते हैं और जब घृणा या विकर्षण पैदा होता है तो उसे द्वेष कहते हैं। मूलतः ये दोनों मोह से पैदा होते हैं। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष अवश्य किसी न किसी के प्रति अन्तर्निहित होता है। अतः आचारांग में राग को ही बन्धन का प्रमुख कारण माना गया है और उससे मुक्त होने का उपदेश है। संसार की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे यह राग वृत्ति ही है। राग-द्वेष से कर्म-संस्कार और कर्म से संसार या जन्म-मरण का चक्र घूमता रहता है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि बन्धन से पूर्ण मुक्ति नहीं हो जाती। बौद्ध भी मोह को संसार का मूल मानते हैं। मूल का उन्मूलन होते ही संसार की परिसमाप्ति स्वतः ही हो जाती है। इसीलिए आचारांग में आत्मा को राग-द्वेष से पृथक् रखकर वैराग्य की दिशा में आगे बढ़ने का निर्देश है।^१ जो साधक राग-द्वेष पर विजय पा लेता है, वही वीतरागता की भूमिका पर स्थित हो सकता है, शुद्ध चैतन्य का अनुभव कर सकता है। समत्व की प्रज्ञा जान जाने पर जितने भी मानसिक दोष हैं, विकार हैं, पाप-प्रवृत्तियाँ हैं, वे समाप्त हो जाती हैं। आचारांग में कहा गया है कि (संसार-वृद्धि के कारण भूत) राग-द्वेष की वृत्ति को समत्वरूपी प्रज्ञा से छिन्न-भिन्न करके मुनि संसार-समुद्र से पार हो जाता है^२ अथवा राग-द्वेष का छेदन कर संयमानुष्ठान में दृढ़ होकर जीवनयापन करता है।^३ दशवैकालिक सूत्र में भी यही कहा है कि राग-द्वेष का छेदन करने से तू संसार में सुखी हो जायगा।^३ धम्मपद में भी कहा है कि साधक राग-द्वेष का उन्मूलन कर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।^४

संसार के सभी मनुष्य दुःखों से पीड़ित हैं और वे दुःखों से मुक्ति की कामना करते हैं। दुःख क्यों होता है? उसका मूल कारण क्या है? क्या मूलकारण के विनाश होने पर दुःखों से छुटकारा मिल सकता है? यदि मूलकारण का विनाश होने पर दुःखों से छुटकारा मिल सकता है तो फिर उसके विनाश का उपाय क्या है और उसमें क्या-क्या प्रतिबन्धक (विघ्न) हैं? दुःख और सुख की सच्ची व्याख्या क्या है? दुःख और सुख का निवास कहाँ है? दुःखाभाव से क्या सुख भिन्न है? दुःखों से मुक्त पुरुष की स्थिति क्या है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर आचारांग में मनोविज्ञान की पद्धति से दिये गये हैं जिनका निर्वचन निम्नप्रकार है—

मूलकारण :

दुःख के मूलकारण की चर्चा के सन्दर्भ में आचारांग में राग, द्वेष, मोह और कषायों का उल्लेख मिलता है। इन शब्दों का यद्यपि अपना-

अपना पृथक्-पृथक् अर्थ है परन्तु ये सभी शब्द परस्पर सापेक्ष हैं। प्रत्येक का शब्दार्थ निम्न है—

‘मोह’ राग की ही उत्कट अवस्था है। द्वेष, राग का प्रतिपक्षी है और किसी के प्रति राग होने पर ही अन्य के प्रति द्वेष होता है। अतः मूल में राग ही है। अनायास द्वेष नहीं होता है अतः दुःखों से मुक्त महावीर के लिए ‘वीतरागी’ शब्द का प्रयोग किया गया है।

कषाय—आचाराङ्गनिर्युक्ति में कहा है कि संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है।^{१६} ‘कषाय’ शब्द ‘कष’ और ‘आय’ दो शब्दों के योग से बना है। यह जैन मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्द है। ‘कष’ का अर्थ है संसार अथवा जन्म-मरण और ‘आय’ का अर्थ है लाभ। कषाय वह है जिससे संसार की अभिवृद्धि होती है अथवा ‘आत्मानं कषयतीति कषायः’ जो आत्मा को कसते हैं वे कषाय हैं। दूसरे शब्दों में, जिनके कारण आत्मा को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है उन्हें कषाय कहा जाता है।^{१७} ये मनोवृत्तियाँ आत्मा को कलुषित बना देती हैं, इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली में इन्हें आवेगात्मक अवस्थाएँ कह सकते हैं। जैन परम्परा में इन आवेगों की दो कोटियाँ मानी गई हैं—तीव्र और मन्द। तीव्र या उग्र आवेग को कषाय और मन्द आवेग को ‘नो-कषाय’ कहा गया है। व्याख्याकारों ने तीव्रता और मन्दता के आधार पर क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कषायों को भी चार-चार भागों में वर्गीकृत किया है तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द। इस तरह चारों के सोलह भेद हैं। पारिभाषिक शब्दावली में तीव्रतम कषाय को अनन्तानुबन्धी, तीव्रतर कषाय को अप्रत्याख्यानीय, तीव्र कषाय को प्रत्याख्यानीय और मन्द कषाय को संज्वलन कषाय कहा गया है।^{१८} आचाराङ्ग टीका में चारों कषायों के स्वरूप, लक्षण, उनकी स्थिति आदि के सम्बन्ध में भी विवेचन उपलब्ध होता है।^{१९}

कषायों को उत्तेजित (उद्दीपित) करने वाली मनोवृत्तियों को ‘नो कषाय’ कहा जाता है। ये सदा कषायों के साथ रहती हैं एवं उन्हें उत्प्रेरित करती रहती हैं। इन्हें कषाय प्रेरक भी कहा जाता है। नो-कषाय का तात्पर्य है—अल्प कषाय। नो-कषाय नौ हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (घृणा) स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। यद्यपि आचारांग में इनके सम्बन्ध में कहीं एक साथ विवेचन उपलब्ध

१२४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

नहीं है तथापि हास्य, रति आदि का यत्र-तत्र बिखरे रूपों में वर्णन अवश्य मिलता है।

कषायों की उत्पत्ति का कारण इन्द्रिय-विषय है।^{१०} इष्ट विषय के प्रति राग और अनिष्ट विषय के प्रति द्वेष की भावना जागृत होती है। राग-द्वेष पैदा होने से कषाय की मात्रा बढ़ती है और वृद्धिगत कषाय ही जन्म-मरण या संसार के मूल को सींचती हैं।^{११} स्थानांग^{१२} और प्रशम-रति प्रकरण^{१३} में भी कहा गया है कि राग, माया और लोभवृत्ति को जन्म देता है और द्वेष, क्रोध और मान को। ये राग और द्वेष ही कषायों के जनक हैं।

सम्पूर्ण प्राणि जगत् कषायों से लिप्त है और इनके परिणाम अनादि-काल से भोगता चला आ रहा है। अतः साधक को इनसे निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। आचारांग में कहा गया है 'इस जीवन की क्षणिकता को जानकर साधक क्रोध आदि कषायों का परित्याग करे। वर्तमान अथवा भविष्य में उत्पन्न होने वाले दुःखों के कारण क्रोधादि कषाय हैं। क्रोधादि कषाय के कारण ही जीव नरकादि स्थानों में उत्पन्न दुःखों का संवेदन करता है। हे साधक ! तू देख ! क्रोधादि कषायों के वशीभूत होकर प्राणी सांसारिक दुःखों से व्याकुल होकर परिभ्रमण कर रहा है।^{१४} इसलिए हे साधक ! तू विषय-कषाय से प्रज्वलित मत हो।^{१५}

कषायों की पारस्परिक सापेक्षता

आचारांग के प्रथम अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक कषाय से सम्बन्धित है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्मा को कलुषित करने वाली विभिन्न चित्तवृत्तियों के परित्याग पर विशेष बल दिया गया है। जो एक कषाय पर विजय प्राप्त कर लेता है वह शेष कषायों पर भी विजय कर लेता है और जो दूसरे अनेक कषायों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह एक पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।^{१६} आचारांग का यह कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। आगे कहा गया है कि एक मोह कर्म को क्षय करता हुआ साधक बहुत से कर्मों का क्षय कर देता है और बहुत से कर्मों का क्षय करता हुआ साधक एक अर्थात् मोह-कर्म का क्षय कर देता है।^{१७} यह भी कहा गया है कि जो एक को जानता है, वह सबको जान लेता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है। ऐसी बात विशेषावश्यकभाष्य में भी कही गई है।^{१८}

आचारांग में आगे इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा है—

जे एगं णामे से बहु णामे, जे बहु णामे से एगं णामे । (१।३।४)

आचारांग के उपर्युक्त सूत्रों का आशय बड़ा गम्भीर प्रतीत होता है। आज तक इन सूत्रों के अर्थ के सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टिकोण से ही चिन्तन किया जाता रहा है जबकि ये सूत्र मनोविज्ञान के ऐसे आयामों को भी अनावृत करते हैं जिन पर आज तक हमारी दृष्टि ही नहीं गयी है। सूत्रकार का स्पष्ट मन्तव्य है कि जो साधक एक कषाय या मनो-वृत्ति का सम्यक् रूप से ज्ञाता-द्रष्टा होता है, वह सभी मनोवृत्तियों का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है और एक कषाय का विजेता समस्त कषायों का विजेता बन जाता है। इसका कारण यह है कि समस्त मनोवृत्तियों में परस्पर सम्बन्ध है। यदि व्यक्ति क्रोध के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है तो वह अन्य मान आदि कषायों को भी जान (देख) लेता है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचारांग में कहा गया है 'जो क्रोध को देख लेता है, वह अहंकार को भी देख लेता है। जो मान को देख लेता है, वह कपट-वृत्ति को भी देख लेता है। जो कपट-वृत्ति को देख लेता है वह भली-भाँति लोभ को देख लेता है। जो लोभ को देख लेता है, वह राग-द्वेषात्मक वृत्तियों को देख लेता है। जो राग-द्वेष को देख लेता है, वह मोह के वास्तविक स्वरूप को देख लेता है। जो मोह को देख लेता है, वह गर्भ के दुःख को देख लेता है, वह जन्म-मरण के प्रवाह को देख लेता है और जो जन्म-मरण के चक्र को देख लेता है वह समूची (संसार की) दुःख-प्रक्रिया को जान (देख) लेता है ।'^{१९} उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जो साधक ज्ञ-परिज्ञा से इन पारस्परिक सम्बद्ध वृत्तियों को यथार्थ रूप से जान-(देख) लेता है, वही व्यक्ति इन्हें आत्म-घातक एवं अहितकर समझकर इनका परित्याग कर सकता है, क्योंकि 'ज्ञानस्य फलं विरति' ज्ञान का फल विरति या पापोंका परित्याग है। इस लम्बे क्रम को बताने के बाद सूत्रकार कहता है कि क्रोधादि के स्वरूप को जान लेने के बाद वह प्रबुद्ध साधक क्रोधादि कषायों से तुरन्त निवृत्त हो जाता है^{२०} और फिर उस आत्म-द्रष्टा साधक को कोई उपाधि नहीं रह जाती है।^{२१}

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कषायों को आत्मोपलब्धि में बाधक माना गया है। आचारांग में स्पष्ट कहा गया है कि साधक क्रोधादि कषायों को छोड़ दे^{२२} क्योंकि इस आवेगात्मक अवस्था में व्यक्ति पशु तुल्य हो जाता है। उसको दूरदर्शिता एवं विवेक-बुद्धि कुण्ठित हो जाती

१२६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

है। हिताहित, करणीय-अकरणीय, धर्म-अधर्म और पुण्य-पाप का बोध लुप्त हो जाता है। इन कषायों के आवेश में व्यक्ति प्रायः ऐसे मूर्खतापूर्ण तथा जघन्य कृत्य कर बैठता है, जिसके लिए बाद में उसे पश्चाताप एवं आत्म-ग्लानि का अनुभव करना पड़ता है। इनके क्षय होने पर ही भव-भ्रमण का अन्त आता है और अन्तिम आदर्श की उपलब्धि होती है। आचार्य श्री मन्दिरगणि कहते हैं कि 'कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव'^{२३} अर्थात् कषाय-मुक्ति से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। आचारांग में इनके परिणामों का निर्देश कर कषायों को क्षीण करने का उपदेश है।^{२४} द्वा वैकालिक में भी कहा है कि आत्म-हित चाहने वाले को इन चारों कषायों का त्याग कर देना चाहिए।^{२५}

भगवद्गीता^{२६} में कषाय तुल्य आसुरी वृत्तियों का वर्णन है। बौद्धग्रन्थों^{२७} में भी इन दुष्प्रवृत्तियों को वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन-विकास में घातक माना गया है।

कषाय-विसर्जन का मनोवैज्ञानिक उपाय

कषायरूप मानसिक विकारों के दुष्चक्र से बचने के लिए आचारांग में मनोवैज्ञानिक विवेचन मिलता है। आचारांग में साधना का महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक आधार-सूत्र है—अप्रमाद। अप्रमाद का अर्थ है—आत्म-स्मृति या आत्म-जागरूकता। आध्यात्मिक दृष्टि से जागना बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। चित्त को इन कषाय-वृत्तियों से मुक्त करने के लिए साधक का सतत जागृत रहना अनिवार्य है। चित्तवृत्तियों की विशुद्धि के बिना साधना की दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। जो साधक सजग रहता है, अप्रमत्त चेता है, उसके अन्तर्मन में पाप-प्रवृत्तियाँ कभी प्रविष्ट नहीं होतीं। दुष्प्रवृत्तियाँ तो उसके जीवन में पलती-पनपती हैं, जो प्रमाद-ग्रस्त है और प्रमाद अपने आप में विषय-कषाय है। कषायें जब हावी हो जाती हैं तब मनुष्य भयभीत बन जाता है। आचारांग में स्पष्ट कहा है कि 'सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं' प्रमादी सब तरह से भयभीत रहता है, जबकि अप्रमत्त को किसी तरह का भय नहीं रहता।^{२८} आचारांगचूर्णि में भी कहा है कि अप्रमत्त को चलते, उठते-बैठते, खड़े हाते, खाते-पीते कहीं भी भय नहीं होता।^{२९} सूत्रकृतांग में भी इसी बात की पुष्टि की गई है।^{३०} बुद्ध भी यही कहते हैं कि प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद अमरता है और जागरूक को कहीं भय नहीं होता।^{३१} धम्मपद^{३२} एवं सौन्दरनन्द^{३३} में भी प्रमाद-अप्रमाद की चर्चा है।

चैतन्य की विस्मृति, अपने आपको भूल जाना या अपने स्वभाव को भूल जाना ही प्रमाद है। प्रमादी व्यक्ति विषय कषायों के वश में हो जाता है। विषय-कषायों के कारण मन मलिन हो जाता है। प्रमाद दशा में शान्त और शिथिल वासनाएँ, कामनाएँ मनोवेग (क्रोधादिकषाय) पुनः उभर आते हैं। जितनी ही आत्म-विस्मृति होती जाती है उतना ही भय बढ़ता जाता है। इसके विपरीत, संयमनिष्ठ, अप्रमादी साधक की भय की स्थिति विलीन हो जाती है। वह निर्भय विचरण करता है। जो अभय होता है, वही अन्यों को अभय दे पाता है। आचारांग में कहा गया है कि वह साधक कषायरूप लोक को जानकर अकुतोभय हो जाता है।^{३४} अर्थात् अभय वही व्यक्ति हो सकता है, जो अशक्ति को तोड़ चुका है, छोड़ चुका है। उसे दुनिया में कोई भयभीत नहीं कर सकता, क्योंकि अप्रमत्त साधक सभी कामनाओं, वासनाओं एवं पापकर्मों से उपरत रहता है^{३५} और वही साधक मन को निर्मल करता है, जागरूकता के कारण उसकी चित्त-शुद्धि बराबर बनी रहती है, इसीलिए कहा गया है कि 'सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति' अज्ञानी जन सोए रहते हैं और ज्ञानी जन अथवा अप्रमादी सदा (आत्म स्वरूप में) जागृत रहते हैं।^{३६}

यहाँ जागते रहने से तात्पर्य अपनी मनोवृत्तियों को देखते रहना या उनपर निगरानी रखना है। आचारांग की साधना-पद्धति में जागरूक रहना चित्त-शुद्धीकरण का मनोवैज्ञानिक उपाय है। जब तक साधक गहराई से अपनी वृत्तियों को नहीं देखता है, उन्हें नहीं टटोलता है, उनका प्रतिलेखन नहीं करता है तब तक उसे छोड़ नहीं पाता है। जैसे-जैसे जागरूक भाव पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे ही ये दुष्प्रवृत्तियाँ विलीन होती जाती हैं, मनोमालिन्य दूर होता जाता है। इसीलिए महावीर ने कहा है कि साधक महामोह के प्रति अप्रमत्त रहे। शान्ति (मोक्ष) और मरण (संसार) एवं शरीर की नश्वरता की सम्यक्तया सम्प्रेक्षा कर प्रमाद से बचना चाहिए।^{३७} एक स्थान पर यह भी कहा है कि साधक लोभ को महान नरक के रूप में देखे।^{३८} जो उन्हें देखता है उनमें कषाय नहीं पनप सकते। जागरूक अवस्था में सभी पाप-वृत्तियाँ उपशान्त हो जाती हैं। आन्तरिक बन्धन शिथिल होने लगते हैं। इस सम्बन्ध में आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं आचारांग की मान्यताओं में साम्य परिलक्षित होता है। किन्तु प्रश्न यह है कि सतत जागरूक या अप्रमत्त कैसे रहा जाए? आचारांग स्पष्ट रूप से कहता है कि

१२८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

‘खणं जाणिहे पंडिण्’^{३९} अर्थात् ज्ञानी क्षण (वर्तमान) को जाने । अतीत व्यतीत हो चुका है । भविष्य अनागत होता है और क्षण वर्तमान होता है । अतः वर्तमान (क्षण) को जानने देखने वाला जागरूक हो जाता है, अप्रमत्त हो जाता है^{४०}) सूत्रकृतांग^{४१} और संयुक्त निकाय^{४२} में भी इसकी पृष्टि हुई है । वर्तमान (क्षण) में जोने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से मुक्त हो जाता है । वस्तुतः अतीत के भोगों की स्मृति और भविष्य की कल्पना से ही राग-द्वेष कषाय रूप वृत्तियों का निर्माण होता है । अतः सूत्रकार का कथन है कि तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते हैं, अर्थात् वे अतीत का स्मरण और भविष्य की कल्पना नहीं करते । वे वर्तमान को ही जानते-देखते हैं ।^{४३} तात्पर्य यह कि वर्तमान क्षणान्वेषी साधक दूषित चित्त-वृत्तियों का निर्माण नहीं करते । उनकी चैतन्य धारा या जागरूकता अविच्छिन्नरूप से बनी रहती है, उनमें विषय-कषाय की धारा नहीं मिलती है । उस अप्रमत्त दशा की प्राप्ति के लिए क्रोध-मान-माया लोभादि मनोवैगों एवं असावधानी से बचना जरूरी है । सारी दुर्घटनाएँ असावधानी के कारण होती हैं । प्रमाद व्यक्ति के मन को विकृत एवं संकुचित बना देता है । आचारांग में कहा है ‘उट्ठिण् णो पमायण्’ उठो प्रमाद मत करो^{४४}, अथवा क्षण भी प्रमाद मत करो, भूल मत करो । अप्रमाद ही समस्त प्रमादों का निवारक है । प्रमत्त पुरुष को वीतराग-आज्ञा (धर्म) से बाहर समझो और अप्रमत्त बनकर धर्माचरण करो ।^{४५} आचारांग की तरह प्रमाद और अप्रमाद की चर्चा अथर्ववेद^{४६}, ठाणांग^{४७}, उत्तराध्ययन^{४८} दशवैकालिक^{४९} धम्मपद^{५०} एवं गीता^{५१} में भी आयी है । इस सम्बन्ध में पाश्चात्य सत्तावादी विचारकों का दृष्टिकोण आचारांग की अप्रमाद की अवधारणा से बहुत कुछ साम्य रखता है । वारनर फिटे जिस आत्म-चेतनता की बात कहता है, आचारांग की भाषा में वह अप्रमाद है ।

लेश्या

परवर्ती जैन साहित्य में कषाय और लेश्या-सिद्धान्त का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन हुआ है । द्रव्य और भाव रूप से लेश्या और कषाय दोनों के विवेचन में पारस्परिक सामंजस्य इतना है कि उन्हें अलग करके देख पाना कठिन है, क्योंकि कषाय और लेश्या दोनों का सम्बन्ध मनोवृत्तियों से है । फिर भी, दोनों में अन्तर यही है कि कषाय चित्त को विक्षुब्ध करने वाली राग-द्वेषात्मक अशुद्ध मनोवृत्तियाँ हैं अर्थात् उनका सम्बन्ध

शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की चैतसिक या आन्तरिक वृत्तियों से है संक्षेप में लेश्या का सम्बन्ध प्रशस्त एवं अप्रशस्त मनोभावों से है।

‘लेश्या’ की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि ‘लिश्यते प्राणी कर्मणा यथा सा लेश्या’ प्रकारान्तर से लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या^{५३} अर्थात् जिसके द्वारा प्राणी या आत्मा कर्म से लिप्त होता है उसे लेश्या कहते हैं। दूसरे शब्दों में, पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय (विचार-परिणाम) लेश्या है। लेश्याएँ छः प्रकार की हैं—कृष्ण, नील, कपोत, तेज या पीत, पद्म और शुक्ल। इनमें से प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ अध्यवसाय वाली हैं अर्थात् इनमें जीव की भूमिका अशुभ या क्लेशपूर्ण होती है और अन्तिम तीन शुभ अध्यवसाय वाली। ये लेश्याएँ द्रव्य (पौद्गलिक विचार) और भाव (चैतसिक विचार) की अपेक्षा से दो प्रकार की हैं।

आचारांग में ‘लेश्या’ की अवधारणा का मात्र दो-तीन स्थलों पर अस्पष्ट उल्लेख हुआ है। वहाँ लेश्या सिद्धान्त (स्वरूप, प्रकारादि) का विकसित रूप उपलब्ध नहीं होता, फिर भी आचारांग में प्राप्त लेश्या के प्रत्यय के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि परवर्ती जैनग्रन्थों में लेश्या-सिद्धान्त का विकास सम्भवतः आचारांग की लेश्या की अवधारणा के आधार पर ही हुआ है।

इन्द्रिय-निग्रह (संयम) :

जैन नैतिकता का चरम आदर्श मुक्ति या आत्मोपलब्धि है। उस परम आदर्श की प्राप्ति के लिए समस्त भारतीय मुक्ति मार्गों में विषय-विरक्ति आवश्यक मानी गई है। आचारांग के अनुसार कर्म-बन्धन का मूलभूत अभिप्रेरक विषयासक्ति ही है। जो गुण (विषय-गुण) है वह आवर्त है और जो आवर्त है वह गुण है।^{५४} उत्तराध्ययन में भी कामासक्ति को ही दुःखों का मूल प्रेरक माना गया है।^{५५} आचारांग में इसके अतिरिक्त राग, द्वेष, कषाय, हास्य, रति-अरति, शोक-भय आदि कर्म-प्रेरकों का उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी मुख्य रूप से चौदह मूल प्रवृत्तियों को स्वीकार किया गया है। किन्तु प्राणी के व्यवहार का मूलभूत प्रेरक सूत्र काम-वासना अथवा आसक्ति को ही माना गया है। भारतीय परम्परा-गीता^{५६}, गीता शांकरभाष्य^{५७}, धम्मपद^{५८} अंगुत्तरनिकाय^{५९}, सुत्तनिपात^{६०} आदि में भी तृष्णा, काम या छन्द को एकमात्र कर्म-प्रेरक माना गया है।

प्राणी संसार में पापों का अर्जन इन्द्रियों के नियंत्रण में नहीं रह पाने के कारण ही करता है। इन्द्रियों की विषय-वासना के द्वारा परिचालित होकर ही वह पुनः-पुनः जन्मता और मरता है। वस्तुतः काम-वासना या रागोत्पत्ति का मूल आधार ये इन्द्रियाँ ही हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं—कान, आँख, नाक, जीभ और त्वचा। इनके मुख्य बाह्य विषय भी पाँच हैं—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। आत्मा या चेतना इन्द्रियों के माध्यम से ही इन्हें ग्रहण करती है, सुनती है, देखती है, सूँघती है, चखती है तथा स्पर्शानुभूति करती है। ग्रहण करना इन्द्रिय-गुण या स्वभाव है और ग्रहीत विषयों के प्रति मूर्च्छा करना, आसक्त होना चेतना का कार्य है। इस तरह इन्द्रियों तथा मन के द्वारा जब मनुष्य विषयों की चाह करता है, तब वे विषय उसके लिये बन्धन या आवर्त का कारण बन जाते हैं। फिर यह आसक्ति या वासना दो रूपों में बँट जाती है। जब इन्द्रियों का अनुकूल विषयों से सम्पर्क होता है तो राग-भाव जागृत होता है और प्रतिकूल विषयों से संयोग होता है तो द्वेष या घृणाभाव जागृत हो जाता है। इस तरह इष्ट विषय के प्रति आकर्षण और अनिष्ट विषय के प्रति विकर्षण ये दो ही काम-वासना के मुख्य परिचालक हैं अर्थात् जब इन्द्रिय-विषयों के साथ मन जुड़ जाता है तो वह महान नैतिक पतन का कारण बन जाता है। इसीलिए आचारांग में इन्द्रिय निग्रह एवं मनोनिग्रह अथवा संयमन पर बहुत जोर दिया गया है। आचारांग के अनुसार नैतिक जीवन का सार संयम में समाहित है। संयम शक्ति का स्रोत है। आत्मा में उस शक्ति का अनन्त कोष निहित है। संयम एक प्रकार का कुम्भक है। कुम्भक से जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही संयम में इच्छा का निरोध होता है।^{११}

संयम-शील साधक अपनी इन्द्रियों पर कड़ा नियंत्रण रखता है, ताकि विषय-भोगों में आसक्त न बने। प्रायः जब मन-वाणी और कषाय पर संयमन नहीं रहता तब विध्वंसक प्रवृत्तियाँ हावी हो जाती हैं। अतः इन्हें अनुशासित करना आवश्यक है। आचारांग में कहा है कि 'संजमति णो पगळ्भर्ति' अर्थात् संयमी इन्द्रियों का संयमन करता है, उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता।^{१२} इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचारांग टीका में भी कहा है कि पाप में प्रवृत्त आत्मा को संयम में रखता हुआ साधक असंयम में प्रवृत्त नहीं होता।^{१३} यह भी कहा गया है कि उस (धूत-कल्पयोगी) को हास्यादि प्रमादों का परित्याग कर तथा कछुए की

भाँति चारों ओर से 'आलीनगुप्त' होकर अर्थात् मन-वाणी एवं काया या इन्द्रियों को समेट कर संयम-साधना में विचरण करना चाहिये।^{१४} इसी बात की संपुष्टि सूत्रकृतांग^{१५}, दशवैकालिक^{१६}, अध्यात्मसार^{१७} एवं गीता^{१८} में भी हुई है। कहा गया है कि जिस प्रकार कछुवा खतरे के समय अपने अंग-प्रत्यंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार साधक को भी जहाँ संयम विराधना का भय हो, विषयों की ओर अभिमुख होती हुई अपनी इन्द्रियों को अध्यात्म-ज्ञान के द्वारा समेट लेना चाहिये। इन्द्रियों का विषयाकर्षण बड़ा प्रबल होता है मनुस्मृति^{१९} में मनु कहते हैं कि यह इन्द्रिय समूह (विषय-वासना) इतना बलवान है कि विद्वान् भी इनके भुलावे में आकर इनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होने वाले साधु का नैतिक-पतन हो जाता है। आचारांग में कहा गया है कि मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों में मूर्च्छित और आसक्त होने वाला निर्ग्रन्थ विनाश को प्राप्त होता हुआ शान्तिभेद, शान्ति-विभंग और केवली-भाषित धर्म से पतित या भ्रष्ट हो जाता है। इसी तरह अन्य प्रिय-अप्रिय इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष करता हुआ साधु शान्तिभेदक एवं धर्म से च्युत हो जाता है।^{२०}

यही बात उत्तराध्ययन^{२१}, ज्ञानार्णव^{२२}, प्रशमरतिप्रकरण^{२३} एवं योगशास्त्र^{२४} में भी रूपक के माध्यम से कही गयी है। आचारांग में ज्ञानी पुरुष को भी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने का निर्देश है। ज्ञानी मुनि संयम के प्रति कदापि प्रमाद न करे। वह आत्मगुप्त होकर अर्थात् इन्द्रिय और मन को नियंत्रित रखकर संयम-यात्रा के निर्वाह हेतु परिमित आहार ग्रहण करे। जो अपनी इन्द्रियों के अधीन नहीं हुआ है, वस्तुतः वही वीर-पुरुष है।^{२५} संयमी साधक ही मोक्ष प्राप्त करता है। असंयम ही जीव का सबसे बड़ा शत्रु है।^{२६} यह तो सत्य है कि संयमित-नियमित जीवन में ही आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं, अनियंत्रित एवं असंयमी जीवन में नहीं। यही कारण है कि आचारांग में सूत्रकार ने कहा है—सर्दी-गर्मी, रति-अरति, भूख-प्यास, दंस-मसक, वात-आतप आदि परीषह उपसर्ग एवं मान-अपमान आदि को समभावपूर्वक सहन करो। यह मात्र उपदेश नहीं है अपितु प्रयोग-सिद्ध अनुभव है। इससे आत्मबल दृढ़ होता है, अन्तर्द्वन्द्व मिटता है और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, संयम सधता है। इस बात को दृष्टिगत रखकर पुनः कहा गया है—वै वीर पुरुष ! बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थियों को जानकर आज ही उनका प्रत्याख्यान कर दे

१३२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

और संयम का आचरण कर।^{७७} यद्यपि मोक्षगामी वीर-पुरुषों का यह मा गार्थात् संयमानुष्ठान-विधि अत्यन्त दुष्कर है।^{७८} यहाँ यह स्मरणीय है कि यद्यपि यह तपनुष्ठान, संयम-नियम-चर्या, बाह्य-विषयों का त्याग, प्रारम्भिक भूमिका में प्रविष्ट साधकों को अथवा जिनका मन विरक्त नहीं हुआ है उन्हें कठोर अवश्य लगता है, तथापि अग्रिम भूमिकाओं में वही चर्या सहज हो जाती है। सहज भाव में कोई दुष्करता एवं स्वलना नहीं होती। उत्तराध्ययन में कहा है जिसकी लौकिक प्यास (पिपासा) बुझ चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।^{७९}

आचारांग के समान परवर्ती जैनागमों-उत्तराध्ययन^{८०}, सूत्रकृतांग^{८१}, स्थानांग^{८२}, मूलाचार, प्रवचनसार^{८३}, शीलपाहुड^{८४}, दशवैकालिक^{८५} बृहत्कल्प,^{८६} योगशास्त्र,^{८७} एवं ज्ञानसार^{८८} में भी इन्द्रियनिग्रह या संयम पर काफी बल दिया गया है। अथर्ववेद,^{८९} गीता,^{९०} मनुस्मृति^{९१} और बौद्धग्रन्थों^{९२} में भी ऐसे ही विचार प्रतिपादित हैं। पाश्चात्य सत्तावादी विचारक भी संयमी जीवन पर जोर देते हैं। इरविंग बेबिट कहता है कि हममें जैविक प्रवेग तो बहुत है किन्तु आवश्यकता है जैविक नियंत्रण की^{९३}।

दमन की मनोवैज्ञानिकता :

साधना का लक्ष्य है—मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति। इस साधना के दो रूप हैं—बाह्य-साधना और अन्तरंग साधना। आन्तरिक साधना में मन को साधकर निष्काम, निराकुल, निर्विकार और निर्विषय किया जाता है जबकि बाह्य-साधना में शरीर और इन्द्रियों को तपाकर कर्म-मल (रज) दूर किया जाता है। आचारांग में बाह्य साधना के रूप में श्रमण जीवन के लिए काय-क्लेश रूप तप-त्याग, संयम, परीषह-सहन आदि कठोरतम साधना का विधान है। वह देहोत्पीड़न (काय-क्लेश) पर बहुत जोर देता है। आचारांग में कहा है कि काया को कसो, उसे जीर्ण शीर्ण करो, मांस और शोणित को कम करो। तात्पर्य यह है कि वह देह-दमन की बात कहता है। इन्द्रिय-निग्रह पर बल देता है। किन्तु क्या आचारांग यह सिखाता है कि जीवन को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाय ? क्या श्रमण-चर्या शरीर और इन्द्रियों को कुचल डालने या सुखा डालने की साधना है ? इस प्रश्न पर गहराई से अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि देह और इन्द्रियों को उत्पीड़ित करना, उन्हें नष्ट कर डालना आचारांग का उद्देश्य नहीं है। उसके अनुसार आध्यात्मिक जीवन की स्वीकृति का यह अर्थ कदापि नहीं है कि इस भौतिक देह और इन्द्रियों

को पूर्णरूप से समाप्त कर दिया जाए, उपेक्षित कर दिया जाए। वस्तुतः संयम-साधना एवं लोक-मंगल दोनों के लिए इस देह और इन्द्रियों की उपयोगिता है। भौतिक शरीर और इन्द्रियाँ आध्यात्मिक जीवन में बाधक नहीं, साधक हैं। उन्हें साधा जाए, मारा न जाए।

प्रश्न यह है कि क्या इस जीवन में सर्वथा इन्द्रिय निरोध या संयम संभव है? गम्भीरतापूर्वक सोचा जाय तो इस जीवन में इन्द्रियों का पूर्णतया निरोध करना सम्भव नहीं है। इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों के प्रति आकृष्ट होना मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आचारांग भी इस मनोवैज्ञानिक धारणा को स्वीकार करता है। वह कहता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होने पर उन्हें उनके अनुभव से वंचित कर पाना अस्वाभाविक तथ्य है। तो फिर, प्रश्न उठता है कि आचारांग में इन्द्रिय-निरोध या संयम का क्या अभिप्राय है और वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक मान्यताओं से कहाँ तक सहमत है? इस पर विचार करना आवश्यक है।

आचारांग में इन्द्रिय निरोध का अर्थ ऐन्द्रिक अनुभवों में निहित राग द्वेषात्मक वृत्तियों के उन्मूलन से है। कर्णेन्द्रिय के निरोध का यह अर्थ नहीं है कि शब्द न सुना जाय। साधक शब्द को सुने किन्तु उसमें राग-द्वेष न करे। इससे श्रोत्रेन्द्रिय का संयम सधता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों का भी संयम संभव है। इन्द्रिय-विषयों में चित्त का लिप्त न होना ही वास्तविक संयम है।

प्रस्तुत विषय पर आचारांग में प्रतिपादित विचार आज भी मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से उचित हैं। सूत्रकार कहता है—जीवन में यह शक्य नहीं है कि श्रोत्रेन्द्रिय के समक्ष आए हुए प्रिय-अप्रिय शब्द न सुने जाएँ, परन्तु उन्हें सुनने से जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है उनका भिक्षु को परित्याग कर देना चाहिये। यह सम्भव नहीं है कि चक्षु के समक्ष आने वाला मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप दिखाई न दे। अर्थात्, चक्षु के समक्ष आया हुआ रूप अदृष्ट नहीं रह सकता, वह तो अवश्य दिखाई देगा। अतः रूप का नहीं, किन्तु रूप को देखने से जागृत होने वाले राग-द्वेष का भिक्षु परित्याग कर दे। यह सम्भव नहीं है कि नासिका को अच्छी या बुरी गन्ध का अनुभव न हो परन्तु गन्ध से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का भिक्षु त्याग कर दे। यह शक्य नहीं है कि जिह्वा पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस अनास्वादित रह जाए किन्तु रस के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का भिक्षु परित्याग कर दे। इसी तरह यह भी सम्भव नहीं है

कि शरीर को कठोर या कोमल स्पर्श की अनुभूति न हो, किन्तु मुनि को स्पर्श से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का सर्वथा त्यागकर देना चाहिए।^{१४}

जब तक शरीर और इन्द्रियाँ हैं तब तक इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति होती है। आत्मा पाँचों इंद्रियों के माध्यम से मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को ग्रहण करता है, किन्तु उसे प्रिय या अप्रिय इन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।^{१५} इन्द्रियों द्वारा ही मनुष्य बाह्य जगत् से सम्पृक्त है। बाह्य-जगत् भी वास्तविक है। साधना की प्रक्रिया में किसी के अस्तित्व को चुनौती नहीं दी जाती, किन्तु अपने प्रति वीतरागता या जागरूकता उत्पन्न की जाती है। इसी प्रक्रिया को संयम या निरोध कहा जाता है। संयमन के द्वारा बाह्य-जगत् के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और रागात्मक सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर ये इन्द्रियाँ साधक जीवन में बाधक या अनर्थकारी सिद्ध नहीं हो सकतीं। देखना-सुँघना तो इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म है। सूत्रकार का स्पष्ट निर्देश है कि साधु कहीं भी अवस्थित रहे, किन्तु अनासक्तिपूर्वक रहे। धर्मशालाओं, उद्यानों, गृहस्थों के घरों में या परिव्राजकों में, मठों में, अवस्थित श्रमण-श्रमणी स्वादिष्ट अन्नबल अथवा केसर-कस्तूरी आदि की गन्ध को सूँघकर सुवासित पदार्थों के आस्वादन की कामना न करें। साथ ही, आसक्त होकर गन्ध को न सूँघें।^{१६} पुनः कहा गया है कि संयमशील साधु-साध्वी मनोज्ञ-अमनोज्ञ अनेक प्रकार के शब्दों को सुनते हैं, रूपों को देखते हैं किन्तु वे उन शब्दों एवं रूपों को सुनने और देखने की कामना से वहाँ जाने-आने का संकल्प न करें तथा उनमें आसक्त और मूर्च्छित भी न हों।^{१७}

इससे यह सिद्ध होता है कि आचारांग के अनुसार कामना (संकल्प) ही समग्र पापों^{१८} का मूल है। गीता शांकरभाष्य,^{१९} मनुस्मृति एवं महा-निद्देसपाली^{१००} में भी कहा है कि निश्चित रूप से काम का मूल संकल्प ही है। इसी तथ्य को महाभारत में भी दुहराया गया है।^{१०१} अतः साधक को इससे बचना चाहिए। यदि मन में संकल्प न किया जाय तो वासनाओं के उत्पन्न होने या बढ़ने का कोई कारण नहीं रहता। 'दिट्ठेहि निव्वेयं गच्छिज्जा' सूत्र के द्वारा सूत्रकार का यही निर्देश है कि साधक इन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्त रहे,^{१०२} क्योंकि उनमें आसक्त होने से अनुकूल के प्रति राग-भाव और प्रतिकूल के प्रति द्वेष-भाव उत्पन्न

होना स्वाभाविक है और ये राग-द्वेष ही बन्धन के कारण हैं। साधक के समक्ष भी ऐन्द्रिक विषय उपस्थित होते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि साधक आँख, नाक और कान आदि को बन्द करके चले या चुपचाप बैठा रहे। उनसे बचने का प्रयोजन इतना ही है कि वह उनमें आसक्त या मूर्च्छित न हो। केवल इन्द्रियों के साथ शब्दादि विषयों का सम्बन्ध होने मात्र से कर्मबन्ध नहीं होता, जब तक कि उसके साथ राग-द्वेषात्मक वृत्ति नहीं जुड़ती है। कर्मबन्ध का मूल राग-द्वेष या आसक्ति है। इस प्रकार आचारांग के अनुसार इन्द्रिय लोलुपता, कामना या आसक्ति को जीतना ही वस्तुतः संयम है। यद्यपि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन्द्रियों को उनके विषयों से विरत न किया जाय।

प्रश्न यह उठता है कि ये शब्दादि विषय किसी एक दिशा में उत्पन्न होते हैं या सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं? सूत्रकार का अभिमत है कि ये सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं और जीव इन्हें ग्रहण करता है। रागी व्यक्ति इन्हें देख-सुनकर, सूँघ-चखकर मूर्च्छित हो जाता है, तब वे उसके लिए बन्धन बन जाते हैं। सूत्रकार का कथन है कि ऊर्ध्व, अधो, तिर्यग् एवं पूर्वादि सभी दिशाओं में देखने वाला रूपों को देखता है, सुनने वाला शब्दों को सुनता है, किन्तु उन विषयों में आसक्ति रखने वाला ही उन शब्दों में, रूपों में मूर्च्छित होता है।^{१०३} बुद्ध भी यही कहते हैं कि साधक के देखने में देखना भर होगा, सुनने में सुनना भर होगा।^{१०४} कुछ ऐसे ही विचार ऋग्वेद में है।^{१०५}

यहाँ दो बातों का दिग्दर्शन कराया गया है। एक तो विषयों को ग्रहण करना और दूसरे अवलोकित या ग्रहीत विषयों में आसक्त होना। दोनों क्रियाओं में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ तक ग्रहण या अवलोकन का प्रश्न है, ये विषय आत्मा के लिए दुःख रूप नहीं बनते हैं। यदि मात्र देखने और जानने से ही बन्धन होता है तब तो फिर कोई भी जीव कर्म-बन्धन से अछूता नहीं रह सकता। वीतरागी या अहंन्तों को बात तो दूर रही, किन्तु सिद्धात्मा भी विषयों का अवलोकन करते हैं, क्योंकि उनका अनावरण ज्ञान-दर्शन लोकालोक के सभी पदार्थों को जानता देखता है। ऋग्वेद में भी कहा है कि ज्ञानी सब देखता है, सुनता है।^{१०६} अतः यदि विषयों के संवेदन मात्र से कर्म से कर्म-बन्धन होता है, तो फिर वहाँ भी कर्म-बन्धन मानना पड़ेगा, किन्तु वहाँ कर्मबन्धन नहीं होता। सिद्धावस्था में तो क्या जीवन्मुक्त या अहंत् दशा में भो कर्म-बन्धन नहीं

१३६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

होता। बाह्य विषय व उनके ग्रहण से बचना मुख्य बात नहीं है। मुख्य बात है—चेतना को अलिप्त रखना, किन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि चेतना अन्तर्जागरण की परिपक्व दशा में ही अलिप्त रहती है। जब तक राग क्षीण नहीं होता, तब तक बाह्य विषयों से रक्षा करना आवश्यक है।

इस विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि साधक के समक्ष प्रिय-अप्रिय विषय तो प्रस्तुत होते रहते हैं किन्तु उसे अपनी इन्द्रियों को बन्द या नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। इन्द्रिय-विषय अचेतन हैं। वे अपने आप में मनोज्ञ-अमनोज्ञ कुछ भी नहीं हैं। जो उन्हें प्रियता-अप्रियता के मनोभाव से देखता है, सूँघता है और चखता है, उन्हीं के लिए वे मनोज्ञ-अपनोज्ञ हैं। परन्तु जो उनके प्रति सम रहता है, विरक्त रहता है, उनके लिए वे अच्छे-बुरे कुछ भी नहीं हैं। हम इन्द्रियों द्वारा देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, चखते हैं और स्पर्शानुभूति करते हैं तथा मन द्वारा संकल्प करते हैं। मनोज्ञ लगने वाले इन्द्रिय विषय राग उत्पन्न करते हैं और अमनोज्ञ लगने वाले विषय द्वेष उत्पन्न करते हैं। किन्तु वीतरागी के अन्तःकरण में वे विषय राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करते। इस बात की संपुष्टि करते हुए आचारांग में कहा गया है कि कहीं परस्पर कामोत्तेजक बातों में आसक्त व्यक्तियों को ज्ञातपुत्र महावीर हर्ष-शोक से रहित होकर (तटस्थ) देखते सुनते थे।^{१०६} फलितार्थ यह कि देखना-सुनना आदि बाह्य विषय हमारे लिए न दोषपूर्ण हैं और न निर्दोष। चेतना की शुद्धि होने पर वे साधक के लिए निर्दोष हैं और चेतना अशुद्ध हो तो वे ही उसके लिए सदोष बन जाते हैं। दोष का मूल चेतना (चित्त) की शुद्धि-अशुद्धि है, बाह्य विषय नहीं। आचार्य अमितगति मूलाराधना में कहते हैं कि आन्तरिक विशुद्धि से ही बाह्यविशुद्धि होती है और आन्तरिक दोष से ही बाह्य दोष निष्पन्न होते हैं।^{१०८}

उत्तराध्ययन में भी यही विचारधारा मिलती है। कहा गया है कि काम-भोग न समता उत्पन्न करते हैं और न विकार। जो उनके प्रति राग-द्वेष रखता है, वही विकार को प्राप्त करता है।^{१०९} इन्द्रिय और मन के विषय-स्पर्श, रस, गन्ध, रूप शब्द और संकल्प रागी व्यक्ति के लिए दुःख के हेतु बनते हैं। वीतरागी के लिए वे किञ्चित् भी दुःख के हेतु नहीं होते।^{११०} आचार्य शंकर के शब्दों में जो विषयानुरागी है, वही वस्तुतः बद्ध है और जो विषय-विरक्त है, वह मुक्त है।^{१११} अतः समाधि

चाहने वाले श्रमण तपस्वो को मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।^{११२} मुनि को उनमें अनासक्त रहना चाहिए।^{११३} समयसार,^{११४} व्यवहारभाष्य,^{११५} दशवैकालिक,^{११६} गीता^{११७} तथा बौद्ध^{११८} वाङ्मय में भी इस विचार का दर्शन होता है।

मनो-निग्रह—आचारांग में एक स्थान पर कहा गया है कि तू मन का निग्रह कर, यही मुक्ति का उपाय है।^{११९} मन ही समस्त भोगेच्छाओं तथा तत्सम्बन्धी संकल्प-विकल्पों का जनक है। ऐतरेय आरण्यक में भी मन को ही इच्छाओं का सृजक कहा गया है।^{१२०} उत्तराध्ययन में कहा है कि यह मन दुष्ट एवं भयंकर अश्व के समान है, जो चारों ओर दौड़ता रहता है।^{१२१} अतः आरम्भादि में प्रवृत्त होने वाले मन का निग्रह करना चाहिए और आत्म-दमन करने वाला ही दोनों लोक में सुखी होता है।^{१२२} मज्झिमनिकाय एवं धम्मपद में भी यही कहा है कि यह चित्त अत्यन्त चंचल है। इस पर नियंत्रण किये बिना कुमार्ग से इसकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। इसकी वृत्तियों को कठिनता से रोका जा सकता है। अतः जैसे इषुकार अपने बाण को सीधा करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष इसे सीधा करे।^{१२३} पण्डितजन बड़ई की भाँति आत्मा (मन) को सीधा करते हैं।^{१२४} चित्त बड़ी कठिनाई से निग्रहीत होता है, वह अत्यन्त शीघ्रगामी एवं इच्छानुसार भागने वाला है, अतः उसका दमन करना उत्तम है, दमित किया गया चित्त ही सुखकारी होता है।^{१२५} ज्ञानार्णव,^{१२६} योग-शास्त्र^{१२७} आदि ग्रन्थों में तथा अथर्ववेद,^{१२८} यजुर्वेद,^{१२९} श्वेताश्वरोपनिषद्,^{१३०} गीता^{१३१} आदि ग्रन्थों में भी इन्हीं विचारों की पुष्टि की गई है।

आचारांग के अनुसार मनोनिग्रह से तात्पर्य एवं दमन के दुष्परिणाम :

आचारांग में इच्छाओं, आशाओं, काम-वासनाओं या आत्मा (मन) के अभिनिग्रह का प्रयोजन दमन नहीं है। 'अभिनिग्रह' शब्द का व्याकरण-सम्मत अर्थ यह है कि 'अभि' उपसर्ग समीपता का बोधक है और 'नि' उपसर्गक ग्रह धातु पकड़ने के अर्थ को व्यक्त कर रहा है। इस प्रकार अभिनिग्रह का अर्थ हुआ—समीप जाकर पकड़ लेना। जो साधक मन के भीतर जाकर या उसके निकट पहुँच कर उसे जान लेता है, पकड़ लेता है, वह सभी दुःखों से रहित हो जाता है। मन का ज्ञाता मन का स्वामी होता है। वस्तुतः आचारांग में निरोध या दमन का तात्पर्य मानसिक शुद्धि है, चित्त को आसक्ति-रहित बनाना है। अतः

१३८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आचारांग सम्मत साधना काम-वासना के दमन की नहीं, अपितु विसर्जन या परिष्कार की साधना है। निरोध करने से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उससे वासना का विलय नहीं होता। उसे तो आचारांग में मानसिक तनाव, सांवेगिक असन्तुलन, असमाधि, आकुलता और चित्त-विक्षोभ का कारण कहा गया है। यदि इन्द्रियों का दमन कर तथा विषय-वासनाओं को उपशान्त (दबाकर) कर आगे बढ़ा जाता है तो वे समय पाकर पुनः उभर आती हैं। मात्र इन्द्रिय-निरोध या इच्छाओं को दबाने से वे समूल नष्ट नहीं होतीं। बल्कि कुछ काल के लिए चेतन-मन से अचेतन मन में चली जाती हैं। बाद में ये ग्रंथियों का निर्माण करती हैं। इन ग्रंथियों से विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।

आचारांग में आध्यात्मिक विकास के लिए मात्र इन्द्रिय निरोध की व्यर्थ बतलाया है। उसकी दृष्टि में भावावेश, इन्द्रिय-निरोध या वासनाओं का दमन अनुचित है क्योंकि अन्ततोगत्वा उसका परिणाम नैतिक जीवन के लिए हानिकारक होता है। यदि साधक विषय-वासनाओं के प्रति विराग के बिना इन्द्रियों का निरोध कर साधना की ओर बढ़ता है तो उसकी क्या स्थिति होती है, कैसा दुष्परिणाम आता है, आज से ढाई हजार वर्ष पहले सूत्रकार ने इस तथ्य को काफी कुछ वैसा ही प्रतिपादित किया है जैसा कि आधुनिक मनोविश्लेषक फ्रायड ने किया है। सूत्रकार ने बाह्य नियंत्रण या दमन के दुष्परिणामों को गहराई में समझा था। इसलिए साधक को बार-बार सावधान किया है। सूत्रकार कहता है कि जो इन्द्रिय-निरोध की साधना करते हुए भी पुनः मोहकर्म के उदय से कर्म के स्रोत इन्द्रिय-विषयों में आसक्त हो जाता है वह अज्ञानो जीव कर्म-बन्धन को तोड़ नहीं पाता। जिसने संयोगों का परित्याग नहीं किया है, तथा जो महान्धकार में निमग्न है, वह आत्महित एवं मोक्षोपाय को नहीं जान पाता। ऐसे साधक को वीतराग शासन (तीर्थंकरों) की आज्ञा का लाभ नहीं मिलता।^{१३२} विषय को स्पष्ट करते हुए पुनः कहा गया है कि जो साधक शब्दादि विषयों में अगुप्त अर्थात् मन-वाणी और काया से उनमें आसक्त हो रहा है, वह वीतराग आज्ञा के बाहर है। जो बार-बार विषयों का आस्वादन करता है, वह वक्र या कुटिल आचरण वाला है और वह प्रमत्त साधक गृह-त्यागी हाते हुए भी गृहवासी ही है।^{१३३} कुछ साधक गृहवासी जैसा आचरण करते हैं,^{१३४} दीक्षित होकर या महाव्रतों को ग्रहण करके भी जो मुनि विषयासक्त बन जाता है उसका आचरण दम्भपूर्ण है, क्योंकि बाहर से वह

त्यागी दीखता है, मुनिवेश (द्रव्य-लिंग) धारण किए हुए है परन्तु वस्तुतः वह प्रमादी है, गृहवासी हो है इसलिए कि उसका मन सदा विषयों के चिन्तन में डूबा रहता है। मूलाचार^{१३५} और गीता^{१३६} में भी ऐसे ही विचार हैं। तात्पर्य यह है कि बाह्यतः मुनिवेश का परित्याग नहीं करने पर भी उसकी मनोभावना साधुता से, संयम से विमुख हो चुकी है। प्रत्यक्ष में शान्त और संयमी होकर भी भीतर में अशान्त एवं वासनाओं की ज्वालाओं से उद्दीप्त बना रहता है, तथा उन अवसरों की खोज करता है, जब लोग या समाज-दृष्टि से अपने आपको बचाकर उन निम्न वृत्तियों के छद्म रूप में खुलकर परितृप्ति का मौका मिल जाय। कुछ साधक ऐसे होते हैं जो संयम ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु अन्तर्मन में संयम-निष्ठा न होने से, राग-भाव न मिटने से प्रतिज्ञा से विचलित हो जाते हैं। वे मुनिवेश भी नहीं छोड़ते हैं और विषयों का भी आसेवन करते हैं। आचारांगकार कहते हैं कि विवेकशून्य एवं मोह से आवृत कई साधक परीषहों (कष्टों) के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा के विपरीत आचरण करके संयम से च्युत हो जाते हैं और कुछ साधक 'हम अपरिग्रही बनेंगे' ऐसा संकल्प कर संयम-मार्ग ग्रहण करते हैं, अर्थात् दीक्षा लेकर भी प्राप्त काम-भोगों का आसेवन करते हैं, उनमें फंस जाते हैं। वे आज्ञा विरुद्ध मुनिवेश को लजाने वाले विषय-भोगों की प्राप्ति के उपायों की खोज में लगे रहते हैं। इस प्रकार वे बार-बार मोहरूपी कीचड़ में आसक्त होकर न तो इधर के रहते हैं और न उधर के। अर्थात् न गृहवासी हो सकते हैं और न श्रमणत्व-जीवन का आनन्द ले सकते हैं।^{१३७} यह दुष्परिणाम अन्तरंग-विरक्ति के अभाव के कारण ही है।

अन्तरंग में विवेक-विरागता स्फुरित हुए बिना विषय-वासना मिटे बिना केवल भावावेश में आकर संयम या श्रमण चारित्र्य स्वीकार कर लेने से विरागता नहीं आती। ऐसी स्थिति में बाद में जीवन भर उनका निर्वाह करना बड़ा कठिन हो जाता है और स्वीकृत-संकल्पों से, संयमी जीवन से पतन हो जाता है यानी दुराचार पनपता है और विकृतियाँ आ जाती हैं।

आगे इस तथ्य को समुचित रूप से अभिव्यक्त किया गया है कि बिना अपनी भूमिका एवं योग्यता (पात्रता) को जाने भावुकता एवं उपशम भाव के आधार पर आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाने से साधक पुनः किस प्रकार फिसल जाता है। श्रुतादि के मद में उन्मत्त बने श्रमण की

१४० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

की हीन-मनोवृत्तियों का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं कि कुछ साधक ऐसे हैं जो प्रज्ञावान एवं महा-पराक्रमी गुरुजनों द्वारा प्रशिक्षित किए जाने पर ज्ञान से गर्वित हो जाते हैं। उनसे ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उपशम भाव का त्याग कर कठोरता अपना लेते हैं। ब्रह्मचर्य (गुरुकुलवास) में रहकर भी उनकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं। कुछ साधक गुरुजनों द्वारा समझाए जाने पर (चारित्रभ्रष्टता के दुष्परिणामों को बतलाए जाने पर) हम संयमी जीवन जीएँगे इस संकल्प से दीक्षित होकर भी संकल्प के प्रति सच्चे नहीं रह पाते। मानादि कषाय से दग्ध, और काम-भोगों में आसक्त हो जाते हैं, तथा ऋद्धि, रस आदि तीनों गारवों में अत्यासक्त वीतरागप्रणीत समाधि का सेवन नहीं करते। गुरुजनों द्वारा शिक्षा दिये जाने पर भी उल्टे उन्हीं को कठोर वचन बोलते हैं।^{१३८} वे दूसरे चारित्र-सम्पन्न मुनियों को भी बदनाम करते हैं।^{१३९} कुछ संयम से निवृत्त होते हुए आचार-गोचर की व्याख्या करते हैं और कुछ ज्ञान-भ्रष्ट एवं दर्शन-ध्वंसी दोनों होते हैं।^{१४०} कई साधक (आचार्यादि के प्रति) नत होते हुए भी संयमी जीवन को ध्वस्त कर देते हैं, कुछ साधक ऐसे होते हैं जिनसे परीषहों का कष्ट सहा नहीं जाता है तो केवल सुखपूर्ण या असंयममय जीवन जोने के लिए संयम छोड़ देते हैं। ऐसे विषयासक्त साधक बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी आचारांग के समान ही दमन के दुष्परिणामों का वर्णन किया गया है।^{१४१} ऐसे संयम से पतित होने वाले साधक और भी अनेक तरह से मध्यस्थ मुनियों की अवहेलना करते हैं। अतः हे मेधावी ! तुम्हें धर्म को जानना चाहिए।^{१४२} संयम धर्म से पतित होने वाले गारव आदि दोनों से ग्रस्त साधक को अनुशासित करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि हे अधर्मार्थी ! तू अर्हत् द्वारा प्रतिपादित कठोर धर्म की आज्ञा का अतिक्रमण कर रहा है। ऐसे साधक को विषण्ण एवं हिंसक कहा है। यह भी कहा है कि कुछेक मुनि सम्बन्धित जन को छोड़कर विरक्ति-भाव दिखाते हुए वीर-वृत्ति से प्रव्रजित होते हैं। अर्हिसक, सुव्रती एवं दान्त बन जाते हैं। सूत्रकार कहते हैं कि हे साधक ! सिंह की भाँति उठकर फिर दीन एवं पतित बनकर गिरते हुए उन साधकों को तू देख। वे इन्द्रिय-विषय से पीड़ित, कायर मनुष्य व्रत-विध्वंसक बन जाते हैं। उनमें से कुछ मुनियों को पापरूप (निन्दनीय) प्रसिद्धि होती है कि 'यह श्रमण बनकर विभ्रान्त हो चुका है' (श्रमण-धर्म से पतित हो गया है) चारित्र-सम्पन्न साधुओं के बीच शिथिलाचारी, अविनयी, अत्यागी

एवं चारित्र्य से दरिद्र साधुओं को तुम देखो। संयम-भ्रष्ट साधकों एवं संयम-भ्रष्टता के परिणामों को सम्यक्तया जानकर पण्डित, मेधावी निष्ठितार्थ वीर मुनि को सदा आगमानुसार संयम में पुरुषार्थ करना चाहिए।^{१४३} तात्पर्य यह कि ऐसे साधक पहले तो एक बार अहिंसक, सुव्रती और दमी बनकर सामान्य जन को प्रभावित कर देते हैं, किन्तु बाद में लोकैषणा या सुख-सुविधा में आसक्त हो जाते हैं। इसी बात को सूत्रकार ने 'उठकर पुनः पतित होते हुए साधुओं को तू देख' कहकर सम्बोधित किया है। ऐसा अज्ञानी साधक इस संयमी जीवन में भी विषय-पिपासा से छटपटाता हुआ अशरण को शरण मानता हुआ पाप-कर्मों में रमण करता है।^{१४४} कुछ साधु एकाकी रहकर साधना करते हैं। ऐसा एकाकी साधु अति क्रोधी-मानी, कपटी, लोभी, भोगों में अत्यासक्त, नट की भाँति बहुरूपिया, अनेक प्रकार की शठता एवं संकल्प करने वाला होता है। आस्रवों में आसक्त और कर्मरूप पलीते से लिपटा हुआ होता है। मैं धर्माचरण के लिए उद्यत हुआ हूँ ऐसा उत्थितवाद बोलता हुआ' मुझे कोई (पाप कर्म करते हुए) देख न ले इस आशंका से लुक-छिपकर अनाचरण करता है। वह अज्ञान (दर्शन-मोह) और प्रमाद (चारित्र्य मोह) के दोष से सतत मूढ़ बना हुआ धर्म को नहीं जान पाता।^{१४५} पश्चात् उन मुनियों के प्रति खेद व्यक्त करते हुए है— जो लोक की दुःखमयता को जान, पूर्व संयोगों को छोड़, उपशम का अभ्यास कर और ब्रह्मचर्य में वासकर, साधु या श्रावक धर्म को यथार्थ रूप से जानकर कुछेक कुशील मुनि चारित्र्य धर्म का पालन करने में समर्थ नहीं होते हैं, वे साधना-मार्ग में आने वाले दुःसह परीषहों को नहीं सह सकने के कारण मुनिधर्म (वस्त्र-पात्र, कम्बल, पाद-प्रौञ्च) को छोड़ देते हैं। विविध काम-भोगों में गाढममत्व रखने वाले उन मुनियों की प्रव्रज्या छोड़ देने के बाद ही तत्क्षण, मुहूर्त भर में अथवा अपरिमित किसी भी समय में शरीर (मृत्यु) छूट सकता है। इस प्रकार वे कामा-भिलाषी अनेक विघ्नों, द्वन्द्वपूर्ण काम भोगों से अतृप्त ही रहते हैं, उनका पार नहीं पा सकते हैं। काम-भोगों से अतृप्त रहकर बीच में ही समाप्त हो जाते हैं।^{१४६}

इस सन्दर्भ में, आचारांग चूणिकार ने 'अच्चाइ' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस साधक ने बाहर से पदार्थों का त्याग कर दिया, विषय-कषायों का उपशम भी किया है, ब्रह्मचर्य का पालन भी किया, शास्त्र-ज्ञाता भी बन गया, परन्तु भीतर से यह सब नहीं

१४२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

हुआ, उसके अन्तर्मन में पदार्थों को पाने की लालसा बनी रहती है। निमित्त मिलते ही उसके कषाय भड़क उठते हैं। ब्रह्मचर्य भी केवल-शारीरिक है, अथवा गुरुकुलवास भी औपचारिक है, जिसने धर्म के अन्तरंग को स्पर्श नहीं किया, वह बाहर से धूतवादो एवं त्यागी प्रतीत होने पर भी अन्तर से अधूतवादी एवं अत्यागी 'अच्चाइ' है।^{१४७} आचारांग में त्यागी मुनि का स्पष्ट लक्षण बताया गया है कि वह प्राप्त कामभोगों का भी सेवन नहीं करता।^{१४८} दशवैकालिकसूत्र में भी त्यागी-अत्यागी मुनि के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो साधक भोग्य पदार्थों के उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर पीठ कर देता है, उन भोगों का हृदय से त्याग कर देता है, वही त्यागी है। इसके विपरीत जो वस्त्र, गन्ध, अलंकारादि भोग्य पदार्थों को उपलब्ध न होने के कारण उनका उपभोग नहीं कर पाता, वह त्यागी नहीं कहलाता^{१४९} क्योंकि उसकी भोगाकांक्षा बनी हुई है। बाह्यरूप से विषय-विरक्त हो जाने पर भी मन से उनके प्रति राग-भाव या आसक्ति दूर न होने से वह सच्चे अर्थ में त्यागी नहीं बन पाता। वह संग (अत्यागी) ही बना रहता है इसलिए उपशम भाव को छोड़कर पुनः पदच्युत हो जाता है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचारांग के अनुसार उपशम की साधना सच्ची साधना नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में इसे दमन-मार्ग भी कह सकते हैं। उपशम का अर्थ होता है विकारों, विषय-कषायों को उपशान्त करना, दबा देना। जैसे—गंदले जल में फिटकरी डालने से मिट्टी नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है परन्तु वायु के प्रबल झोंकों से शान्त, स्वच्छ पानी में पुनः तरंगे उठने लगती हैं, वैसे ही औपशमिक साधना में विषय-कषायों को ज्ञान के द्वारा दबाकर शान्त कर आगे बढ़ा जाता है। परन्तु दमित विषय-कषाय संयोग पाकर पुनः भड़क उठते हैं। विकारों की तरंगे उछल-कूद मचाने लगती हैं। आत्मा का पुनः पतन हो जाता है। यह तो रोग के कारणों को खोजकर उन्हें समाप्त न कर मात्र रोग दवाने का प्रयास है। गीता^{१५०} में भी यही कहा गया है कि साधना के क्षेत्र में दमन का मार्ग समुचित नहीं है। कहा गया है कि सभी प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करते हैं। वे निग्रह कैसे कर सकते हैं? चित्त-निरोध या इन्द्रिय-निरोध से तो मन अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाता है। दमित इच्छाएँ अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर पुनः उद्भूत हो उठती हैं। इसी तरह

बौद्ध-परम्परा^{१५१} में भी दमन की अवधारणा को अनुचित माना गया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आचारांगकार को कोरे इच्छा-निरोध या इन्द्रिय-निग्रह का मार्ग स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि इस मार्ग से की जाने वाली साधना की निरर्थकता एवं दुष्परिणामों को उसमें प्रतिपादित किया गया है। इच्छाओं, विषय-वासनाओं का बलात् दमन नहीं करना चाहिए। दमन आखिर दमन है। उससे व्यक्ति की पाशविक वृत्तियों का नियंत्रण तो हो जाता है, किन्तु उन विषयेच्छाओं का मूलतः उन्मूलन नहीं होता। आचारांग की शब्दावली में वह 'उपशम' की साधना है और आध्यात्मिक पूर्णता या विकास की दृष्टि से वह सम्यक् रूप से उचित नहीं है। उपशम से वे विषय-वासनाएँ मूलतः समाप्त या क्षय नहीं होती हैं, अपितु समय पाकर पुनः त उद्भूत हो जाती हैं और नैतिक जीवन में अनेक विकार उत्पन्न करती हैं। शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य को विपरीत रूप से प्रभावित करती हैं। उन पर विजय पाने का, निरोध करने का सर्वोत्तम तरीका यही है कि ज्ञान-विवेक, वैराग्य के प्रकाश में उनका ऊर्ध्वीकरण, उदात्तीकरण शोधन या क्षय किया जाय। हमें यहाँ तक स्मरण रखना चाहिए आचारांग में ज्ञान-विवेक, वैराग्य समता एवं अनासक्ति के साथ ही इन्द्रिय-निग्रह तथा देह-दमन को भी आवश्यक बतलाया गया है। आचारांग 'इह आणाकंखी...अणि हे,^{१५२} 'तम्हा अविमणे...सयाजए,^{१५३} 'आगय पण्णाणणं...परिण्णाए'^{१५४} 'पलिंछिदिय बहिरंगं... मच्चिएहि^{१५५} 'अइअच्चसव्वतो...अमोयरियाए'^{१५६} 'कसाए पयणुए... तित्तिक्खाए'^{१५७} आदि अनेक सूत्रों के द्वारा सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्मक्षय या पूर्ण आध्यात्मिक प्रगति के लिए अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार की साधना आवश्यक है।

आचारांग की तरह अष्टपाहुड,^{१५८} पंचाध्यायी,^{१५९} कार्तिकेयानुप्रेक्षा,^{१६०} दौलतरामजी कृत छहढाला^{१६१} तथा घम्मपद^{१६२} में भी विषय-विरक्ति और इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् मनोजय (कषाय-जय) और इन्द्रिय-जय दोनों की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

मानसिक शुद्धीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि :

उक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि आचारांग की साधना मुख्यतः आन्तरिक शुद्धीकरण की साधना है। वह जीवन को भीतर से शुद्ध करने पर बल देती है। अन्तर्मन में जो विषय-विकार छिपे हैं, उन्हें बाहर निकालना है। आचारांग हमें मानसिक-शोधन की प्रेरणा देता है

क्योंकि हमारे बन्धन-या मुक्ति का आधार आन्तरिक मनोवृत्तियाँ^{१९३} ही हैं। ब्रह्मबिन्दूपनिषद्,^{१९४} तेजोबिन्दूपनिषद्^{१९५} एवं मैत्रायणी आरण्यक में भी यही कहा गया है कि मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।^{१९६} अतः शुद्ध अध्यात्म (मन) का अन्वेषण करना चाहिए।^{१९७} मन की साधना ही सच्ची साधना है। आचारांग में कहा है कि जो मन के यथार्थ स्वरूप को जानता है और उसे अपवित्र नहीं होने देता, वही निर्ग्रन्थ है।^{१९८} उसकी ग्रंथियाँ खुल जाती हैं।^{१९९} आचारांग में अनेक स्थलों पर 'ग्रन्थ', 'ग्रंथि' या 'निर्ग्रन्थ' शब्दों का प्रयोग हुआ है जो एक विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। आचारांग, उत्तराध्ययन व स्थानांग में आत्मा को बांधने वाले विषय-कषाय को 'ग्रन्थ' या 'ग्रंथि' कहा गया है। जो गांठ हमें बांधती हैं, वे विषय-कषाय एवं राग-द्वेष की गांठें हैं, मानसिक बन्धन ही वास्तविक बन्धन है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी इन ग्रंथियों का बड़ा महत्त्व है। इनसे मुक्त होना ही आचारांग की साधना का मूल लक्ष्य है, किन्तु मन को काम-वासना, आसक्ति की गांठ से मुक्त कैसे किया जाए? उसे पवित्र कैसे किया जाय? और उस पर विजय कैसे पायी जाय? आचारांग में मन शुद्धि के लिए जो वैज्ञानिक पद्धति अपनायी गयी है, उसकी प्रामाणिकता आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध हो चुकी है। आचारांग के अनुसार मन को पवित्र रखने के लिए आसक्ति को जानना-देखना आवश्यक है। सूत्रकार का कथन है कि हे साधक। ऊपर स्रोत है, नीचे स्रोत है और मध्य में भी स्रोत या विषयासक्ति के स्थान हैं अर्थात् तीनों दिशाओं में कर्म-बन्धन के हेतु हैं। इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है। उसे तुम देखो।^{१९०} आगे कहा है कि इन विषय कषायों से निवृत्त होने के लिए तुम आसक्ति को देखो। आचारांग के अनुसार 'देखना' साधक जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जब साधक देखता है, तब वह सोचता नहीं है और जब सोचता है तब देखता नहीं है। इन वृत्तियों या स्रोतों को रोकने का पहला और अन्तिम साधन है— देखना, द्रष्टाभाव। आसक्ति को तोड़ने का सर्वोत्तम एवं सशक्त उपाय है— द्रष्टा या साक्षी भाव। इन दुष्प्रवृत्तियों के निराकरण का उनके प्रति जागरूक बनने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। इन्हें जानने और देखने की प्रक्रिया से आसक्ति टूटती है, मोह-ममत्व की पकड़ कम होती है। इस विषय-विराग के पथ पर चलने के लिए साधक को सजगप्रहरी की भाँति सचेष्ट रहना पड़ता है। जागरूक या ज्ञाता-द्रष्टा पुरुष ही इन ग्रंथियों को तोड़ सकता है। इस सन्दर्भ में

आचारांग में, एक स्थान पर चित्त को काम-वासना से मुक्त करने के लिए तीन उपाय बताये गये हैं— लोक दर्शन, अनुपरिवर्तन दर्शन और संधि दर्शन। सूत्रकार का कथन है कि दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग, ऊर्ध्वभाग और तिरछे भाग को जानता-देखता है। वह यह देखता है कि काम-भोगों में आसक्त पुरुष अनुपरिवर्तन कर रहा है या संसार में काम-भोगों के पीछे चक्कर काट रहा है। वह यह भी जानता है कि यह मनुष्य जन्म आत्मशक्ति-जागृत करने का स्वर्णिम अवसर है। इस प्रकार वह लोक के यथार्थ स्वरूप, परिभ्रमण के कारणों तथा मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की संधि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो जाता है।^{१०१}

उपर्युक्त सूत्र में बताया गया है कि काम-भोगों से वही पुरुष बच सकता है जो दीर्घदर्शी होता है। वह यह सम्यक् रूप से जान (देख) लेता है कि लोक के तीनों क्षेत्र अर्थात् समूचा संसार काम-वासना से पीड़ित है और यही संसार-परिभ्रमण का मूल कारण है। अतः विषया-सक्ति रूप आवर्त का निरीक्षण कर ज्ञानी पुरुष उससे विरत हो जाए।^{१०२}

इस प्रकार आचारांग के अनुसार मन की गहराइयों में उतरकर सजग या अप्रमत्तचेता बनने से अशुभ-वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं, गाठें खुल जाती हैं और मन निर्मल एवं पवित्र बन जाता है। कामासक्ति जानना-देखना ही मानसिक पवित्रता को बनाये रखने का अर्थात् आसक्ति-त्याग का वास्तविक उपाय है।

सन्दर्भ-सूची

अध्याय ५

१. आचारांग, १/३/३. २. वही, १/६/३.
३. वही, १/२/५, १/८/३. ४. दशवैकालिक २/१०.
५. धम्मपद, २५/१०. ६. आचा० नियुक्ति, १८९.
७. अभि० राजे० को०, खण्ड ३, पृ० ३९५.
८. आचारांग शीलांक टी०, पत्रांक १५४. ९. वही, पत्रांक, १५४.
१०. आचारांग, १/२/१. ११. दशवैकालिक, ८/४०.
१२. स्थानांग, २/२. १३. प्रशामरतिप्रकरण, अधि० २/३१-३२.
१४. आचारांग, १/४/३. १५. वही, १/४/३. १६. वही, १/३/४.

१४६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

१७. वही, १/३/४.
१८. (अ) जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, आचारांग-१/३/४
(ब) विशेषावश्यक भाष्य, गा० ४८२.
१९. आचारांग, १/३/४. २०. वही, १/३/४. २१. वही, १/३/४.
२२. वही, १/३/४ एवं १/३/३.
२३. श्रीरत्नमन्दिरगणि, उपदेशतरङ्गिणी (प्रथम तरंग) निजधर्म अम्युदय
यन्त्रालय, वाराणसी, वी० सं० २४३७, तप उपदेश, श्लो० ८.
२४. आचारांग, १/८/८/६-७. २५. दशवैकालिक, ८/३७.
२६. गीता, १६/४-२२. २७. धम्मपद, १७/१-२/३.
२८. आचारांग, १/३/४. २९. आचा० चूणि; १/३/४.
३०. सूत्रकृतांग, १/८/३. ३१. धम्मपद-२१. ३२. वही-२/१.
३३. सौन्दरनन्द-१४/४३-४५. ३४. आचारांग १/३/४.
३५. वही, १/३/१. ३६. वही, १/३/१. ३७. वही, १/२/४.
३८. वही, १/३/२. ३९. वही, १/२/४. ४०क. वही, १/३/२.
- ४० ख. वही, १/२/१. ४१. सूत्रकृतांग, १/२/३/१९.
४२. संयुक्तनिकाय, ११११०, १११२०. ४३. आचारांग, १/३/३.
४४. वही, १/५/२. ४५. वही, १/२/१, अथर्ववेद, ११४/२५.
४६. आचारांग, १/५/२. ४७. अथर्ववेद, २/६/२.
४८. ठाणांग, ३/३/३६. ४९. उत्तराध्ययन, ४/६/४/१.
५०. दशवैकालिक, ८/१६. ५१. धम्मपद, १३/२.
५२. गीता, २/६/३, ४/४/१. ५३. अभि० राजे० कोश, ख० ६, पृ० ६७५.
५४. आचारांग, १/१/५. ५५. उत्तराध्ययन, ३/२/१९.
५६. गीता, ३/३/६, २/६/२.
५७. गीता-शांकरभाष्य, प्रका० धनश्यामदास जालान, गीता प्रेस गोरखपुर,
चतुर्थ संस्करण १९९५ ३/३/७ एवं ३/२
५८. धम्मपद २९५, १६/६-८. ५९. अंगुत्तरनिकाय, ३/१/०९.
६०. सुत्तनिपात, ५/६/८/५.
६१. आर० विलियम जेम्स, जैनयोग, प्रका० ओ० यू० प्रेस, लन्दन, १९६३,
पृ० १३१.
६२. आचारांग, १/५/३.
६३. आचारांग १/५/३ पर शीलांक टीका, पत्रांक १९१.
६४. आचारांग, १/३/३, १/५/६ एवं आचारांग १/३/३ पर शीलांक टीका
पत्रांक १५२.

नैतिकता को मौलिक समस्याएँ और आचाराङ्ग : १४७

६५. सूत्रकृतांग, १/८/१६. ६६. दशवैकालिक, ८।४०.
 ६७. अध्यात्मसार अ० १६/६७. ६८. गीता, २।५६, २।६१.
 ६९. मनुस्मृति, २/२१५. ७०. ज्ञानार्णव, १८/१५१.
 ७१. उत्तराध्ययन, ३२. ७२. ज्ञानार्णव, प्रकरण १८, श्लोक १४९-१५०.
 ७३. प्रशमरतिप्रकरण श्लोक ४१-४७.
 ७४. योगशास्त्र प्र० ४ श्लोक २८-३३ ७५. आचारांग, १।३।३
 ७६. आचारांग, नियुक्ति ९६. ७७. आचारांग, १।३।२.
 ७८. वही, १।४।४. ७९. उत्तराध्ययन, १९।४४.
 ८०. वही, २१।१३, २२/४७-४८. ८१. सूत्रकृतांग, १।१२।१५.
 ८२. स्थानांग, ४।२, ६।३. ८३. प्रवचनसार, ३।३८.
 ८४. शीलपाट्टड, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास सं० १९२४. २०९.
 ८५. दशवैकालिक, २/१, ९/५, ४/७-८.
 ८६. बृहत्कल्पभाष्य, ४४४९. ८७. योगशास्त्र, ४।२३-२४.
 ८८. श्रीउपाध्याय यशोविजयजी, ज्ञानसाराष्टक, श्रीकेशरबाई ज्ञानभण्डार
 संस्थापक, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९९४. इन्द्रियजायाष्टक श्लो० १.
 ८९. अथर्ववेद, ११।५।२. ९०. गीता, २।६०-६८, ३।४१-४२.
 ९१. मनुस्मृति, २।८८-९३.
 ९२. दीघनिकाय (पठमो भागो), बम्बई युनिवर्सिटी-१, प्रथम आवृत्ति, सन्
 १९४२, २।७।१। इतिवृत्तक, अनु० भिक्षुधर्मरत्न प्रका० महाबोधि सभा,
 सारनाथ, बनारस, बुधाब्द २४९९, २।२। विशुद्धिमग्नो-१।१०।१। धम्म-
 पद-७।५.
 ९३. कन्टेम्प्रेरी एथिकल थ्योरोज, पृ० १८५-१८६.
 ९४. आचारांग, २।१५. ९५. वही, २।१५. ९६. वही, २।१।८.
 ९७. वही, २।११.
 ९८. संकल्पमूला हि सर्वे कामाः । गीता (शांकरभाष्य), ६/४.
 ९९. संकल्पमूलः कामः । मनुस्मृति-२/३.
 १००. संशोधक-भिक्षु जगदीश काश्यप, महानिद्देशपालि । सुत्तपिटक, बिहार
 राज्य पालि प्रकाशन मण्डल, सन् १९६०, १।१।१.
 १०१. महाभारत शान्ति०, १७७।२५.
 १०२. आचारांग, १।४।१, पर शीलांक टी० पत्रांक० १६३.
 १०३. आचारांग, १।१।५. १०४. संयुक्त निकाय, ४।३५।९४-९५.
 १०५. ऋग्वेद, प्रका० वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत
 मुद्रणालय, औन्धनगर, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९४०, १।१६।४।२०.

१४८ : आचाराङ्ग का नोतिशास्त्रीय अध्ययन

१०६. ऋग्वेद, ८।७८।५. १०७. आचारांग, १।९।१.
१०८. श्री शिवकोटि आचार्य, मूलाराधना (भगवती आराधना) अनु० पं०
जिनदास पार्श्वनाथ बलात्कारगण जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा,
सन् १९३५, १९१६.
१०९. उत्तराध्ययन ३२।१०१. ११०. वही ३२।१००.
१११. बद्धो हि को यो विषयानुरागी
को वा विमुक्ति विषय विरक्ति—शंकराचार्य ।
११२. उत्तराध्ययन, ३२।२१. ११३. आचारांग, १।८।८.
११४. समयसार, १५०.
११५. श्रीभद्रबाहुस्वामी, व्यवहारभाष्य, केशवलाल प्रेमचन्द्र, अहमदाबाद,
२।५४.
११६. दशवैकालिक, २९५. ११७. गीता, १।८।५१-५२.
११८. थेरीगाथा, १४।६७१, संयुक्तनिकाय, ४।३५।२३२, दीघनिकाय,
२।८३.
११९. आचारांग, १।३।३. १२०. ऐतरेय आरण्यक १।३।२.
१२१. उत्तराध्ययन, २३।५८, १।१५. १२२. वही, २४।११.
१२३. घम्मपद, ३।१. १२४. मज्झिमनिकाय, २।३५।४.
१२५. घम्मपद, ३।३. १२६. ज्ञानार्णव, १।८।११८, १२०.
१२७. योगशास्त्र, ३६।३९. १२८. अथर्ववेद, ४।३।१।३.
१२९. यजुर्वेद, अजमेर वैदिक यन्त्रालय, वि० सं० १९५६, ३४।६.
१३०. श्वेताश्वतरोपनिषद् २/९. १३१. गीता, ६/३४-३५, ६/१४.
१३२. आचारांग, १/४।४. १३३. वही, १/१/५.
१३४. वही, १/१/५.
१३५. श्रीवट्टेकराचार्य, मूलाचार, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रंथमाला समिति,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई, प्रथम आवृत्ति, वी०सं० २४४७, ना० ९९५.
१३६. गीता, २/५९, ३/६. १३७. आचारांग, १/२/२, १/५/६.
१३८. वही १/६/४. १३९. वही, १/६/४. १४०. वही, १/६/४.
१४१. श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय
कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति, सन् १९३९, म० ७.
१४२. आचारांग, १/६/४. १४३. वही, १/६/४.
१४४. वही, १/५/४. १४५. वही, १/५/१. १४६. वही, १/६/२
१४७. आचारांगचूर्णि, पृ० ६१. १४८. आचारांग १/२/२
१४९. दशवैकालिक, २/२/३. १५०. गीता, ३/३३, ७/६.

नैतिकता की मौलिक समस्याएँ और आचाराङ्ग : १४९

१५१. श्रीमदभनंगवज्ज, प्रज्ञोपायविनिश्चय, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, सन् १९२९, ५/४०. एवं आचार्य शान्तिदेव; बोधिचर्यावतार, अनु० शान्ति-भिक्षुशास्त्री युद्ध विहार, लखनऊ, प्रथम आवृत्ति, सन् १९५५, भूमिका, पृ० २०.
१५२. आचारांग, १/४/३. १५३. वही, १/४/४.
१५४. वही, १/६/३. १५५. वही, १/४/४
१५६. वही, १/६/२, १/३/३. १५७. वही १/८/८, १/९/४.
१५८. अष्टपाहुड (सोलपाहुड) गा० ३५.
१५९. कविवर पं० राजमहलजी, पंचाध्यायी, श्री गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थ-माला, बनारस, प्रथम संस्करण, वी० सं० २४७६, उत्तरार्ध १११८.
१६०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ११२-११४.
१६१. पं० दौलतरामजी, छहडाला, शास्त्रस्वाध्यायमाला, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, सब्जीमण्डी देहली-६, सन् १९७४, ३/९.
१६२. धम्मपद, ३६०-६१. १६३. आचारांग, १/५/२.
१६४. संपा० पं० जगदीश शास्त्री, ब्रह्मबिन्दूपनिषद् (उपनिषद् संग्रह) संग्रह मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, सन् १९७०, २ दिल्ली-७.
१६५. सम्पा० पं० जगदीश शास्त्री, तेजोबिन्दूपनिषद् (उपनिषद् संग्रह) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७०, ५/९५-१०१.
१६६. मैत्रायणी आरण्यकोपनिषद् (अष्टादश उप० प्रथम खण्ड), वैदिक संशोधन मण्डल पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८०, ६/३४/११/.
१६७. आचारांग, १/८/८. १६८. वही, २/१५.
१६९. वही, १/८/८. १७०. वही, १/५/६. १७१. वही, १/२/५.
१७२. वही, १/५/६.



षष्ठ अध्याय

आचारांग का मुक्तिमार्ग

भारतीय अध्यात्मवादी दर्शनों में मोक्ष प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना-मार्ग का विधान है। जैन साधना में भी त्रिविध साधना-मार्ग का विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण स्थान है। जैन धर्म में इस साधना का मूल आधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय की एकता को ही मोक्ष मार्ग कहा गया है। जो महत्त्व योगदर्शन की साधना-पद्धति में अष्टांग योग का है वही महत्त्व जैन धर्म में रत्नत्रय मूलक साधना-पद्धति का है।

आचारांग में मुक्ति-मार्ग की साधना की चर्चा अवश्य है, किन्तु उत्तरवर्ती तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में जिस प्रकार स्पष्ट रूप से 'दर्शन', 'ज्ञान' और 'चारित्र' को मुक्ति का मार्ग कहा गया है और 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वार्थसूत्र १।१) इस सूत्रगत परिभाषा को परवर्ती सभी जैन दार्शनिकों ने मान रखा है। इसका बिखरा रूप आचारांग में उपलब्ध होता है। यद्यपि आचारांग में इस त्रिविध साधना मार्ग के लिए सीधे-सीधे कहीं एक साथ 'दर्शन', 'ज्ञान' और 'चारित्र' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उसमें से 'किट्त्ति तेसि समुट्ठियाणं निक्खित्तदण्डाणं समाहियाणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं ।'^१ इस सूत्र के द्वारा 'अहिंसा', 'प्रज्ञा' और 'समाधि' के रूप में त्रिविध साधना-मार्ग का विधान है। अन्यत्र भी 'से हु पण्णाणमंते बुद्धे आरम्भोवरए सम्ममेयंति पासह'^२ तथा 'जेय पण्णाणमंता य बुद्धा आरम्भोवरया'^३ इन तीन पदों से रत्नत्रय अर्थात् मुक्तिमार्ग का बोध कराया गया है। 'सम्यग्दर्शन' के लिए 'पबुद्ध', 'सम्यग्ज्ञान' के लिए 'पण्णाणमंता' और 'सम्यक् चारित्र' के लिए 'आरम्भोवरया' शब्द व्यवहृत हैं। आचारांग में सम्यग्दर्शन के लिए 'समाधि' शब्द भी आया है।

आचारांग में हो नहीं, अपितु बौद्धदर्शन में भी शील, समाधि और प्रज्ञा रूप त्रिविध साधना-मार्ग का वर्णन है। वस्तुतः बौद्धदर्शन का यह त्रिविध साधना-मार्ग आचारांग के 'प्रज्ञा', अहिंसा और समाधिरूप साधना-मार्ग के समान ही है। तुलनात्मक दृष्टि से बौद्ध दर्शन के शील

को 'निक्खितदंडाण' समाधि को 'समाहियाण' और प्रज्ञा को 'पण्णाण-मंताण' से तुलनीय माना जा सकता है। गीता में भी ज्ञान, भक्ति (श्रद्धा) और कर्म के रूप में त्रिविध साधना-मार्ग का वर्णन हुआ है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गए हैं— ज्ञान, अनुभूति और संकल्प। चेतना के इन तीनों (ज्ञान-भाव और संकल्प) पक्षों का अनन्त ज्ञान-दर्शन, अनन्त सौख्य (आनन्द) और अनन्तवीर्य (अनन्त शक्ति) के रूप में पूर्ण विकास के लिए आचारांग में त्रिविध मुक्ति-मार्ग की साधना का विधान है।

इसके अतिरिक्त भी आचारांग में 'एस मग्गे आरिएहिं पवेइए' 'उट्ठए णो पमायए' में अप्रमाद को मार्ग कहा गया है तो अन्यत्र 'णेवसयं एएहिं कज्जेहिं दण्ड समारम्भेज्जा णे वण्णेहिं एएहिं कज्जेहिं दण्डसमारम्भावेज्जा णेवण्णेहिं एएहिं कज्जेहिं दण्डसमारम्भन्तं समणु जाणेज्जा एसमग्गे आरिएहिं पवेइए' के द्वारा 'दण्डसमारम्भ' से विरति या 'अहिंसा' को मार्ग कहा है। कहीं 'परिग्गहाओ अप्पाण मवसक्केज्जा एस मग्गे आरिएहिं पवेइए' कह कर अनासक्ति (अमूर्च्छा) या अपरिग्रह को मोक्षमार्ग कहा है तो कहीं 'अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के' कहकर अरति के निवारण या चैतसिक अनुद्विग्नता को, और 'विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, 'लोभमलोभेण दुगंछमाणे लद्धे कामे णाभिगाहई' में अलोभ (संतोष) को 'एसमग्गे आरिएहिं पवेइए' अर्थात् आयौ द्वारा प्रतिपादित मोक्ष मार्ग कहा है।

सामान्यतया मुक्ति के दो साधन हैं—'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है। सूत्रकृतांग^४ में भी 'अहिंसु विज्जा चरणं पमोक्खो' विद्या और आचरण को मोक्ष का साधन कहा गया है।

आचारांग में यह निर्देश है कि कुछ लोग सम्पन्न कुल में जन्म लेकर भी यदि रूप में आसक्त हो जाते हैं तो उन्हें मोक्ष नहीं मिलता है।^५ आचारांग में यह भी निर्देश मिलता है कि 'जे अणण्ण दंसी से अणण्णारामी'—जो यथार्थ द्रष्टा या आत्मद्रष्टा होता है वह जिनोक्त सिद्धान्त अथवा जिनाज्ञा के विपरीत आचरण नहीं करता अर्थात्, मोक्ष-मार्ग से विपरीत आचरण नहीं करता। इस सूत्र में 'अणण्णदंसी' के द्वारा सम्यग्दर्शन और 'अणण्णारामी' शब्द के द्वारा सम्यग्चारित्र्य का स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु यहाँ स्मरणीय है कि 'अणण्णदंसी' शब्द में ज्ञान अन्तर्भूत है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं रहता। इसीलिए

१५२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

यहाँ 'अण्णदंसी' और 'अण्णारामी' पद के द्वारा त्रिविध साधना मार्ग से मोक्षपद की उपलब्धि बतलाई गई है। उक्त विवेचना से यह सिद्ध होता है कि आचारांग में मुक्ति-मार्ग की साधना के बीज निहित हैं, परन्तु परवर्ती ग्रन्थों के समान उसका सुव्यवस्थित एवं सुविकसित रूप हमें उसमें देखने को नहीं मिलता है।

आचारांग में सम्यग्दर्शन शब्द का प्रयोग एवं उसके पर्यायवाचो :

साधना की प्रथम भूमिका सम्यग्दर्शन है। इस सन्दर्भ में आचारांग में सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित विचार तो अवश्य उपलब्ध होते हैं, परन्तु उसका सुव्यवस्थित रूप हमें उसमें परिलक्षित नहीं होता और न उत्तरवर्ती जैनग्रन्थों के समान परिभाषाबद्ध कोई स्पष्ट निर्देश ही मिलता है। यही कारण है कि आचारांग में दर्शन (सम्यग्दर्शन) के लिए 'सम्यग्दृष्टि', 'समत्वदर्शी', 'अनन्यदर्शी', 'निष्कर्मदर्शी', 'अनोमदर्शी', 'आतंकदर्शी', 'परमदर्शी' आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं। इसके अतिरिक्त 'सम्यक्त्व', 'समत्व', 'दर्शन', 'पास', 'पासइ', 'पासिय', 'समाधि', 'पबुद्ध, श्रद्धा' आदि अनेक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। आचारांग में 'सम्यग्दर्शन' शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' या 'दर्शी' शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है और वह उसके दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। 'पास', 'पासिय' 'पासह' शब्द आत्म-जागरूकता या अप्रमत्तदशा को ओर संकेत करते हैं। 'दर्शन' शब्द सिद्धान्त के अर्थ को भी बताता है। आचारांग में 'समाधि' शब्द का प्रयोग चित्त की निर्विकल्पदशा का संसूचक है।

सम्यग्दर्शन-विभिन्न अर्थ में :

'दृश दर्शने' धातु से अण् प्रत्यय लगकर 'दर्शन' शब्द बना है। दृष्टि का अर्थ है—दर्शन। प्राचीन दार्शनिकों ने सभी ज्ञान-विज्ञानों को दर्शन कहा है। सामान्य व्यवहार में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग 'देखने' के अर्थ में होता है, अर्थात् नेत्रजन्य बोध को देखना या दर्शन कहते हैं, अंग्रेजी भाषा में जिसे विजन (Vision) कहा जाता है। परन्तु आचारांग में प्रयुक्त 'दृष्टि' या 'दर्शन' का अर्थ मात्र नेत्रजन्य बोध या इन्द्रियगम्य वस्तुओं के अवालोचन का बोधक नहीं है, अपितु मनोगम्य या अतीन्द्रिय ज्ञान का द्योतक है। अतः 'दर्शन' का वास्तविक अर्थ है—सत्य-तत्त्व का साक्षात्कार। संक्षेप में सम्यग्दृष्टि अर्थात् सम्यक् बोध। इस प्रकार आचारांग के विचार से सम्यक् दृष्टि को विशुद्ध या यथार्थदृष्टि कहा जा सकता है। उसमें इसके लिए 'समत्तदंसी न करेइ पाव', आयकंदसी न

करेइ पावं^{१०} 'परमदंसी'.....'ओए समिय दंसणे'^{११}... 'वीरा सम्मत्त दंसिणो'^{१०}... 'णिकम्मदंसी इह मच्चिएहि'^{११}.....'जे अणणदंसी से' आदि प्रयोग देखे जा सकते हैं।

उपर्युक्त प्रयोगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्यक्-दृष्टि (यथार्थ दृष्टि) प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है, मोह का पर्दा टूट जाता है और आत्मा को सत्यतत्त्व का साक्षात्कार होने लगता है। पूर्वदृष्ट पदार्थ अपने नये स्वरूप में दिखाई देने लगते हैं। सम्यग्दृष्टि प्राप्त होते ही उसके समस्त मापदण्ड बदल जाते हैं। वह नये सिरे से प्रत्येक वस्तु का मूल्य निर्धारित करने लगता है क्योंकि उसकी दृष्टि ही सम्यक् या शुद्ध हो जाती है। दृष्टि के अनुरूप ही उसे सारी सृष्टि दिखाई पड़ती है। अतः सम्यग्दृष्टि आत्मा की चित्तवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा गया है कि—

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्रसरीखा भोग।

काक बोट सम गिनत है सम्यग्दर्शी लोग ॥

आचारांग के अनुसार विशुद्ध दृष्टि का प्राप्त होना ही सम्यग्दर्शन है।

आचारांग में कहीं-कहीं 'दर्शन' शब्द सिद्धान्त के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे 'एयं पासगस्स दंसण'^{१२} आदि। आचारांग में 'दर्शन' के लिए 'पासियणाणी'^{१३} 'एयं पासमुणी'^{१४}, 'संगं ति पासह'^{१५}, 'णालं पास'^{१६}, 'पुढोपास'^{१७}, इत्यादि अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये उसके यथार्थ द्रष्टा अथवा साक्षीभाव को द्योतित करते हैं।

आचारांग में साधक के लिए बार-बार निर्देश है कि तू देख ! तू देख ! यहाँ देखने से तात्पर्य अपनी मनोवृत्तियों को देखना है, उनके प्रति जागरूक रहना, या अप्रमत्त होना है, क्योंकि जो आत्मा अपनी चित्त-वृत्तियों के प्रति जागरूक रहता है या यथार्थ द्रष्टा होता है वही अपने शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित रहकर सत्यतत्त्व का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार यथार्थद्रष्टा के लिए मुक्ति का द्वार उद्घाटित हो जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति ही यथार्थद्रष्टा बन सकता है।

आचारांग में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग श्रद्धा के अर्थ में भी हुआ है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि श्रद्धा का आधार या आलम्बन क्या है ? आचारांग के अनुसार श्रद्धा के दो आधार माने गए हैं। एक सत्यतत्त्व और दूसरे सत्य के जीवन्त स्वरूप सद्गुरु या जिनाज्ञा। ये दो

१५४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

ही श्रद्धा के ऐसे महत्त्वपूर्ण आलम्बन हैं या आधार हैं, जिनके बिना तत्त्व का या सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं। जिनोक्त प्रवचन (तीर्थंकरों की आज्ञा) को श्रद्धा का आधार बताते हुए आचारांग में कहा है— 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहि पवेइयं'^{१८} जिनेश्वरों ने जो कुछ कहा है वही सत्य और शंका रहित है। आचारांग टीकाकार ने भी 'सम्यक्त्व' नामक चतुर्थ अध्ययन की टीका में सम्यग्दर्शन का अर्थ 'तत्त्वार्थं श्रद्धानं सम्यक्त्वमुच्यते' कहकर तत्त्वार्थश्रद्धान ही किया है।^{१९}

इस प्रकार आचारांग की दृष्टि से, जिनोपदिष्ट तत्त्वज्ञान (जिन प्रवचन), सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा या प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार जीवाजीवादि पदार्थों को जानना, देखना और इन पर दृढ़ श्रद्धा रखना ही 'दर्शन' है।^{२०}

सम्यग्दर्शन क्या है ? जैन दार्शनिकों ने इसका उत्तर विभिन्न दृष्टिकोणों से दिया है। आचार्य हेमचन्द्र^{२१} ने देव-गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा रखने को सम्यग्दर्शन कहा है। नवतत्त्वदीपिका^{२२} में कहा है कि तीर्थंकरोपदिष्ट सत्प्रतत्त्वों या वचनों में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है। बृहद्-द्रव्यसंग्रह^{२३} के अनुसार जीवादि तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है। आचार्य वसुनन्दि^{२४} के अनुसार आप्त, आगम और तत्त्व-इन तीनों पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है। आचार्य कुन्दकुन्द^{२५} के विचार से जिन प्ररूपित जीवादि तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखना व्यवहार सम्यक्त्व है किन्तु निश्चय नय से आत्म-श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। उमास्वाति^{२६} ने तत्त्वार्थ-श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। इस तरह सभी विचारकों ने अपने-अपने ढंग से सम्यग्दर्शन के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है किन्तु मूल-मन्तव्य सभी का एक ही है।

इस प्रकार आचारांग कहता है कि 'सड्ढी आणाए मेहावी'^{२७} अर्थात् बुद्धिमान और श्रद्धावान को आज्ञा परायण होना चाहिए, क्योंकि 'आणाए मामगौ धम्मं'^{२८} मेरी आज्ञा में ही धर्म है दूसरी ओर श्रद्धा के दूसरे तत्त्व को स्वीकार करते हुए वह यह भी कहता है कि 'पुरिसा ! सच्चमेव सममि जाणाहि, सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ सहिए धम्ममात्ताय सेयं समणुपस्सह'^{२९} हे पुरुष ! तुम सत्य को सम्यक् प्रकार से जानो अर्थात् सत्य पर पूर्ण प्रतीति रखो, क्योंकि सत्य की आज्ञा में उपस्थित बुद्धिमान पुरुष संसार या मृत्यु से पार हो जाता है। वह दर्शन ज्ञानादि रूप धर्म का आलम्बन लेकर श्रेय का साक्षात्कार कर लेता है। यह भी कहा है कि सत्य में धैर्य (विश्वास) रखकर स्थिर

हो जाओ, जिससे तुम्हारे सभी पाप कर्म क्षीण हो जायेंगे।^{३०} वस्तुतः यह सत्य निष्ठा ही व्यक्ति के जीवन को सत्यमय बना देती है। इस सत्यनिष्ठा से ही जीवन में मंगलमय आलोक की किरणें प्रस्फुटित होती हैं। गीता में भी कुछ ऐसे ही मिलते जुलते विचार उपलब्ध होते हैं।

गीता में कहा है कि 'सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज'^{३१} सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ, तथा 'चेतसा सर्व-कर्मणि मयि संन्यस्य मत्परः'^{३२} चित्त और सभी कर्मों को मुझमें समर्पित कर दो, क्योंकि 'मच्चित्तः सर्वं... मत्प्रसादात् तरिष्यसि' मुझमें समर्पित होने पर मेरी कृपा से तुम सब कष्टों से पार हो जाओगे। सभी पापों से मुक्ति का आश्वासन दिलाते हुए कहा है कि 'अहं त्वां सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'^{३३} हे अर्जुन ! तू चिन्ता मत कर, मैं तुझे सभी पापों से मुक्ति दिला दूँगा।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि आचारांग में जहाँ सत्य का प्रयोग हुआ है वहाँ गीता में अहंवाची शब्द का प्रयोग हुआ है। आचारांग में व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुणपूजा पर विशेष बल दिया गया है।

सारांश यह कि आचारांग में सम्यग्दर्शन शब्द अप्रमत्तचेता (द्रष्टा-भाव), सिद्धान्त, चैतसिक निर्विकल्पता आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार आचारांग का सम्यग्दर्शन शब्द दृष्टिकोणपरक और श्रद्धापरक अर्थ को भी अपने में समेटे हुए है।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थदृष्टि या विशुद्धदृष्टि कहें, सिद्धान्त कहें, चैतसिक निर्विकल्पता कहें या तत्त्वार्थश्रद्धान कहें, उनमें मूलतः कोई अन्तर नहीं है, मात्र उसको उपलब्धि की विधि में अन्तर है। व्यक्ति स्वयं यथार्थ दृष्टिकोण के माध्यम से सत्यतत्त्व का साक्षात्कार करे अथवा आप्तवचनों या कथनों पर दृढ़ आस्था रखकर श्रद्धा के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करे, कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तिम स्थिति तो सत्य तत्त्व का साक्षात्कार करना ही है। इस सन्दर्भ में पं० सुखलाल जी का कथन द्रष्टव्य है 'तत्त्व श्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह अन्तिम अर्थ नहीं है। अन्तिम अर्थ तो तत्त्व-साक्षात्कार है, तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्व साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है। वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है, तब साधक जीव मात्र चेतनतत्त्व का समान भाव से अनुभव करता है और चरित्रलक्षी तत्त्व केवल श्रद्धा के विषय में न रहकर जीवन में ताने-बाने की तरह

१५६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

ओतप्रोत हो जाते हैं, एक रस हो जाते हैं। इसी का नाम है तत्त्व साक्षात्कार और यही सम्यग्दृष्टि शब्द का अन्तिम तथा एकमात्र अर्थ है'।^{३५}

साधना का मूलाधार-सम्यग्दर्शन :

जैन आचार साधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन है, जिस पर साधना का सुमनोरम प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। यदि मूल में भूल है, सम्यग्दर्शन का अभाव है तो हमारी सारी साधनाएँ निष्फल एवं निष्प्राण हो जाती हैं। आचारांग में स्पष्टतः सम्यग्दृष्टि के जीवन व्यवहार को प्रभावित करने वाले लक्षण बताते हुए कहा है कि 'सम्मतदंसी न करेइ पावं' सम्यग्दृष्टि आत्मा पाप कर्म का आचरण या पाप का बन्ध नहीं करता। उसके विचार से सम्यग्दृष्टि ही जीवनदृष्टि है। व्यक्ति की (जीवन) दृष्टि जैसी होती है, उसके अनुरूप ही उसके चारित्र्य का निर्माण होता है और वह दृष्टि ही उसके जीवन को आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाती है। किसी आचरण का सत् होना या असत् होना कर्ता या व्यक्ति की दृष्टि (सम्यग्दर्शन) पर निर्भर करता है। यह तो सच है कि सम्यग्दृष्टि फलित होने वाला आचरण सदैव सत् होगा और मिथ्यादृष्टि से निष्पन्न होने वाला आचरण सदैव असत् होगा। सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य या आचरण आकांक्षा-रहित होते हैं। यही कारण है कि उसे पाप का बन्ध नहीं होता।

वस्तुतः कर्मबन्ध का मूल, आसक्ति या आकांक्षा ही है और सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार की आकांक्षा या आसक्ति होती ही नहीं। उसे स्वस्वरूप या आत्मस्वरूप की उपलब्धि के अतिरिक्त सब कुछ निःसार एवं हेय प्रतीत होता है। वह आत्मस्वरूप के प्रति इतना निष्ठावान होता है कि किसी भी विभाव में उसकी आस्था निष्ठ नहीं रह जाती है। शुद्ध आत्मोपलब्धि ही उसकी साधना का लक्ष्य होता है। उस यथार्थदर्शी के समक्ष पौद्गलिक (जड़) पदार्थ कोई मूल्य नहीं रखते। इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यग्दृष्टि सम्पन्न मनुष्य पाप-कर्म के बन्धन से अपने को निवृत्त कर लेता है, अर्थात् उसका जीवन आत्माभिमुखी हो जाता है। वह कहीं भटकता नहीं है, कहीं अटकता नहीं है, पथ-भ्रष्ट नहीं होता, अपितु अपने साध्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। उसे अपनी आत्मा की अमरता और अजेय शक्ति पर अटूट विश्वास होता है। वह अपनी आत्मा को विस्मृत कर कोई भी अप्रिय आचरण नहीं करता। वह यथार्थद्रष्टा होता है। उसके अन्तः-

करण में सदैव सत्य की ज्योति जलती रहती है। आचारांग के विचार से सत्य ही जीवन का सारभूत तत्त्व माना गया है। सत्य की आराधना उसके जीवन का ध्येय होता है। सत्य की उपासना करने वाले सम्यग्दृष्टा के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत बन जाता है। अतः आचारांग का 'सम्मतदर्सी न करेह पाव' भी एक रहस्यपूर्ण सूत्र है। सम्भवतः यह बात या तो उस भूमिका पर स्थित व्यक्ति के लिए कही गई है जहाँ 'समत्व' चरम सीमा पर पहुँच जाता है या फिर जहाँ से वीतरागता की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है। एक समत्व की तलहटी है तो दूसरा शिखर। परन्तु है दोनों समत्व। जो वीतरागता के अन्तिम स्तर या चरम शिखर पर पहुँच चुका है वह कोई पापकर्म नहीं करता और जो उस अन्तिम स्तर पर पहुँचने की या उस शिखर पर चढ़ने की तैयारी कर रहा है वह भी कोई पापकर्म नहीं करता। इसका आशय इतना ही है कि उस साधक के अन्तःकरण में कोई पापकर्म न करने का संकल्प जागृत हो जाता है। वह उस संकल्प के साथ अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देता है। अन्तिम स्तर पर पहुँचकर उसकी समूची पापवृत्तियाँ छूट जाती हैं। अन्ततः वह पूर्ण वीतरागी या निष्कामी बन जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि आत्मा की आन्तरिक स्थिति 'जहा पोम्मं जले जागं नोव लिप्पइ वारिणा'³⁸ के समान होती है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगबिन्दु में इसका संक्षिप्त एवं सारगर्भित चित्रण प्रस्तुत किया है। उनके विचार से—'मोक्षे चित्तं तनुभवे' अर्थात् सम्यग्दृष्टि का मन (चित्त) मोक्ष में और तन संसार में होता है। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि की मनोवृत्ति संसारातीत होती है। वह गृहस्थ जीवन में रहकर सांसारिक दायित्वों को निभाने पर भी पाप से लिप्त नहीं होता। यही कारण है कि आचारांग में इस बात पर बल दिया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव कषाय से प्रेरित होकर कोई पापकर्म नहीं करता और न पापाचरण की आन्तरिक वृत्ति ही उसमें जागृत होती है।

आचारांग में यह भी कहा है कि बोधि-सम्पन्न साधक के लिए पूर्ण सत्यप्रज्ञ अन्तःकरण से पापकर्म अकरणिय होता है।³⁹ इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग की दृष्टि से साधना-मार्ग पर अग्रसर होने के लिए सम्यग्दर्शन (बोधि-सम्पन्न) होना अनिवार्य है। परन्तु वह दर्शन प्रज्ञा प्रसूत होना चाहिए। आचारांग में स्पष्ट कहा है कि जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ ही मुनित्व है।^{3c} मुनित्व की साधना ही समत्व या सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होती है। आचारांग के साधनामार्ग में श्रद्धा तत्त्व भी महत्त्व-

पूर्ण है। उसके बिना विकास सम्भव नहीं है। श्रद्धाविहीन साधना का किञ्चित् मात्र भी मूल्य नहीं। आचाराङ्गकार का कथन है कि साधक का यह नैतिक कर्तव्य एवं दायित्व है 'जाए सद्भाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया विजहितु विसोत्तिय'^{३९} जिस श्रद्धापूर्वक साधक ने अभिनिष्क्रमण किया है, साधना के क्षेत्र में प्रवेश किया है, अन्त तक उसी श्रद्धा को बनाए रखे, लक्ष्य के प्रति किसी तरह की शंका न रखे और न चैतसिक चंचलता के प्रवाह में बहे। मात्र इतना ही नहीं अपितु यह भी कहा गया है कि 'चिच्चा सव्वं विसोत्तियं फासे फासे समियदंसणे'^{४०} सम्यग्दर्शन सम्पन्न मुनि सब प्रकार की चैतसिक चंचलता या शंकाओं को छोड़कर (साधना में आने वाले) स्पर्श-कण्टों को समभावपूर्वक सहन करे।

उपर्युक्त सूत्रों में 'विसोत्तिय' शब्द दुष्ट-चिन्तन, शंका, दुर्ध्यान, विमार्गगमन आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपसर्गों या कण्टों के आने पर कभी-कभी साधक के मन में दुर्ध्यान आ जाता है, दुश्चिन्तन होने लगता है अथवा उसका चित्त चंचल और क्षुब्ध होकर असंयम की ओर भागने लगता है। मन में अनेक प्रकार की कुशंकाएँ (कुविकल्प) उत्पन्न होने लगती हैं। जैसे—मैं ये परीषह सह रहा हूँ, उनका सुफल मिलेगा या नहीं? इतने कठोर तप-संयम या महाव्रत रूप चारित्र का शुभफल मिलेगा अथवा नहीं? आगमोक्त प्रवचन सत्य है या नहीं? इत्यादि इस तरह की कुशंकाएँ साधक के चित्त को अस्थिर, भ्रान्त, अस्वस्थ एवं असमाधियुक्त बना देती हैं। ये विस्मोत्सिकाएँ (शंकाएँ) मोहनीय कर्म के उदय से होती हैं।

शंका जीवन की महान दुर्बलता है। यह विवेक और विश्वास को नष्ट करती है, सम्यग्दर्शन को नष्ट करती है। इसके रहते जीवन का सम्यग्रूपेण विकास नहीं हो पाता। शंका ही एक ऐसा तत्त्व है जो हमारे संकल्प में दृढ़ता नहीं आने देता। संकल्प की दृढ़ता के बिना लक्ष्य-पूर्ति या उद्देश्य-प्राप्ति के लिए अपेक्षित आन्तरिक बल प्राप्त नहीं होता और आन्तरिक बल के अभाव में सिद्धि नहीं हो सकती। अतः यह अनिवार्य है कि साधक को अपनी साधना एवं साध्य के प्रति पूर्ण विश्वास (श्रद्धा) होना चाहिए। साथ ही अपने अन्तःकरण में किसी भी प्रकार की शंका को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। जब तक जिनोक्त सत्यतत्त्वों या साधना के प्रति शंका बनी रहेगी तब तक व्यक्ति अध्यात्म साधना के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। इसीलिए आचाराङ्ग में साधक को समस्त

शंकाओं को छोड़कर साधना-पथ पर आगे बढ़ने के लिए कहा है। क्योंकि 'वित्तिगिच्छ समावण्णेण अप्पाणेण णोलभति समाधि'^{४१}—शंकाशील व्यक्ति (विचिकित्सा-प्राप्त आत्मा) समाधि को प्राप्त नहीं करता। इसी बात को गीताकार ने 'संशयात्माविनश्यति' कहकर संशय से होने वाली हानि को बताया है। आचारांग के अनुसार समस्त प्रकार की शंकाओं को नष्ट कर चैतसिक समाधि को प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण आलम्बन सूत्र है—'तमेव सच्चं णोसंकं जं जिणेहि पवेइयं।' वस्तुतः यह निःशंकाता सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है। यथार्थ दृष्टि या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्त्व है जो साधक के ज्ञान और आचरण को सही दिशा-बोध देता है। आचारांगनिर्युक्ति में तपश्चरण, ज्ञान और चारित्र्य से पूर्व दर्शन की प्राथमिकता को स्वीकार किया गया है। दर्शन की महत्ता को स्पष्ट करते हुए आचार्य भद्रबाहु लिखते हैं 'तम्हा कम्माणियं जे उ मणो दंसणम्मि पज्जइज्जादंसणवओ हि सफलाणि हुंति तवणाण चरणाइ'^{४३} सम्यग्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति के ही तप, ज्ञान और चारित्र्य सफल होते हैं। आचारांग की भाँति ही उत्तरवर्ती जैनागमों में भी साधना के क्षेत्र में दर्शन की महत्ता को स्वीकार किया गया है। सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए ज्ञाताधर्मकथा^{४३} में इसे 'अपडिलद्ध सम्मत रयण-पडिलभेणं...' कहकर रत्न की उपमा दी गई है। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययन^{४४} में कहा है कि 'नत्थि चरित्तं सम्मत विहूण' सम्यक्त्व से रहित चारित्र्य का महत्त्व नहीं है। महानिशीथ^{४५} में साधना के लिए सम्यग्दर्शन को प्राथमिकता दी गई है। दर्शनपाहुड^{४६} और रत्नकरण्डश्रावकाचार^{४७} में भी जीवन विकास के लिए ज्ञान और चारित्र्य के पूर्व 'दर्शन' का होना महत्त्वपूर्ण माना गया है। अष्टपाहुड में दर्शन की महत्ता को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाते हुए यहाँ तक कहा गया है कि दंसण-भट्ठाभट्ठा, दंसणभट्ठस्स नत्थि णिव्वाणं। सिज्झति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झति।^{४८} मतलब यह है कि चारित्र्य भ्रष्ट व्यक्ति का निर्वाण सम्भव है परन्तु दर्शन (सम्यग्दर्शन) से चलित आत्मा का निर्वाण सम्भव नहीं है। सन्त आनन्दघन जी ने भी अपनी अध्यात्म वाणी में श्रद्धापरक दर्शन की महिमा का उल्लेख निम्न रूप में किया है—
शुद्ध श्रद्धानबिन सर्व किरिया करी।

छार (राख) पर लीपणो तेह जाणो रे ॥^{४९}

पं० दौलतराम जी ने 'छहूढाला'^{५०} में दर्शन को मुक्ति मन्दिर में पहुँचने का प्रथम सोपान कहा है—वे कहते हैं—

१६० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी या विन ज्ञान चरित्रा ।

सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा ॥

अंगुत्तरनिकाय^{५१}—प्रथम निपात, गोता-शांकरभाष्य^{५२} और मनु-स्मृति^{५३} में भी साधना के क्षेत्र में सम्यग्दर्शन का महत्त्व माना गया है। आचाराङ्ग के 'जास्सद्धाणिक्खंतो तमेव अणुपालिआ' की भाँति गीता भी 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' कहकर श्रद्धा के महत्त्व को स्वीकार करती है तथा यह भी कहती है कि 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव सः'^{५४} जो पुरुष श्रद्धामय होता है, उसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता है।

यजुर्वेद में भी कहा है 'श्रद्धया सत्यमाप्यते'^{५५} श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है 'श्रद्धा मेऽक्षिति'^{५६} अर्थात् मेरी श्रद्धा अक्षय हो क्योंकि श्रद्धा से ही देव देवत्व को प्राप्त करते हैं।^{५७}

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आचारांग की दृष्टि से आध्यात्म साधना में सम्यग्दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है और यहीं से साधना को शुरुआत होती है। सम्यग्दर्शन से ही साध्य की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शनपूर्वक समाचरित आचरण ही सम्यग्चारित्र के नाम से पहचाना जाता है। दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र दोनों सम्यक् नहीं रह पाते।

सम्यग्ज्ञान :

जैन परम्परा में त्रिविध साधना मार्ग के रूप में ज्ञान मुक्ति प्राप्ति का साधन है। किन्तु कौन सा ज्ञान मुक्ति-प्राप्ति के लिए उपादेय है, यह विचारणीय विषय है। यद्यपि आचाराङ्ग में स्पष्टः ज्ञान से संबन्धित चर्चा स्वतन्त्र रूप से नहीं है, किन्तु उसमें 'तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया',^{५८} 'आगय पण्णाणाणं.....',^{५९} 'सव्वसमण्णा गय पण्णाणेहि अप्पाणेहि—'^{६०} णाणभट्ठा दंसणलूसिणो—'^{६१} जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ—'^{६२} संसयं परिजाण तो संसारे—'^{६३} जे आया से विण्णाया—'^{६४} आदि अनेक प्रासंगिक प्रयोग देखे जा सकते हैं।

आचाराङ्गसूत्र के इन प्रयोगों के आधार पर यह भी स्पष्ट होता है कि परवर्ती जैन साहित्य में जिस प्रकार ज्ञान का विस्तृत विवेचन या प्रक्रिया व्यवस्थित एवं परिभाषा रूप में दृष्टिगत होती है, वह आचाराङ्ग के इन प्रयोगों में दृष्टिगोचर नहीं होती। आचाराङ्ग में 'ज्ञान' के

लिए 'मइ', 'सुय', 'आगम', 'णाण', 'विण्णाणे', 'णाणी', 'पण्णा', 'पण्णाण', 'परिण्णा', 'विण्णाया' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। अनेक स्थलों पर 'जाणइ-पासइ' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं और यह आचारांग का अति प्राचीनतम रूप है। इससे 'दर्शन' और 'ज्ञान' दोनों का निर्देश मिलता है। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान-सम्बन्धी विवेचन परिभाषाबद्ध रूप में नहीं है, किन्तु सर्व साधारण के व्यवहारों के अनुकूल है। इसी से आचारांग की प्राचीनता स्वतः सिद्ध है। संभवतः इन्हीं विचारों के आधार पर धीरे-धीरे ज्ञान का स्वरूप, प्रकार आदि परिभाषाबद्ध, व्यवस्थित रूप में विकसित एवं सुस्थिर होते गये।

सत्य प्राप्ति की खोज का प्रथम चरण-सन्देह (जिज्ञासा) :

आचारांग में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए सन्देह (संशय) पर बल दिया गया है। सूत्रकार कहता है कि जो संशय को जानता है वह सम्यक्तया संसार के स्वरूप को जान लेता है—ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्याग कर देता है और जो संशय को नहीं जानता है वह संसार के स्वरूप को नहीं जानता है।^{१५} संशयात्मक ज्ञान से ही संसार के स्वरूप का ज्ञान होता है। जब तक किसी पदार्थ के सम्बन्ध में संशय नहीं होता, तब तक उसके सम्बन्ध में ज्ञान के नये-नये उन्मेष नहीं खुलते हैं। आचारांग के अनुसार संशय का तात्पर्य है—वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा (जिज्ञासा वृत्ति) और यह जिज्ञासामूलक सन्देह मनुष्य के ज्ञान की अभिवृद्धि का बहुत बड़ा कारण है।

संशय (जिज्ञासा) दर्शन का मूल है। जिनके मन में संशय या जिज्ञासा नहीं होती, वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इससे यह स्पष्ट है कि आचारांग संशय को सत्य की उपलब्धि का एक महत्वपूर्ण चरण मानता है। इस सन्दर्भ में 'न संशयमारुह्य नरो भद्राणि पश्यति' यह नीतिसूत्र आचारांग की भाँति जिज्ञासा प्रधान संशय का समर्थन करता है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य दार्शनिक भी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य या जिज्ञासा से मानते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह जिज्ञासा-पद्धति (संशय पद्धति) काफी कुछ उपयोगी प्रतीत होती है। टीकाकार शीलंकाचार्य का कथन है कि यह संशय या जिज्ञासा दो प्रकार की होती है—एक अर्थगत और दूसरी अनर्थगत। मोक्ष एवं मोक्ष के उपायभूत तप-संयम आदि को जिज्ञासा वृत्ति को अर्थगत संशय तथा संसार और संसार-परिभ्रमण के कारणों की जिज्ञासा वृत्ति को अनर्थगत संशय कहते हैं। वस्तुतः ज्ञान के विकास की यात्रा दोनों प्रकार

के सन्देहों से ही प्रारम्भ होती है। संसार और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञाता (अनुभवी) ही ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्यागकर सकता है। इसीलिए आचाराङ्गकार को यह कहना पड़ा कि संशय से ही संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। संसार का अर्थ है—जन्म-मरण की परम्परा। जब तक मन में यह जिज्ञासा नहीं होती है कि वह सुखद है या दुःखद, तब तक उसका क्रम चलता रहेगा। जब उसके प्रति सन्देहात्मक जिज्ञासा उत्पन्न होगी तभी व्यक्ति ज्ञ-परिज्ञा से संसार की निःसारता का यथार्थबोध कर अर्थात् संसार और संसार के हेतुभूत मिथ्यात्व, अविरति आदि को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से निवृत्त हो सकता है। जिसे संसार के स्वरूप के प्रति संशयात्मक जिज्ञासा ही नहीं होती, उसे संसार की असारता का यथार्थबोध या ज्ञान ही नहीं होता। फलतः संसार से उनकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती है।^{११}

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। उस अनन्त का ज्ञान अनन्त ही कर सकता है। इसका आशय यही है कि जिसने किसी एक वस्तु को सम्पूर्ण रूप से जान लिया है, वह अन्य सभी वस्तुओं को सम्पूर्ण रूप से जान सकता है।

आचाराङ्गकार ने एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया है—‘जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ, ।^{१२} जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों के अनन्त गुणधर्मों और उसके अनन्तपर्यायों को पूर्णरूप से जानने का सामर्थ्य केवलज्ञान के सिवा किसी भी ज्ञान में नहीं है। अतः केवलज्ञान, ज्ञान का पूर्ण विकास है, वह अनन्त है। इसीलिए उसमें अनन्त को जानने की शक्ति है। उस शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति ही मनुष्य जीवन का अन्तिम साध्य है। इस आत्मा में अनन्त ज्ञान और शक्ति स्वभाव से ही विद्यमान है, क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है। ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना करना सम्भव नहीं है। ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। आचाराङ्ग में स्पष्टतः निर्देशित है कि जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।^{१३} इस प्रकार तत्त्वतः आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। ज्ञान के द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप अर्थात् जड़ चेतन का भेद स्पष्ट हो जाता है।

जैनधर्म में मूलतः दो तत्त्व (पदार्थ) माने गये हैं—चेतन (जीव) और अचेतन (अजीव) जगत् के सभी (रूपी-अरूपी) पदार्थ इन दो

तत्त्वों में समाहित हैं और इन दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक का ज्ञान होने पर दूसरे का परिज्ञान हो जाता है। जब व्यक्ति आत्म-चिन्तन करता है, उसके स्वरूप को जानने का प्रयास करता है तो वह सहज ही अन्य तत्त्वों से सम्यक्तया परिचित हो जाता है। इस प्रकार आत्म स्वरूप का ज्ञान अन्य तत्त्वों को भी सम्यक् रूप से जान लेता है। एक तत्त्व के सम्यक् परिज्ञान से सब तत्त्वों का तथा सब तत्त्वों के परिज्ञान से एक तत्त्व का परिज्ञान हो जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि एक के साथ अनेक या समस्त का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और अनेक या सबमें एक समाहित है। इसीलिए कहा है कि एक का बोध होने पर अनेक का बोध सहज ही हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति अज्ञानावरण को दूर कर पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

सम्यक् ज्ञान (Right Knowledge) का अर्थ :

सम्यक् ज्ञान का अर्थ है आत्मा का ज्ञान, अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप का यथार्थज्ञान। वस्तुतः यह सम्यक् ज्ञान ही आत्म सुख का कारण है। आत्म-विज्ञान की उपलब्धि होने के बाद अन्य किसी ज्ञान की उपलब्धि अपेक्षित नहीं है। वास्तविकता यह है अध्यात्म-साधना में ज्ञान की विपुलता अपेक्षित है। संक्षेप में आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, कर्म क्या है, आस्रव और बन्धन क्या है, आत्मा कर्मों के साथ आबद्ध क्यों होती है तथा उस बन्धन से वह मुक्त कैसे हो सकती है आदि तत्त्वों का यथार्थ परिबोध हो जाना ही सम्यक् ज्ञान है। इसके विपरीत अयथार्थ बोध मिथ्याज्ञान है। एक आत्मतत्त्व को समग्र रूप से जान लेने पर शेष सभी तत्त्वों का बोध अपने आप हो जाता है। सम्यक् ज्ञान होने का सुफल यही है कि आत्मा वैभाविक दशा को छोड़कर अपने स्वभाव में स्थिर हो जाय, विकल्प और विकारों को छोड़कर स्व-स्वरूप में लीन हो जाय। इस तरह आचारांग की दृष्टि से साधना के क्षेत्र में सम्यक् ज्ञान का वैसा ही महत्त्व है जैसा सम्यग्दर्शन का। पं० दौलतरामजी सम्यक् ज्ञान की महत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

‘जो पूरव शिव गये, जाहीं अब आगे जैहें,
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहैहैं।’^{१९}

वैदिक परम्परा में भी जीवन विकास के लिए सम्यक् ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मुण्डकोपनिषद्^{२०} में कहा है कि ब्रह्मविद्या (अध्यात्म विद्या) ही समस्त विद्याओं की प्रतिष्ठा है। याज्ञवल्क्य

१६४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

स्मृति^१ में कहा गया है कि 'अयं तु परमोधर्मः यद्योगेन आत्म-दर्शनम्' यही श्रेष्ठ धर्म है जिसके योग से आत्मदर्शन होता है। महाभारत^२, (शान्तिपर्व) में निर्देशित है कि 'आत्मज्ञानं परं ज्ञानं', गीता^३ तो आत्म-ज्ञान के संबंध में कहती है कि 'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यः ज्ञातव्यमवशिष्यते' इस एक का ज्ञान हो जाने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता है। मनु-स्मृति^४ में कहा है 'सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतं तद्यत्प्रिय सर्व-विद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः' अर्थात् सभी ज्ञानों में आत्मज्ञान ही उत्तम है वही उन सभी में प्रमुख है। इसके द्वारा परम (अमृत) पद को प्राप्त किया जाता है। शुकनीति^५ में कहा है कि इस आत्मविद्या के द्वारा सुख-दुःख, हर्ष-शोक या राग-द्वेष की प्रहाणि की जा सकती है।

सम्यक् चारित्र :

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में 'दर्शन' और 'ज्ञान' के बाद मुक्ति के लिए चारित्र (आचरण) परमावश्यक है। आचारांग की दृष्टि से चारित्र का एकमात्र उद्देश्य है, आत्मा को बन्धन से मुक्त कर, चरम एवं परम आदर्श मोक्ष प्राप्त करना। सम्यक् चारित्र का निश्चयात्मक अर्थ है, स्वस्वरूप में रमण करना।

जैन दर्शन में चारित्र के दो रूप माने गए हैं—व्यवहार चारित्र (बाह्यचारित्र) और निश्चय चारित्र (आन्तर चारित्र)। इन्हें क्रमशः द्रव्य-चारित्र और भावचारित्र भी कहा जाता है। आध्यात्मिक विकास के लिए उक्त दोनों प्रकार के चारित्र की साधना अपेक्षित है। आचाराङ्ग में दोनों का स्पष्ट नाम निर्देश तो नहीं मिलता है, किन्तु दोनों से सम्बन्धित तथ्यों का विवेचन अवश्य उपलब्ध है।

आचारांग में निश्चय चारित्र के रूप में 'समता' 'स्वस्वरूप रमणता' का विवेचन है और व्यवहार चारित्र के अन्तर्गत आचरण के बाह्य विधि-विधानों, नियमोपनियमों का निरूपण है। 'समिति', गुप्ति, 'परी-षह-जय', 'इन्द्रिय-निग्रह', 'तप-ध्यान' 'समाधि', व्रत-नियम-संयम आदि जो साधन (उपाय) आन्तर या नैश्चयिक चारित्र के पोषक हैं, वे व्यवहार चारित्र के रूप में साधक के लिए उपादेय माने गए हैं।

व्यवहारचारित्र, निश्चयचारित्र को प्राप्त करनेका साधन है। व्यवहार का सम्बन्ध बाह्य शुद्धि के कारणभूत आचार-नियमों से है। सामाजिक दृष्टिकोण से व्यवहार चारित्र ही प्रमुख है। इसका विस्तृत विवेचन श्रमणाचार सम्बन्धी अध्याय में किया गया है, जबकि निश्चय चारित्र

का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक मनोभावों से है। यह आत्मा का ही एक परिणाम है। आध्यात्मिक पूर्णता का मूलाधार यह निश्चय चारित्र ही है। आत्मा का जो अन्तराभिमुखी रहने या आत्म-रमणता का स्वभाव है, यही निश्चय चारित्र है। आचारांग में वस्तुतः इसे ही 'अण्णारामी' या स्वात्मरमणता की स्थिति कहा गया है। इसमें बाह्याभिमुखी इन्द्रिय और मन को समेट कर या आत्मदर्शन की दिशा में लगाकर स्वस्वरूप (समता) की उपलब्धि का प्रयास किया जाता है। समता से आत्मा को विप्रसादित किया जाता है। आचारांग के अनुसार निश्चय दृष्टि से सम्यक् चारित्र का वास्तविक अर्थ स्वस्वरूप या समता की उपलब्धि है। वैयक्तिक जीवन में स्वस्वरूप समता की उपलब्धि ही चारित्र का नैश्चयिक पक्ष है और यह समत्व रूप नैश्चयिक चारित्र ही मुक्ति-महल का अन्तिम सोपान माना गया है। आचारांग के अनुसार आध्यात्मिक उत्क्रान्ति इसी नैश्चयिक चारित्र या आचरण के आन्तरिक पक्ष पर अवलम्बित है।

इस प्रकार आचारांग में अहिंसा, प्रज्ञा और समाधि दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये मुक्ति-मार्ग की साधना के तीन अंग हैं। इन तीनों को समन्वित साधना से ही साध्य सिद्ध होता है।

सन्दर्भ-सूची

अध्याय ६

१. आचारांग, १/६/१. २. वही, १/४/४. ३. वही, १/५/६.
४. सूत्रकृतांग, १/१२/११. ५. आचारांग, १/६/५.
६. वही, १/३/२. ७. वही, १/३/२. ८. वही, १/३/२.
९. वही, १/६/५. १०. वही, १/५/३.
११. वही, १/४/४, १/४/३, १/२/६. १२. वही, १/३/४.
१३. वही, १/२/४. १४. वही, १/२/४. १५. वही, १/५/६
१६. वही, १/२/४. १७. वही, १/२/४.
१८. वही, १/५/५.
१९. आचारांग, १/४/१ पर शीलोक टीका पत्रांक, १५८.
२०. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० २४, २५.
२१. योगशास्त्र प्रकाश, ३/२. २२. नवतत्त्वदीपिका, गा० ५२.

१६६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

२३. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ४१.
२४. आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस-४, प्रथम आवृत्ति, सन् १९५२, गा० ६.
२५. दर्शनपाहुड, गा० २०. २६. तत्त्वार्थसूत्र, १/२
२७. आचारांग, १/३/४ २८. वही, १/६/२
२९. वही, १/३/३ ३०. आचारांग, १/३/२.
३१. गीता, १८/६६. ३२. वही, १८/५७.
३३. वही, १८/५८. ३४. वही, १८/६६.
३५. पं० मुखलाल संधवी, जैनधर्म का प्राण, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६५, पृ० २४.
३६. उत्तराध्ययन, २५/२७. ३७. आचारांग, १/५/३.
३८. मोर्णं सम्मं । वही, १/५/२. ३९. आचारांग, १/१/३.
४०. वही, १/६/२ ४१. वही, १/५/५.
४२. आचारांग नियुक्ति, गा० २२१.
४३. संपा० पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, ज्ञाताधर्मकथा, श्रीत्रिलोकरत्न स्थानक-वासी जैनधार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर), प्रथमावृत्ति, सन् १९६४, अ० १ सू० ४५. ४४. उत्तराध्ययन, २८/२९.
४५. महानिशोथ-२. ४६. दर्शनपाहुड-गा० २०.
४७. समन्तभद्र, रत्नकरणश्रावकाचार, टीका० आचार्य प्रभाचन्द्र, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट-वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७२; १/१८.
४८. अष्टप्राभृत-दर्शनप्राभृत, ३.
४९. आनन्दघन ग्रन्थावली, अमरनाथ जिनस्तवन पद ५.
५०. छहढाला, ३/१७. ५१. अंगुत्तरनिकाय-प्रथमनिपात, १०/१२/५.
५२. गीता-शांकरभाष्य, १८/१२, ४/३९. ५३. मनुस्मृति, ६/७४.
५४. गीता, १/७/३. ५५. यजुर्वेद, १९/३०.
५६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/७/७. ५७. वही, ३/१२/३.
५८. आचारांग, १/१२-६. ५९. वही, १/६/४.
६०. वही, १/५/३. ६१. वही, १/६/४.
६२. वही, १/६/४. ६३. वही, १/५/१. ६४. वही, १/५/६.
६५. वही, १/५/१. ६६. वही, १/५/१ पर शीलांक टीका पत्रांक १८१.
६७. आचारांग, १/३/४. ६८. वही, १/५/६.
६९. छहढाला, ढाल-४, गा० ६-७. ७०. मुण्डकोपनिषद्, १/१/१.

आचाराङ्ग का मुक्तिमार्ग : १६७

७१. महर्षि याज्ञवल्क्य, याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा व्याख्या सहित) अनु०
डा० उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, विद्या विलास
प्रेस, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, १९६७, १।१।८.
७२. महाभारत शान्तिपर्व ७३. गीता, ७।२.
७४. मनुस्मृति, १२।८५.
७५. महर्षि शुक्राचार्य, शुक्रनीति (विद्योतनी हिन्दी व्याख्योपेता), व्याख्या०
ब्रह्मशंकर मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण,
१९६८; १।१।५२.



सप्तम अध्याय

पंचमहाव्रतों का नैतिक दर्शन

अहिंसा की सार्वभौमिकता या प्राथमिकता :

सम्पूर्ण भारतीय धर्म-दर्शनों में पाँच व्रतों, यमों अथवा शीलों को मानव जीवन अथवा चारित्र्य का आधार माना गया है। ये चारित्र्य के मूलभूत अंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह न केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए, अपितु समग्र मानव-जीवन के लिए अनिवार्य हैं, क्योंकि इनके बिना समाज का संतुलन नहीं रह सकता। इन पाँच व्रतों में अहिंसा प्रथम स्थानीय है।

अध्यात्मवादी प्रायः सभी भारतीय धर्म-दर्शनों ने एक स्वर से अहिंसा को परमधर्म कहा है और उसको वरीयता को स्वीकार किया है। अहिंसा भारतीय संस्कृति ही नहीं मानवीय सभ्यता का प्राणभूत तत्त्व है। अहिंसा किसी व्यक्ति, जाति, वर्ग, देश या काल से बँधी हुई नहीं है। अतः उसे सार्वभौम धर्म (महाव्रत) कहा गया है। आचारांग में कहा है 'एस धम्मं सुद्धे निच्चे सासए' अर्थात् अहिंसा सार्वभौम है। योग-दर्शन में भी कहा गया है कि 'जाति देशकाल-समयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम्' अर्थात् अहिंसा का आचरण किसी जाति-विशेष, देश विशेष, अवस्था-विशेष या काल-विशेष तक ही सीमित नहीं है, अपितु समग्र मानव जाति को सभी परिस्थितियों और सभी कालों में इसका पालन (आचरण) करना चाहिए।

सभी धर्मशास्त्र अहिंसा के महत्त्व के सम्बन्ध में एक मत हैं, भले ही अहिंसा की व्याख्या को लेकर उन सबमें एकरूपता न हो। यह भी सत्य है कि अहिंसा की सार्वभौम स्वीकृति तो हुई, किन्तु अहिंसक-आचरण का विकास सब धर्मों में समान रूप से नहीं हुआ है, यह स्वाभाविक भी है।

आचारांग में अहिंसा की भावना :

आचार ग में हिंसा और अहिंसा के जिस व्यापक स्वरूप का निरूपण हुआ है, वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर है। उसमें षट्कायिक जीवों की हिंसा के निषेध के रूप में अहिंसा की अवधारणा का चरम विकास

दृष्टिगत होता है। इतना ही नहीं, उसमें अहिंसा के विधायक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः अहिंसा आचारांग की साधना-पद्धति का सारभूत तत्त्व है। आचारांग में अहिंसा के निषेधात्मक स्वरूप का प्रतिपादन गुप्तियों के द्वारा और विधेयात्मक स्वरूप का प्रतिपादन समितियों के द्वारा किया गया है। यहाँ आचारांग में प्रतिपादित अहिंसा के स्वरूप की निर्णायिका 'आत्मौपम्य' दृष्टि का विवेचन किया जायेगा।

'आत्मौपम्य' शब्द का अर्थ है—संसार के समस्त प्राणियों में आत्मवत् बुद्धि का होना। जब यह आत्मवत् बुद्धि प्राणिमात्र के प्रति जागृत हो जाती है तो साधक दूसरों के प्रति वैसा ही आचरण करता है, जैसा वह दूसरों से अपने लिए चाहता है। वह जानता है कि प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है और दुःख से दूर रहना चाहता है। अतः प्राणि-मात्र की आत्माओं के प्रति जब आत्मवत् बुद्धि हो जाती है तो साधक दूसरे प्राणियों को अरुचिकर सब प्रकार की हिंसात्मक भावनाओं से विरत हो जाता है। आचारांग में विश्वबन्धुत्व की परिचायिका इस आत्मौपम्य दृष्टि का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है।

आचारांग में कहा है कि प्रत्येक जीव सुखाभिलाषी है और दुःख से भयभीत है।^२ अतः किसी को हिंसा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य जैसा अपने सम्बन्ध में सोचता है वैसा ही उसे दूसरों के सम्बन्ध में सोचना चाहिए। स्वरूपतः विश्व की समस्त आत्माएँ एक समान हैं। इस समानता को जानकर वह हिंसा से दूर रहे।^३ अपने सुख-दुःख का परिज्ञाता व्यक्ति ही दूसरे की पीड़ा को समझ सकता है, दूसरों के सुख-दुःख का संवेदन, स्वसंवेदन के आधार पर ही जाना जा सकता है। आचारांग में अहिंसा सम्बन्धी विचार बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। यथा—किसी की हिंसा मत करो,^४ किसी को पीड़ा मत पहुँचाओ, सबको समान समझो, सबके साथ आत्म-तुल्यता का व्यवहार करो।^५ मुनि लोक के स्वरूप को जाने अर्थात् बाह्य-जगत् में व्याप्त समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान समझ कर किसी भी जीव का हनन न तो स्वयं करे और न दूसरों से करवाए।^६ जो व्यक्ति आसक्ति पूर्वक आमोद-प्रमोद-के निमित्त जीवों को हत्या करता है, वह अपने लिए वैर बढ़ाता है।^७ अहिंसाव्रत तो यह संकल्प करता है कि मैं दीक्षित होकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा। वह मतिमान यह जानता एवं मानता है कि सभी जीव अभय चाहते हैं। इस आत्म-तुल्यता बोध के आधार पर

वह किसी भी प्राणी को हिंसा करने के लिए प्रवृत्त नहीं होता। वस्तुतः जो हिंसा नहीं करता, वही ब्रती है और जो ब्रती है, वही सच्चा अनगार कहलाता है।^८ ऐसा जाग्रत, वैर एवं भय से रहित उपरत, संयमी, वीर कहा जाता है। वह सबका मित्र होता है। इस प्रकार वीरता एवं मैत्रीपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला साधक अन्ततः सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।^९ उसमें यह भी कहा गया है कि आगमानुसार आचरण करने वाला श्रद्धावान मेधावी साधक षट्कायरूप लोक को जानकर अभय हो जाता है अर्थात् वह न तो स्वयं किसी से भयभीत होता है और न किसी को भयभीत करता है।^{१०} इसके विपरीत आरम्भी मनुष्य सदा भयभीत रहता है।^{११} अतः ज्ञानियों के ज्ञान का सार यही है कि किसी के हनन की इच्छा मत करो।^{१२} इस प्रकार आचारांग में स्थान-स्थान पर अहिंसा का स्वर मुखरित है।

विभिन्न धर्मों में अहिंसा की अवधारणा :

आचारांग के सन्दर्भ में हिंसा-अहिंसा के स्वरूप की व्याख्या करने के पूर्व हमें विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित अहिंसा के महत्त्व को भी संक्षेप में समझ लेना उचित होगा।

भगवान बुद्ध कहते हैं कि दण्ड और मृत्यु सबके लिए कष्टकर होते हैं। अतः सबको अपने समान समझकर किसी की हिंसा मत करो।^{१३} सबको अपना जीवन प्रिय है, सभी सुखेच्छु हैं। ऐसा समझकर जो दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाता है, वह सुखाभिलाषी व्यक्ति अगले जन्म में सुख पाता है तथा जैसा मैं हूँ, वैसे ये हैं, इस प्रकार सभी को आत्मवत् समझकर किसी का घात नहीं करना चाहिए और न दूसरों से करवाना चाहिए।^{१४} जो व्यक्ति अहिंसामय संयमित जीवनयापन करता है, उसे अच्युत पद की प्राप्ति होती है। वहाँ पहुँचकर वह कभी दुःखी नहीं होता।^{१५}

वैदिक धर्म में भी उत्तरोत्तर काल में जैन एवं बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव से अहिंसा को प्रधानता मिलती गई। महाभारत में अहिंसा को परमधर्म, परमतप, परमसंयम, परममित्र तथा परमसुख कहा है। अनुशासन पर्व में कहा है कि इस विश्व में अपने प्राणों से प्यारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य अपने ऊपर दया रखता है, उसी प्रकार से दूसरों पर भी रखनी चाहिए।^{१६} अहिंसा ही एकमात्र धर्म है, अहिंसा सबसे श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि इससे सभी प्राणियों की रक्षा

होती है।

पतंजलि के योगसूत्र^{१८} में भी कहा है कि 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' अर्थात् भीतर में अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसके निकट सब प्राणी अपना स्वाभाविक वैर भाव त्याग देते हैं।

कुरानशरीफ की शुरुआत ही 'बिस्मिल्लाह रहीमानुरहीम' से हुई है और अल्लाह को करुणा-मूर्ति बताया गया है। इस प्रकार उसमें भी किसी सीमा तक अहिंसा की अवधारणा पाई जाती है।^{१९} महात्मा ईसा ने भी कहा है कि 'तू तलवार म्यान में रख ले क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सभी तलवार से ही नष्ट किये जायेंगे'। उसमें यह भी कहा है कि तुम अपने दुश्मन से भी प्रेम करो, और जो तुम्हें सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो।^{२०}

यहूदी धर्म में भी यह कहा गया है कि किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चाट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना कि उसका खून कर देना।^{२१} प्राणि-मात्र के प्रति निर्वैर भाव की प्रेरणा देते हुए कहा है कि अपने मन में किसी के प्रति वैर भाव मत रखो।^{२२} इसी तरह लाओत्से भी कहते हैं कि 'जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ'।^{२३} कन्फ्यूशियस ने भी कहा है कि 'जो चीज तुम्हें नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हरगिज मत करो'।^{२४}

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस अहिंसा को महावीर ने पुष्पित, पल्लवित एवं विकसित किया उसका विश्व के समस्त धर्म एवं दर्शनों में स्थान है। सभी धर्मों द्वारा स्वीकृत अहिंसा एक ऐसी कड़ी है, जो विश्व के समस्त धर्मों को पारस्परिक एकता एवं सद्भाव के सूत्र में आबद्ध कर देती है।

अहिंसा की अवधारणा को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए हिंसा को भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है! 'अहिंसा' हिंसा के अभाव में ही फलित हो सकती है। अहिंसा का सामान्य अर्थ है—हिंसा का अभाव। अतः अहिंसा के वास्तविक स्वरूप को समझने के पहले हिंसा का अर्थ, स्वरूप, प्रकार, कारण आदि पहलुओं पर भी समुचित रूप से विचार कर लेना उचित होगा।

हिंसा का अर्थ :

'हिंसा' शब्द हननार्थक 'हिसि' धातु से बना है। सामान्यतया हिंसा

१७२ : आचाराङ्ग का नोतिशास्त्रीय अध्ययन

का अर्थ होता है—किसी को मारना या सताना। आचारांग में हिंसा के लिए प्रायः 'प्राणातिपात' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। 'प्राणातिपात' का अर्थ है—प्राण + अतिपात अर्थात् प्राणी के प्राणों का अतिपात या नाश करना। परवर्ती जैन ग्रन्थों के समान 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, हिंसा की स्पष्ट परिभाषा तो उपलब्ध नहीं होती किन्तु इन्हीं भावों से गर्भित व्याख्या उपलब्ध होती है। आचारांग में कहा गया है कि जो व्यक्ति इस जीवन के प्रति प्रमत्त है वह प्रमाद के वशीभूत होकर जीवों का हनन, छेदन-भेदन, ग्रामघात तथा प्राणघात करता है।^{२५} अन्यत्र भी कहा गया है कि विषयानुर मनुष्य स्वयं जीवों की हिंसा करते हैं, दूसरों से करवाते तथा हिंसा करने वाले का समर्थन करते हैं।^{२६} इससे यह फलित होता है कि आचारांग के अनुसार प्रमाद-युक्त होकर प्राणियों का हनन एवं छेदन-भेदन करना हिंसा है।

उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्टः समझा जा सकता है कि केवल किसी का प्राण-वध करना ही हिंसा नहीं है अपितु हिंसा का संकल्प भी हिंसा है। हिंसा में सर्वप्रथम मन का व्यापार 'संकल्प' होता है फिर वचन और काया का। प्रमादी व्यक्ति के मन में पहले हिंसा की भावना उत्पन्न होती है, फिर वह उसे कार्य रूप में परिणित करता है। इस प्रकार आचारांग के अनुसार विषय-कषाय या प्रमाद के वशीभूत होकर जो प्राण-वध किया जाता है, वही हिंसा का वास्तविक लक्षण है। इतना ही नहीं, कषाय या प्रमाद स्वयं भी हिंसा है। परवर्ती जैन ग्रन्थकारों ने कषाय या प्रमाद भाव को स्व-हिंसा या भाव-हिंसा और प्राण-वध को द्रव्य-हिंसा कहा है। कषाय या प्रमाद मानसिक हिंसा है और प्राणघात कायिक हिंसा। आचारांग हिंसा के उक्त दोनों रूपों को स्वीकार करता है।

हिंसा के रूप—द्रव्य और भाव :

सामान्यतः आचाराङ्ग में द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा की स्पष्ट व्याख्या या प्ररूपण नहीं है, किन्तु उसमें हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी जो विशद चर्चाएँ हैं उनसे भी हिंसा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आचाराङ्ग में साधक को कृत कारित एवं अनुमोदित तथा मनसा, वाचा और कर्मणा किसी भी रूप में जीव की हिंसा करने का निषेध है।^{२७} इससे स्पष्ट है कि आचारांग के अनुसार मानसिक हिंसा अथवा कषाय एवं प्रमाद ही भाव-हिंसा और कायिक हिंसा ही द्रव्य-हिंसा है। जैसे हो

अन्तर में मारने की वृत्ति जागृत होती है, राग-द्वेष की भावना उद्भूत होती है और वहाँ निश्चित रूप से हिंसा हो ही जाती है। भले ही, फिर बाह्यरूप किसी का प्राण-वध हो या न हो। दूसरे शब्दों में मन में कषायवृत्ति या प्रमाद-भाव का जागृत हो जाना ही भाव-हिंसा है और वही बन्धन है। आचाराङ्ग में हिंसा का एक दूसरा रूप भी वर्णित है और वह है-द्रव्य-हिंसा। द्रव्य-हिंसा में किसी जीव का प्राण-घात होता है। यदि उस प्राण-घात में मन की दुष्प्रवृत्ति नहीं जुड़ती है, प्रमाद और राग-द्वेषादि का संकल्प नहीं है तो वह प्राण-घात बाह्य रूप में हिंसा होते हुए भी हिंसा नहीं है क्योंकि उससे कर्म-बन्धन नहीं होता है। मूलतः कर्म-बन्ध राग-द्वेष-मोह, प्रमाद आदि मानसिक वृत्तियों से होता है। सूत्रकार का कथन है कि वीतरागी (शुद्धात्मा) को इसीलिए तो कोई कर्म बन्ध या व्यवहार नहीं होता,^{२८} क्योंकि उनका राग-द्वेष (कर्मों के उपादान कारण) नष्ट हो गया होता है।^{२९} अतः जो सम्यक् द्रष्टा है वह पाप कर्म नहीं करता। वस्तुतः बन्धन मोह में है, राग-द्वेष में है, और प्रमाद-दशा में है। प्रमाद-दशा से किसी जीव का प्राण-घात करना ही हिंसा माना गया है। आचाराङ्ग में आसक्ति कषाय एवं प्रमाद-दशा को हिंसा का कारण बनाकर इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया गया है कि हिंसा का मूल आन्तरिक वृत्तियाँ हैं। भगवतीसूत्र में कहा है कि प्राण-घात स्थूल क्रिया है और प्रमाद-योग सूक्ष्म क्रिया है। प्राणघात द्रव्य-हिंसा और प्रमाद योग भाव-हिंसा कही जाती है। भाव-हिंसा एकान्त हिंसा है, जबकि द्रव्य-हिंसा एकान्त हिंसा नहीं है। भाव-हिंसा की विद्यमानता में होने वाली स्थूल हिंसा ही वास्तव में हिंसा है।^{३०} प्रमाद आदि दूषित मानसिक संकल्पों से सर्वप्रथम तो हन्ता का आत्मघात होता है और बाद में वह दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है। इस सन्दर्भ में पूज्यपाद स्वामी का कथन है कि प्रमादी व्यक्ति अपने हिंसात्मक भावों की स्व-हिंसा पहले ही कर डालता है उसके बाद दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा न हो।^{३१} पुरुषार्थसिद्धयुपाय में ठीक यही बात कही गई है।^{३२}

जैन दर्शन में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को लेकर चार विकल्प किए गए हैं—(१) भाव-हिंसा हो, किन्तु द्रव्य-हिंसा न हो, (२) द्रव्य-हिंसा हो, परन्तु भाव-हिंसा न हो, (३) द्रव्य-हिंसा भी हो और भाव-हिंसा भी हो (४) तथा द्रव्य-हिंसा भी न हो और भाव-हिंसा भी न हो। इन चार विकल्पों में प्रथम विकल्प अर्थात् द्रव्य हिंसा के अभाव में मात्र भाव-हिंसा (हिंसा का संकल्प) को आचारांगकार हिंसा की कोटि में स्वीकार

१७४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

करता है, किन्तु दूसरे विकल्प अर्थात् जहाँ द्रव्य-हिंसा हो किन्तु भाव-हिंसा न हो, को आचाराङ्गकार हिंसा के रूप में स्वीकार नहीं करता। सूत्रकार कहता है- एक साधक अपनी जीवन यात्रा तय कर रहा है। उसके अन्तर्मन में हिंसा-वृत्ति नहीं है। यद्यपि वह पूरी सावधानी पूर्वक प्रत्येक प्रवृत्ति करता है, फिर भी हिंसा हो जाती है और यह सही भी है कि जब तक आत्मा और देह का सम्बन्ध है, मन-वचन और कायिक योगों का व्यापार चालू है, तब तक हिंसा रुक भी कैसे सकती है? आध्यात्मिक उत्क्रान्ति (गुणस्थान) की तेरहवीं भूमिका तक भी अंशतः हिंसा होती रहती है, अर्थात् हिंसा का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है यह बात आचाराङ्ग आदि आगमों में वर्णित है। मन, वचन और काया-इन तीन योगों की प्रवृत्ति जब तक चलती रहेगी, तब तक शुभ या अशुभ कर्म बन्ध होता रहेगा। आचाराङ्ग टीका के अनुसार तेरहवें गुण स्थानवर्ती मुनियों से भी काय-योग की चंचलता के कारण हिंसा हो जाती है।³³ मात्र यही नहीं, जीवन के सामान्य व्यवहार के सम्पादन में भी हिंसा होती है। यदि मुनि विहार कर रहा है और मार्ग में नदी हो तो वह क्या करे? आचाराङ्ग के अनुसार ऐसी स्थिति में मुनि नाव में बैठ सकता है, अथवा नदी में पानी जंघा-प्रमाण से अधिक नहीं है तो वह पैदल भी नदी पार कर सकता है।

यद्यपि आचाराङ्ग में इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट निर्देश है कि मुनि नौका में किस प्रकार बैठे अथवा किस विधि से नदी पार करे, ताकि हिंसा अल्पतम हो। फिर भी, चाहे नौका में बैठकर नदी पार करे अथवा पानी में उतरकर पार करे, हिंसा से सर्वथा बचना असम्भव है। नदी पार करने की तो बात ही दूर, एक कदम चलने में भी हिंसा है। अतः इस सम्बन्ध में कर्म-बन्धन का प्रश्न उपस्थित होता है। आचाराङ्गकार ऐसी स्थिति में वेदनीय कर्म का बन्ध मानता है। टीकाकारों का कहना है कि ऐसी प्रमाद एवं कषाय-रहित क्रियाओं के द्वारा होने वाली हिंसा से सातावेदनीय या ईर्यापथिक बन्ध होता है। आचाराङ्ग में विवेकपूर्वक नदी पार करने के बाद मुनि के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है और न उसके लिए ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण का ही उल्लेख है। वस्तुतः प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण सावधानीपूर्वक कार्य (क्रिया) करने का नहीं होता है, वह तो असावधानी और अविवेकपूर्ण क्रिया करने या आचार के नियमों का अतिक्रमण करने का होता है।³⁴ वृत्तिकार का अभिमत है कि आगम विधि से प्रवृत्ति नहीं की गई हो तो उसकी शुद्धि के लिए

ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, अन्यथा प्रतिक्रमण करने की कोई आवश्यकता नहीं है।^{३५}

वास्तव में, हिंसा का मूल संकल्प में है। जब किसी के प्राण-वियोजन में मन का दुःसंकल्प जुड़ता है, राग-द्वेष की भावना प्रेरक बनती है तब हिंसा होती है। उपर्युक्त कथन का फलितार्थ यह है कि कषाय और प्रमाद ही हिंसा का मूल आधार है। जो साधक अप्रमत्त है, फिर भी, यदि उसके कार्य-स्पर्श से हिंसा हो जाती है तो वह केवल द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। वह द्रव्य-हिंसा (प्राण-नाश) होते हुए भी हिंसा नहीं मानी जाती है।^{३६} यहाँ प्रश्न हो सकता है कि पूरी सावधानी रखते हुए भी यदि अकस्मात् किसी जीव का प्राण-घात हो जाये तो क्या उसे कर्म-बन्ध होगा या हिंसा का दोष लगेगा ? इस सम्बन्ध में आचारांग में दो प्रकार की क्रियाओं का विचार हुआ है—ईर्याप्रत्यय या ईर्यापथिकी और साम्परायिक। कर्मास्त्रव इन दोनों प्रकार की क्रियाओं से होता^{३७} है— प्रमादभाव से की जाने वाली साम्परायिक क्रिया से तीव्र बन्ध होता है और भवभ्रमण भी बढ़ता है जबकि कषाय रहित होकर अप्रमत्त भाव से की जाने वाली ईर्यापथिकी क्रिया से अत्यल्प कर्मबन्ध होता है।

आचारांग में कहा गया है कि ईर्यापथिकी और साम्परायिक क्रियाओं में प्राण-वध की क्रिया समान होने पर भी कर्म-बन्धन एक जैसा नहीं होता, अपितु व्यक्ति की तीव्र-मंद कषाय और भावधारा के अनुरूप बंध होता है। आचारांग के अनुसार यत्नपूर्वक गमन करते हुए (गुण-समित) अप्रमादी मुनि के शरीर के स्पर्श से प्राणी परिताप पाते हैं, ग्लानि पाते हैं अथवा मर जाते हैं। वह भिक्षु उस कर्म-फल को वर्तमान जीवन में वेदन करके क्षय कर देता है। प्रमत्त मुनि के द्वारा होने वाली वह हिंसा तीव्र कर्मबन्ध का कारण होती है तथा भवभ्रमण को बढ़ाती है।^{३८} शीलांककृत टीका में इस तथ्य को अधिक स्पष्ट किया गया है। आचार्य शोलांक ने लिखा है—शैलेशी दशा प्राप्त (अयोगी) मुनि के काय-स्पर्श से प्राणी के प्राण-वियोजन होने पर भी कर्म-बन्ध नहीं होता, क्योंकि वहाँ बन्धन के उपादान कारण (मन-वचन और काय) योग का अभाव है। मन-वचन और काया की प्रवृत्ति वाले (ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती) वीतरागी मुनि को मात्र दो समय की स्थिति वाला कर्मबन्ध होता है। अप्रमत्त मुनि के जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अन्तः कोटाकोटि स्थिति का कर्मबन्ध होता है। विधि-पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त मुनि से यदि अकस्मात् प्राणि-वध हो जाता

१७६ : आचाराङ्ग का नोतिशास्त्रीय अध्ययन

है तो उसे जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अन्तः कोटाकोटि स्थिति का कर्मबन्ध होता है और वह उसे उमो भव में अनुभव करके क्षीण कर देता है, किन्तु असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त मुनि से जो हिंसा हो जाती है तज्जन्य कर्मबन्ध प्रायश्चित्त आदि सम्यक् अनुष्ठान के द्वारा ही क्षीण होता है।^{४९} भगवतीसूत्र में कहा है कि विवेकपूर्वक गमन-क्रिया करते समय यदि भिक्षु के पैर के नीचे कोई भी जीव आकर या दबकर मर जाए तब भी उस भिक्षु को ईर्यापथिकी क्रिया (पुण्य-प्रकृति) का बन्ध होता है, साम्परायिक क्रिया का बन्ध नहीं होता है।^{५०} ओघनिर्युक्ति^{५१} और मूलाचार^{५२} आदि ग्रन्थों में भी इन्हीं विचारों की पुष्टि की गई है कि यत्नपूर्वक गमन करते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाती है तो वह पाप-बन्ध का कारण नहीं होती। इस प्रकार टीकाकारों ने भाव हिंसा को ही प्रमुख माना है, किन्तु द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा के सम्बन्ध में आचारांग का स्पष्ट दृष्टिकोण यह है कि क्रिया चाहे ईर्यापथिकी हो, या साम्परायिक, दोनों ही आदान-स्रोत हैं, इसीलिए उनसे निवृत्त होने का उपदेश है।^{५३} द्रव्य या भाव कौसी भी हिंसा क्यों न हो, वह नैतिक आचरण का नियम नहीं है। यद्यपि संकल्पजन्य हिंसा (भाव-हिंसा) निकृष्टतम है किन्तु द्रव्य-हिंसा की उपेक्षा भी उचित नहीं है।

कषाय के अभाव में ईर्यापथिकी क्रिया से होने वाली हिंसा भी हिंसा है और उससे कर्म-बन्ध होता है। उस हिंसा से चाहे दो समय की स्थिति वाला कर्म-बन्ध ही क्यों न हो, किन्तु वह भी कर्मों के आगमन का स्रोत है। आचारांग का सर्वोपरि उपदेश तो पूर्ण अहिंसा का पालन है, जहाँ न तो हिंसा की वृत्ति हो और न हिंसा का कृत्य हो। अहिंसा की यह पूर्णता निष्कम्प शैलेषी अवस्था में प्राप्त होती है।

हिंसा के विभिन्न कारण :

सामान्यतया यह देखा जाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी न किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर ही कर्म में संलग्न होता है। आचारांग में यह बताया गया है कि व्यक्ति किन कारणों से हिंसा में प्रवृत्त होता है। उसके अनेक कारण बताए गए हैं।

आचारांगकार का कहना है कि अज्ञानी और विषयातुर मनुष्य निम्न हेतुओं से हिंसा करते हैं—कुछ लोग 'जोवो जीवस्य भोजनम्' यह मानकर अपने इस क्षणिक जीवन के लिए, प्रशंसा और यश के लिए,

कुछ मान-सम्मान की प्राप्ति के लिए, कुछ पूजादि के निमित्त अन्न-वस्त्र, जल, पत्र-पुष्प या पशु-पक्षी का बलिदान करके देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, कुछ जन्म-मृत्यु सम्बन्धी भोजन के लिए अथवा जन्म-मरण तथा मुक्ति के लिए और कुछ व्यक्ति दुःख प्रतिकार के लिए अनेक तरह की सावच्च अर्थात् हिंसात्मक प्रवृत्ति करते हैं, दूसरों से करवाते हैं तथा करने वालों का अनुमोदन करते हैं।^{४४} सूत्रकार ब्रह्मकाय की हिंसा के विविध प्रयोजनों को बताते हुए कहते हैं कि इस लोक में कुछ व्यक्ति देवी-देवताओं की पूजा (बलि व शरीर के शृंगार) के लिए, जीव-हिंसा करते हैं। कुछ मनुष्य चर्म के लिए, मांस, रक्त, हृदय (कलेजा), पित्त, चर्बी, पंख व पूँछ के लिए हिंसा करते हैं, कुछ शृंग, विषाण (सुअर के दाँत), दाँत, दाढ़, नाखून, स्नायु, अस्थि, मज्जा आदि पदार्थों को पाने के लिए प्राणियों की हिंसा करते हैं। कुछ प्रयोजन-वश और कुछ निष्प्रयोजन ही जीव-वध करते हैं। कुछ व्यक्ति 'इन्होंने मेरे स्वजन वर्ग की हिंसा की थी', इस प्रतिशोध की भावना से हिंसा करते हैं। कुछ व्यक्ति (मेरे स्वजनादिक) हिंसा कर रहे हैं, यह सोचकर हिंसा करते हैं और कुछ ('ये मेरे स्वजनादि की हिंसा करेंगे'^{४५}) इस भावी आतंक की सम्भावना से वध करते हैं।

हिंसा के कारणों के सम्बन्ध में आचारांग में अन्यत्र भी बतलाया गया है कि प्रमत्त मनुष्य, संयोगार्थी एवं अर्थलोलुप बनकर बारम्बार शस्त्र का प्रयोग करता है। वे शरीर-बल, ज्ञाति-बल, मित्र-बल, लौकिक बल, देवबल, राज-बल, चोरबल, अतिथि-बल, कृष्ण-बल आदि विविध प्रकार के कार्यों की सम्पूर्ति के लिए हिंसा का प्रयोग करते हैं। कोई भय के कारण, कोई पाप से मुक्त होने के लिए अथवा कोई अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा से हिंसा करते हैं।^{४६} जीवन की आशंसा रखने वाले कुछ व्यक्ति इस निःस्वार एवं क्षणभंगुर जीवन के लिए वध करते हैं। यह भी कहा है कि वह अज्ञानी व्यक्ति रोगों के उपशमनार्थ भी दूसरे जीवों की हिंसा करता है।^{४७}

हिंसा के विविध रूप :

पृथ्वीकाय की हिंसा—विषय-कषायादि से पीड़ित, विवेक शून्य, एवं सुख के लिए आतुर व्यक्ति उक्त कारणों से प्रेरित होकर पृथ्वी-कायिक जीवों को अनेक तरह से पीड़ित करते रहते हैं। कुछ साधु अपने आपको त्यागी कहते हुए भी विविध प्रकार के शस्त्र-प्रयोगों से हिंसात्मक-

१७८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

क्रियाओं में संलग्न होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। साथ ही वे तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।^{४८}

अपकाय की हिंसा—अज्ञानी मनुष्य अनेक प्रकार की अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए जलकाय की हिंसा करता है, करवाता है तथा करने वालों की प्रशंसा करता है। साथ ही जलकाय के आश्रित अन्य द्वीन्द्रियादि जीवों की भी हिंसा करता है।^{४९}

अग्निकाय की हिंसा—सूत्रकार ने बताया है कि प्रमादी जीव जीवनाकांक्षा, पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लिए स्वयं अग्निकाय का समारम्भ करते, दूसरों से करवाते और करने वालों को अच्छा समझते हैं। अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ में अनेक जीवों की हिंसा होती है। पृथ्वीकाय के आश्रित तृण-पत्र, काष्ठ-गोबर, कूड़ा-कचरा आदि विभिन्न जीव तथा उसके आश्रित आकाश में उड़ने वाले कीट-पतंग, पक्षी आदि जीव भी प्रज्वलित आग में आ गिरते हैं। अग्नि का स्पर्श पाकर उनका शरीर मूर्च्छित हो जाता है और वे प्राण त्याग देते हैं।^{५०}

वायुकाय की हिंसा—इस प्रकार हिंसा में आसक्त जीव ऊपर चर्चित कारणों से प्रेरित होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करते, करवाते और करने वाले का अनुमोदन भी करते हैं। उड़ने वाले जीव वायु के आघात से सिकुड़ जाने के कारण मूर्च्छित होकर नीचे गिर पड़ते हैं, जिससे उनका प्राणान्त हो जाता है।^{५१}

वनस्पतिकाय की हिंसा—आचारांग तथा परवर्ती जैनागमों में भी वनस्पतिकाय के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म एवं व्यापक चिन्तन हुआ है। वनस्पतिकाय की मानवीय शरीर के साथ जैसी तुलना की गई है, वह आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए भी बड़ी उपयोगी एवं विस्मय कारक तथ्य है। सर जगदीशचन्द्र बोस ने वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा मानवीय चेतना की भाँति ही वनस्पति में भी चेतना को सिद्ध कर दिखाया है। सूत्रकार का कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है, बढ़ता है, चेतनायुक्त है, छेदन-भेदन करने पर म्लान हो जाता है, आहार करता है, अनित्य एवं अशाश्वत है, चय-उपचय धर्म वाला अथवा परिवर्तनशील है, उसी प्रकार वनस्पति का शरीर भी समस्त धर्मों से युक्त है, किन्तु प्रमादी जीव उक्त कारणों से प्रेरित होकर वनस्पति काय की हिंसा करता है।^{५२}

त्रसकाय की हिंसा—प्रमादी एवं विषयाभिलाषी व्यक्ति जीवना-कांक्षा आदि कारणों से प्रेरित होकर जीव-हिंसा करते हैं। इनके अतिरिक्त त्रसकाय की हिंसा के जो विविध हेतु वर्णित हैं, उनसे प्रेरित होकर भी त्रसकाय की हिंसा करते हैं, दूसरों से करवाते और करने वालों का समर्थन भी करते हैं। त्रसकाय जीवों की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।^{५३}

इस प्रकार मनुष्य का जीवन सांसारिक कामनाओं से आवेष्टित होता है और वह उनकी सम्पूर्ति के लिए दिन-रात हिंसा के विभिन्न कार्यों में लगा रखता है। वह क्रोधादि कषाय तथा हास्यादि के वशी-भूत होकर प्रयोजन या निष्प्रयोजन ही त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। सूत्रकृतांग^{५४}, प्रश्नव्याकरण^{५५}, दशवैकालिक सूत्र^{५६}, प्रवचनसार^{५७}, मूलाचार^{५८} आदि परवर्ती जैनसाहित्य में भी षट्कायिक जीवों की हिंसा और उनके विभिन्न कारणों की चर्चाएँ मिलती हैं।

हिंसा के प्रकार :

आचारांग के अनुसार अहिंसा एक पूर्ण आध्यात्मिक आदर्श तथा धर्म का सार या उत्स है। वह शाश्वत धर्म है। अन्तर्बाह्य रूप से उसकी पूर्ण उपलब्धि जीवन के आध्यात्मिक स्तर पर ही सम्भव है। भौतिक स्तर पर उसका पूर्णरूप से पालन कर पाना बड़ा कठिन है। आचारांग में अहिंसा का आदर्श उन लोगों के लिए प्रस्तुत किया गया है जो सांसारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन के दायित्वों से मुक्त हो चुके हैं, सामान्य मानवीय प्रकृति से बहुत ऊपर उठ गये हैं तथा देह के प्रति उनमें ममत्व भाव नहीं रह गया है। वस्तुतः व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिकता या व्यावहारिक जीवन के स्तर से ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे वह अहिंसक जीवन की दिशा में आगे बढ़ता जाता है। सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में रहते हुए अहिंसा का पूर्णतया पालन कर पाना अशक्य है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए परवर्ती जैनाचार्यों ने हिंसा के चार प्रकार प्रतिपादित किये हैं—(१) संकल्पी हिंसा (२) आरम्भी हिंसा (३) उद्योगी हिंसा और (४) विरोधी हिंसा। उन्होंने गृहस्थ को संकल्पी त्रस हिंसा से बचने का निर्देश दिया है, क्योंकि गृहस्थ जीवन के उद्योगी, आरम्भी और विरोधी हिंसा से बचना सम्भव नहीं था। वैसे, आचारांग में उक्त चारों प्रकारों में से आरम्भी^{५९} और 'संकल्पी'^{६०} ऐसे दो भेदों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शेष दो के सम्बन्ध में कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है।

१८० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

यद्यपि आचारांग में परवर्ती जैन ग्रन्थों द्वारा मान्य हिंसा के सभी प्रकार तो उपलब्ध नहीं होते हैं तथापि उसमें बहुचर्चित षड्जीविकाय-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय की हिंसा को छः प्रकार या स्तर के रूप में रख सकते हैं ।

हिंसा के परिणाम :

आचारांग का कर्म-फल के सम्बन्ध में अटूट विश्वास है । उसके अनुसार प्रत्येक कर्म का फल अवश्य ही मिलता है । वह कहता है कि हिंसात्मक कर्म के भी परिणाम होते हैं । आचारांग में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'आरम्भजं दुःख'^{११} अर्थात् संसार के जितने भी दुःख (बन्धन) हैं, वे सब (आरम्भ) हिंसा से ही उत्पन्न होते हैं । विविध प्रकार की कामनाओं से प्रत्युत्पन्न हिंसा संसार की समस्त पीड़ाओं की जननी है । अतः आचारांग में हिंसा के फल के सम्बन्ध में कहा गया है कि पृथ्वी कायिक आदि के आरम्भ-समारम्भ में संलग्न अहितकारी व्यक्ति की हिंसा-वृत्ति भविष्य के लिए है । वह हिंसा उसकी अबोधि अर्थात् ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि एवं चारित्र-बोधि की अनुपलब्धि में कारणभूत होती है । हिंसा के फल से अनभिज्ञ व्यक्ति स्वयं अपने लिये नरक तिर्यन्चादि गति का निर्माण करता है तथा विभिन्न नारकीय दुःखों की सृष्टि करता है । जो संयमी साधक है, वह हिंसा के दुष्परिणाम को सम्यक् रूप से समझ कर संयम-साधना में तत्पर हो जाता है । उसे सम्यक् रूपेण यह ज्ञात हो जाता है कि 'हिंसा' ग्रन्थि अर्थात् बन्धन है, मृत्यु है और नरक है ।^{१२} यहाँ हिंसा को इसी दृष्टि से नरक कहा गया है कि नरकगति के योग्य कर्मोपार्जन का सबसे प्रबल कारण है । इतना ही नहीं, वह नरक ही है । हिंसक व्यक्ति की मनोदशा भी नरक की भाँति क्रूर एवं अशुभ-तर होती है । साथ ही वह कृत्यों के द्वारा इस संसार में ही नारकीय जीवन की सृष्टि कर लेता है । सूत्रकृतांग^{१३}, प्रश्नव्याकरण^{१४}, निरयावलिका^{१५}, उत्तराध्ययन^{१६}, प्रवचनसार^{१७}, मूलाचार^{१८} आदि ग्रन्थों में भी हिंसा के परिणामों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है ।

अहिंसा महाव्रत परिभाषा एवं स्वरूप :

(जहाँ पर कल्याण हेतु अहिंसा की साधना अपेक्षित है, वहीं स्व-कल्याण के लिए भी वह कम महत्वपूर्ण नहीं है । इसलिए आचारांग में मन, वाणी और काया से अहिंसा की साधना का आह्वान है ।

(आचारांग के अनुसार कृत-कारित-अनुमोदित तथा मन, वचन और काया से किसी भी परिस्थिति में सूक्ष्म या बादर, त्रस एवं स्थावर किसी भी जीव का जीवन भर प्राण-घात नहीं करना, दूसरों से नहीं करवाना और करने वाले का समर्थन नहीं करना ही अहिंसाव्रत है।^{१९})

अहिंसा का शब्दशः अर्थ होता है—हिंसा नहीं करना। चूँकि अहिंसा के साथ निषेध वाचक 'अ' शब्द जुड़ा हुआ है। इससे सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह केवल निषेधात्मक ही है और यही कारण है कि जन-सामान्य द्वारा अहिंसा का अर्थ निवृत्तिपरक मान लिया गया। अतएव अहिंसा की विवेचना करते समय यह जान लेना भी नितान्त आवश्यक है कि क्या अहिंसा कोरो निषेध रूप ही है अथवा उसका कोई विधेयात्मक स्वरूप भी है? किसी जीव की अहिंसा नहीं करना यह तो अहिंसा का केवल पहलू है और वह भी निषेध रूप है। अहिंसा की धारा मात्र यहीं तक अवरुद्ध नहीं है। वह निषेध (निवृत्ति) की भूमिका पर विधि (प्रवृत्ति) का रूप लेकर आगे बढ़ती है।

(आचारांग के विचार से अहिंसा न तो एकान्त निषेधपरक है और न एकान्त विधिपरक ही है। आचारांग में जहाँ अहिंसा प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् दृष्टि के आधार पर सामाजिक न्याय की संस्थापिका है वहीं सबके प्रति दया, करुणा, मैत्री, रक्षा, सेवा आदि का सन्देश भी देती है। 'प्राणिमात्र को आत्म-तुल्य समझना' और 'किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना'—इन दो सूत्रों के द्वारा आचारांग अहिंसा के विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों पक्षों को प्रस्तुत करता है। 'नाइवाएज्जा किंचण'^{२०} यह निवृत्तिरूप अहिंसा है। आचारांग में प्रवृत्ति रूप अहिंसा का भी विधान हुआ है। संयम में जो सत्प्रवृत्ति है, वही अहिंसा का विधि रूप है। अहिंसा के क्षेत्र में आत्मलक्षी क्रियाओं का विधान है और संसार लक्ष्यक्रियाओं का निषेध है।)

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमण जीवन के लिये पाँच मूल गुणों (महाव्रतों) का विधान किया गया है। ये महाव्रत श्रमण के समग्र आचार के आधार स्तम्भ हैं। अतः इनके पूर्णतया पालन करने की दृष्टि से उनकी पच्चीस भावनाओं का विवेचन भी है, अर्थात् श्रमण जीवन के उत्तर गुणों में चारित्र के सन्दर्भ में समिति और तीन गुणों की मर्यादाओं का विधान है (समिति की मर्यादाएँ (विधि) प्रवृत्तिमूलक होती हैं और गुणों की मर्यादाएँ (निषेध) निवृत्तिमूलक हैं।)

आचारांग में अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ वर्णित हैं। तदन्तर्गत समिति और गुप्ति सम्बन्धी जो चर्चाएँ हुई हैं, उनसे अहिंसा के दोनों रूप स्पष्ट हो जाते हैं। असत् प्रवृत्तियों से निवृत्ति करना और सदाचार रूप शुभ क्रिया में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति दोनों ही अहिंसा महाव्रत की रक्षा एवं विशुद्धता के लिए आवश्यक हैं। एतदर्थ यहाँ संक्षेप में समिति एवं गुप्ति सम्बन्धी चर्चा भी अपेक्षित होगी।

गुप्ति—आचारांग में मुनि को मन, वचन और कायिक योग का निरोध कर अर्थात् तीन गुप्तियों सहित संयम में विचरण करने का निर्देश है।^{११} मन, वचन और काय—ये तीन योग कहलाते हैं और उन योगों का सम्यक् रूप से निरोध करना ही गुप्ति है।^{१२} गुप्तियाँ तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मन को अशुभ संकल्पों से हटाना मनोगुप्ति है। वाणी की विशुद्धता रखना वचन-गुप्ति है और कायिक प्रवृत्तियों को संयमित रखना कायगुप्ति है। दूसरे शब्दों में मनोगुप्ति के अनुसार साधक को चाहिए कि वह अपने मन में पाप भावना को प्रविष्ट न होने दे। वचनगुप्ति के अनुसार वह पापयुक्त शब्दों का उच्चारण करने से अपने को रोके। काय-गुप्ति यह सिखाती है कि साधक अपने कायिक अंग-प्रत्यंगों को पाप प्रवृत्तियों में न जाने दे। इस प्रकार जहाँ एक ओर ये गुप्तियाँ अहिंसा के निवृत्त्यात्मक या निषेधात्मक पक्ष को स्पष्ट करती हैं, वहीं दूसरी ओर ये समितियाँ उसके प्रवृत्त्यात्मक पक्ष को भी स्पष्ट करती हैं।

संयमी की चारित्र प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। वस्तुतः निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता है (उत्तराध्ययन में भी कहा गया है कि साधक एक ओर से निवृत्ति करे और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्त हो और संयम में प्रवृत्त हो।^{१३}) (मन, वचन और काय के असत् व्यापारों का निरोध करना और सत्क्रियाओं में विवेकपूर्वक प्रवृत्त होना, यही प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप अहिंसा धर्म है) ये पाँच समितियाँ श्रमण जीवन के अहिंसात्मक चारित्र की प्रवृत्ति के लिए तथा तीन गुप्तियाँ हिंसात्मक असत्प्रवृत्तियों से निवृत्त होने के लिए हैं।

समितियों से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन साध्वाचार अध्याय में किया जायेगा। फिर अहिंसा की पाँच भावनाओं के अन्तर्गत समितियों का प्रतिपादन होने से यहाँ संक्षेप में उनका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

समिति—आचारांग में निग्रन्थ को संयम-साधना की सिद्धि के लिए चलने का निषेध नहीं है, किन्तु पूरी सावधानी से चलने के लिए कहा गया है जिससे किसी भी जीव को पीड़ा न पहुँचे। भाषा समिति में बोलने पर सर्वथा प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है, परन्तु बोलते समय मुनि को इस बात का पूर्ण विवेक रखना चाहिए कि कषाय वृत्तियों के वशीभूत होकर भाषा न बोली जाय।^{१४}

संयम यात्रा के निर्वाह के लिए यथोचित आहार भी ग्रहण करना पड़ता है। आचारांग में यह नहीं कहा गया है कि आहारादि के लिए प्रवृत्ति की जाय। अपितु उसमें यह कहा है कि मुनि निर्दोष आहारादि ग्रहण करे और उसे पूरी तरह से देखकर खाने-पाने के उपयोग में ले ताकि किसी जीव की हिंसा न हो।^{१५}

आचारांग में वस्त्र-पात्रादि उपकरण उठाने-रखने के सम्बन्ध में भी यही निर्देश दिया गया है कि मुनि उन्हें पूण विवेकपूर्वक उठाए या कहीं रखे, अन्यथा जीवों की विराधना होती है।^{१६}

इसी प्रकार आचारांग में मल-मूत्र त्याग के सम्बन्ध में भी अनेक विधि निषेध वर्णित हैं। उसमें स्पष्ट निर्देश है कि—मलमूत्रादि ऐसे स्थान पर विसर्जित करना चाहिए, जिससे कोई जीवोत्पत्ति न हो, और न किसी के मन में घृणा भाव ही उत्पन्न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समितियाँ विधि रूप भी हैं और निषेध रूप भी हैं। जहाँ समिति है, वहाँ गुप्ति भी है। ये अहिंसा रूपी एक सिक्के के दो पहलू हैं। अतएव ये दोनों परस्पर एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं।

(इसके अतिरिक्त आचारांग में अनेक स्थलों पर अहिंसा के विधि पक्ष का स्पष्ट उल्लेख है। जैसे—‘रक्षा’, ‘दया’, ‘करुणा’, ‘सेवा’, ‘समता’ आदि। सूत्रकार स्पष्ट रूप से कहता है कि भगवान महावीर (सामायिक) चारित्र को अपनाकर जगत् के जीवों के हित के लिए साधना में रत हो गये, अर्थात् विश्व के समस्त प्राणियों की रक्षा की दृष्टि से ही कठोरतम साधना (चारित्र) में प्रवृत्त हुए।^{१७} यह तो स्पष्ट है कि भगवान महावीर ने सर्व-हित के संकल्प को लेकर साधना-मार्ग में प्रवेश किया था। इतना ही नहीं, प्रत्युत उन्होंने अपनी आध्यात्मिक पूर्णता के पश्चात् भी लोक-कल्याणकारी भावना से अहिंसा धर्म का उपदेश दिया^{१८} और सभी अर्हतों का प्रवचन भी लोक कल्याण के लिए

१८४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

ही होता है।^{१९} वास्तव में, श्रमण-जीवन बड़ा कर्षणाशील होता है। लोक-कर्षणा की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी होती है। आचारांग में स्पष्ट निर्देश है कि निष्पक्षपाती सम्यग्दर्शी मुनि लोगों को सन्मार्ग दिखाएँ^{२०} आचारांगकार अहिंसा के विधि पक्षके रूप में दया की अवधारणा को प्रस्तुत करता है।^{२१} 'दया मूले धम्मो' दया धर्म का मूल है। यह तो निश्चित है कि दयाहीन व्यक्ति पूर्णरूप से अहिंसा की साधना नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में, गाँधी जी का स्पष्ट कथन है 'जहाँ दया नहीं, वहाँ अहिंसा नहीं'।^{२२}

आचारांग में अहिंसा के विधि पक्ष के रूप में वैयावृत्य (सेवा) की अवधारणा पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। सेवा भी अहिंसा का विधेय रूप ही है और जीवन का एक महान गुण है। सेवामय जीवन एक साधना है। सेवा आभ्यन्तर तप है। वैयावृत्य (सेवा) में मुख्यतया अपनी अहंवृत्ति और वैयक्तिक सुख-सुविधाओं का सर्वथा विसर्जन करना पड़ता है। बिना उसके वास्तविक सेवा नहीं हो सकती है। मनुष्य कठोरतम तप कर सकता है, इन्द्रिय-निग्रह कर सकता है, किन्तु वैयावृत्य (सेवा) करना सहज नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'। सेवा तभी सम्भव है जब दूसरों के कष्ट हमारे अपने कष्ट बन जाँय। जब आत्मवत् दृष्टि जागृत होती है तब अनुकम्पा या कर्षणा की धारा प्रस्फुटित होती है और व्यक्ति सेवा के लिए दौड़ा जाता है। सेवा से जीवन विराट बनता है। आचारांग में अस्वस्थ अवस्था में भिक्षुओं को परस्पर सेवा करने का निर्देश है, परन्तु यह अदीन भाव से या स्वेच्छा से होनी चाहिए। सेवा के लिए भिक्षु न तो किसी पर दबाव डालता है और न अनुरोध ही करता है। सूत्रकार कहता है कि किसी भिक्षु को यह संकल्प होता है कि मैं अस्वस्थ अवस्था में किसी भी मुनि को सेवा के लिए नहीं कहूँगा, किन्तु यदि कोई स्वस्थ मुनि अपनी कर्मनिर्जरा के उद्देश्य से सेवा करेगा तो मैं उसे स्वीकार करूँगा तथा उसके द्वारा की जाने वाली सेवा का अनुमोदन भी करूँगा। इसी तरह मैं भी यथा समय कर्म-निर्जरा के उद्देश्य से अपने साधारण साधुओं की सेवा करूँगा।^{२३} उपर्युक्त सूत्र में रोगी और निरोग साधुओं की पारस्परिक सेवा सम्बन्धी विकल्प बताया गए हैं। इसी प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन के सप्तम उद्देशक में भी सेवा के विभिन्न विकल्प वर्णित हैं, परन्तु वहाँ विशेष यह है कि यथा प्राप्त आहारों में से मात्र निर्जरा के उद्देश्य तथा परस्पर उपकार की दृष्टि से

ही साधुओं की सेवा करने और करवाने पर विशेष बल दिया गया है।^{८४} आचारांग के अनुसार सेवा (वैयावृत्य) में परोपकार और कर्म-निर्जरा दोनों ही दृष्टियाँ निहित हैं। मन वचन और काया से सेवा करने, कराने एवं अनुमोदन करने वाले साधक के सहज ही तप हो जाता है, क्योंकि त्याग के बिना सेवा सम्भव नहीं है और उससे उसके कर्मों की निर्जरा होती है। सेवाभाव से साधक की साधना में तेजस्विता आती है और उसकी साधना अन्तर्मुखी होती जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि सेवा से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। उत्तराध्ययन^{८५} ओघनिर्युक्ति^{८६} एवं आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति^{८७} में भी कहा गया है कि हे गौतम ! जो ग्लान की सेवा (परिचर्या) कर रहा है, वह मेरी ही उपासना कर रहा है। इतना ही नहीं, सेवा से तो तीर्थंकर पद प्राप्त होता है।^{८८}

इस तरह, आचारांग में पारस्परिक सहयोग एवं सेवा भाव का उच्च आदर्श प्रतिपादित है। उसमें एक स्थान पर यह भी निर्देश है कि मुनि को बिना किसी छल-कपट के स्वार्थ या स्वाद वृत्तियों से ऊपर उठकर रुग्ण साधु की परिचर्या करनी चाहिए।^{८९} इसी प्रकार अपने स्वधर्मी छोटे बड़े साधुओं में परस्पर वात्सल्य भाव बना रहे, इस दृष्टि से यह भी निर्देश है कि भिक्षु गोचरी में जो भी आहार लाये उसे अपने स्थान पर आकर उपस्थित गुरुजनों को दिखाए। उनकी आज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद बिना किसी छलछद्म के परस्पर प्रेमभाव से अपने सभी सहयोगी भिक्षुओं को समान रूप से दे दे।^{९०} इतना ही नहीं, आचारांग में आगे बढ़कर यह भी कहा गया है कि यदि किसी गृहस्थ ने भिक्षु समूह को लक्ष्य करके भिक्षा प्रदान की हो तो भिक्षु का यह कर्तव्य है कि वह अन्य मतावलम्बी भिक्षुओं में बिना किसी भेद भाव के प्राप्त भिक्षा का सम-वितरण करे अथवा उनके साथ बैठकर उसका उपभोग कर लेवे। ऐसा न करे कि स्वयं अच्छा भाग ले लेवे और दूसरों को खराब या कम भाग देवे।^{९१} दशवैकालिक में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राप्त-सामग्री का सम-विभाग नहीं करता है, वह मुक्ति-लाभ नहीं कर सकता है।^{९२} इससे हमें आचारांग (जैनधर्म) के व्यापक एवं उदारवादी दृष्टि-कोण का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अहिंसा के विधेय तत्त्व को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि यद्यपि भिक्षु को अपने संयम-निर्वाह के आवश्यक सामग्री समाज से ग्रहण करनी पड़ती है, परन्तु वह समाज से जो कुछ भी ग्रहण करता है, उसमें भी दूसरों के हितों एवं सुविधाओं का

१८६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

पूरा ध्यान रखता है जिससे कि किसी भी जीव को कोई कष्ट न पहुँच पाए और न उनकी जीविकावृत्ति में कोई बाधा उत्पन्न हो। आचारांग में कहा है कि यदि गृहस्थ के द्वार पर शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, याचक, अतिथि आदि कोई भी खड़े हों तो उन्हें लांघकर साधु को गृहस्थ के घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए।^{१३} क्योंकि ऐसा करने से उन भिक्षुओं की वृत्ति में बाधा (अन्तराय) पड़ेगी, जो कि हिंसा का कारण है। उसमें न केवल अन्य भिक्षुओं का अपितु पशु-पक्षी जगत् तक का ख्याल रखा गया है।

कहने का आशय यह है कि पूर्ण अहिंसक मुनि को ऐसा कोई भी आचरण या प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, जो दूसरे प्राणियों के लिए कष्ट का कारण बने।

अहिंसा की नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक आधारभूमि :

मूल प्रश्न यह है कि अहिंसा का पालन क्यों किया जाय? आचारांग में इसका उत्तर बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से दिया गया है कि सभी जीव जोना चाहते हैं, सभी को अपना जीवन प्रिय है और मृत्यु अप्रिय है।^{१४} संसार के प्रत्येक प्राणो के भीतर एक जिजीविषा है, अपना अस्तित्व बनाए रखने की कामना है—‘सर्वे पाणा पिवाउआ सुहसाया दुक्ख पडिकूला’ अर्थात् सभी को अपने प्राण प्रिय हैं, सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से घबराते हैं।^{१५} यही जीवनाकांक्षा अहिंसा का मूल है।

अहिंसा का हार्द्र है कि व्यक्ति अपनी चेतना के समान दूसरों की चेतना को समझे। अहिंसा का साधक विश्व की समस्त आत्माओं को समदृष्टि से देखता है। चैतन्य मात्र के प्रति समतापूर्ण व्यवहार करता है। विश्व के समस्त प्राणियों के बीच समतुल्यता को संस्थापना करते हुए आचारांग में कहा है कि जो अपनी सुख-दुःखात्मक वृत्तियों अथवा पोड़ा को जान लेता है, वह दूसरों की वृत्तियों या पोड़ा को भी जान लेता है।^{१६} जैसे—मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरे जीवों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। इस आत्म-तुला के परिबोध से प्रत्युत्पन्न संवेदना ही अहिंसा की आधारभूमि है। विश्व की समस्त आत्माओं को आत्मवत् समझना ही वास्तव में अहिंसा की सच्ची साधना है। यही बात गोता में इन शब्दों में कही गयी है कि जो सभी जीवों को अपने समान देखता है और उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता

है, वही परमयोगी है।^{१७} यह समता की साधना ही अहिंसा है। आचारांग अहिंसा को बाहरी दबाव, भय, आतंक अथवा प्रलोभन के आधार पर नहीं, अपितु न्याय के आधार पर स्थापित करता है।

अहिंसा के यथार्थ बोध से अनभिज्ञ व्यक्ति उसे भय एवं प्रलोभन के आधार पर अधिष्ठित करना चाहते हैं। वे यह मानते हैं कि किसी का प्राणघात मत करो, किसी को मारो मत, अन्यथा तुम्हें भी मरना पड़ेगा। इसी मृत्यु के भय ने उनके मन में अहिंसा की भावना पैदा कर दी। मकेन्जी ने भी अहिंसा का आधार भय को बताया है। परन्तु अहिंसा को भय पर अधिष्ठित करने से जिसके प्रति भय होगा उसी की हिंसा से व्यक्ति विरत हो सकेगा। आचारांग का स्पष्ट अभिमत है कि भय एवं वेर पर आधारित अहिंसा स्थायी नहीं हो सकती। समता या तुल्यता का बोध ही अहिंसा का स्थायी आधार है। यही कारण है कि सूत्रकार मानव-जगत् के प्रति ही नहीं, अपितु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वन-स्पति जगत् के जीवों तक के प्रति भी पूर्ण अहिंसक होने की बात कहता है। आचारांग तो इससे आगे बढ़कर अद्वैतानुभूति के आधार पर अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है। वह कहता है कि 'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है'। हिंसा तभी असम्भव हो सकती है जब 'पर' का भाव हो न हो। सूत्रकार ने तो अहिंसा को और अधिक सबल आधार देने के प्रयास में यहाँ तक कह दिया है कि 'जो लोक का अपलाप करता है, वह वास्तव में स्वयं की आत्मा का अपलाप करता है और जो स्वयं की आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक का अपलाप करता है'।^{१८} यहाँ सूत्रकार ने अपने और पराये के सीमित घेरे को तोड़ डाला है। यही आत्मतुल्यता का सिद्धान्त है। स्वरूपतः सभी आत्माएँ समान हैं। अतः हमें किसी भी आत्मा के अस्तित्व का अपलाप नहीं करना चाहिए। इस तरह सूत्रकार ने स्वरूप की दृष्टि से आत्मैक्य को सिद्ध करके स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक आत्मा के जीवित रहने के अधिकार को अमान्य करने का तात्पर्य यह है कि समस्त जीवों के जीवन जीने के अधिकार का निषेध करना। इसी आत्मैक्यवाद को संपुष्ट करते हुए पुनः सूत्रकार कहता है कि जिसे तू हन्तव्य मानता है, वह तू ही है, अर्थात् वह दूसरा तेरे समान ही चैतन्य प्राणी है। जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू दास बनाना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू प्राणों से वियुक्त करना चाहता

१८८ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

है, वह तू ही है, अन्य कोई नहीं।^{१९} यह है आचारांग की अद्वैत दृष्टि, जो कि अहिंसा का आधार है।

इसमें सभी आत्माओं की सुख-दुःखात्मक अनुभूति को समानता को सिद्ध किया गया है तथा आत्मैक्यवाद की धारणा को प्रतिष्ठित कर हिंसा से विरत होने का निर्देश है। 'जिसे तू हन्तव्य मानता है, वह तू ही है' इसका तात्पर्य यही है कि अन्य के द्वारा पीड़ा पहुँचाए जाने पर जैसी अगुभूति तुझे होती है, वैसी ही अनुभूति उसे भी होती है। यही कारण है कि जानी पुरुष ऋजु होता है। वह हन्तव्य और हन्ता की एकरूपता को समझकर किसी प्राणी को हिंसा नहीं करता, दूसरों से नहीं करवाता और न अनुमोदन ही करता है।^{२०} यह आत्मैक्य दृष्टि जागृत होने से दूसरों को पीड़ा देने की वृत्ति ही समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में अपने और पराये का द्वैत नहीं रहता है और जब द्वैत ही नहीं होता तो फिर वहाँ भय भी नहीं होता। उपनिषदों में भी 'द्वैतीयाद् वैभय' भवति शब्द के द्वारा इसी बात को व्यक्त किया गया है कि भय द्वैत से होता है, पर को कल्पना से होता है। जब तक किसी के प्रति परायेपन की बुद्धि रहती है, तब तक मनुष्य पर-पीड़ा से बच नहीं सकता। सर्वत्र आत्मौपम्य की अद्वैत दृष्टि ही मानव को वैर वैमनस्य, द्वेष-कलह, घृणा आदि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की विकृतियों से बचा सकता है। उपर्युक्त अद्वैत एवं अभेद बुद्धि के आधार पर ही सूत्रकार ने परस्पर हिंसा-प्रतिहिंसा से पीड़ित मानव को अहिंसा का सन्देश देते हुए कहा है कि किसी भी जीव को मारना नहीं चाहिए, न उन पर अनुचित अनुशासन ही करना चाहिए, न उन्हें पीड़ित करना चाहिए न उन्हें पराधीन करना चाहिए और न उनका प्राणघात ही करना चाहिए, यही धर्म ध्रुव, शाश्वत और नित्य है।^{२१} समस्त प्राणियों के प्रति यह आत्मौपम्य बुद्धि ही अहिंसा का आधार है, जो उसे सार्वभौमिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

आचारांग में अहिंसा केवल आदर्श के रूप में ही नहीं है, अपितु उसकी व्यावहारिक भूमिका भी प्रतिपादित है। यही कारण है कि उसमें अहिंसाव्रती साधु को प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधानी रखने का निर्देश है। अहिंसक व्यवहार वस्तुतः एक आध्यात्मिक प्रयोग है। आचारांग के गहन अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें श्रमणाचार सम्बन्धी जितने भी विधि-निषेध प्रतिपादित हुए हैं, वे सब मूलतः अहिंसा के संरक्षण एवं पोषण के लिए ही हैं। इतना ही नहीं, श्रमणाचार के अन्य चारों महा-

व्रतों के मूल में भी अहिंसा की भावना निहित है। अन्य चारो महाव्रतों को इसी अहिंसा धर्म की पुष्टि के लिए स्वीकार किया गया है। मूलधर्म तो अहिंसा ही है। शेष सब उसी का विस्तार है। मिथ्याभाषण करने से हिंसा होती है, चोरी करने से हिंसा होती है, मैथुन सेवन से हिंसा होती है और संग्रह वृत्ति से भी हिंसा होती है। इसीलिए इन सबका परित्याग आवश्यक माना गया है। आचारांग में श्रमण-जीवन के समग्र आचार और व्यवहार के मूल में सर्वत्र अहिंसा की भावना झलकती है। अतः अहिंसा को प्राथमिकता को स्वीकार करने में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता।

दशवैकालिक चूर्णि में भी इसी बात की पुष्टि की गई है कि अहिंसा की विशद व्याप्ति में अन्य चारों महाव्रतों का समावेश हो जाता है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ पाँचों महाव्रत हैं।^{१०२} हारिभट्टीयाष्टक में भी सत्यादि चारों व्रतों के पालन का प्रयोजन अहिंसा की सुरक्षा के लिए ही विवेचित है।^{१०३} यदि अहिंसा धान्य है तो सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले बाड़े हैं।^{१०४} हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि अहिंसा यदि पानी है तो सत्य, अस्तेय आदि उसकी रक्षा करने वाली पाल है।^{१०५}

इस प्रकार अहिंसा आर्हत प्रवचन का उत्स है। आचारांग में कहा है—एस मग्गे-आरिएहि पवेइए जहेत्थ कुसले गोवलिपिज्जसि^{१०६} अर्थात् आर्यों द्वारा प्रतिपादित यह अहिंसा मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। अतः कुशल व्यक्ति हिंसात्मक कार्य में भूलकर के भी लिप्त न हो। वस्तुतः इस विराट् विश्व में यह अहिंसा ही भगवती है।^{१०७} प्रश्नव्याकरणसूत्र में अन्य अनेक विभिन्न उपमाओं के द्वारा उसकी महत्ता को खूब बखाना गया है।^{१०८} आचार्य समन्तभद्र ने भी अहिंसा की महत्ता को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाते हुए उसे परमब्रह्म कहा है।^{१०९} गाँधीजी के शब्दों में “अहिंसा एक स्वयम्भू शक्ति है।”

निष्कर्ष यह कि आचारांग में प्रतिपादित अहिंसा विश्व कल्याण का अमोघ उपाय है तथा प्राणि-जगत् की रक्षक अलौकिक शक्ति है।
सत्य महाव्रत :

आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए किए जाने वाले व्रत विधान में अहिंसा का सर्वप्रथम स्थान है। चाहे गृहस्थ हो या मुनि पहले अहिंसा व्रत की साधना की प्रतिज्ञा लेते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि

१९० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आचारांग में अहिंसा को ही महत्त्व दिया गया है, शेष सत्य, अस्तेय आदि दूसरे महाव्रतों की उपेक्षा की गई है।

जिस प्रकार असत्य, स्तेय आदि हिंसा के पोषक तत्त्व हैं उसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसा के पोषक तत्त्व हैं। सत्य और अहिंसा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचारांग में सत्य महाव्रत की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य आदि असत्य बोलने के कारणों के मौजूद रहने पर भी मन, वचन और काया से असत्य नहीं सोचना, असत्य नहीं बोलना और असत्य आचरण न करना ही सत्य महाव्रत है।^{११०}

पूर्ण रूप से इस सत्य महाव्रत की रक्षा के लिए जिन विशेष पांच बातों का त्याग आवश्यक बतलाया गया है, उन्हें पांच भावना कहा गया है। वे पांच भावनाएँ (१) विवेक-विचारपूर्वक बोलना (२) क्रोध का परित्याग (३) लोभ का परित्याग (४) भय का परित्याग और (५) हास्य का परित्याग। व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय आदि के वश पापकारिणी, पाप का अनुमोदन करने वाली, दूसरे के मन को पीड़ा पहुँचाने वाली असत्य भाषा बोलता है। अतः प्रज्ञावान् साधु को क्रोध, लोभ, भयादि इन चारों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। ये हिंसा के समान ही असत्य-वचन के भी कारण हैं। प्रयोजन होने पर भी साधु को सदा हित-मित एवं सत्य बोलना चाहिए।^{१११} इस तरह सत्यमहाव्रत के मूल में भी अहिंसा की भावना ही निहित है।

आचारांग में कहा है कि 'सच्चम्मि धिति कुव्वह' तू सत्य में धृति कर। सत्य में अधिष्ठित प्रज्ञावान् मुनि समस्त पापों का शोषण करता है।^{११२} वास्तव में सत्य शील साधक परमात्मपद प्राप्त करता है। आचारांग में कहा है—हे पुरुष ! तू सत्य को भलीभाँति समझ। सत्य-साधक संसार-समुद्र से पार हो जाता है।^{११३} इतना ही नहीं, अपितु सत्य-साधक आत्म-साक्षात्कार कर लेता है।^{११४} प्रश्नव्याकरण में तो यहाँ तक कहा है कि 'तं सच्चं खुभगवं'^{११५} वह सत्य ही भगवान् है और यही लोक में सारभूत तत्त्व है। उत्तराध्ययन में भी कहा है कि सत्यव्रती साधक को ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।^{११६} गांधीजी की दृष्टि में भी अहिंसा की अपेक्षा सत्य का स्थान ही सर्वोच्च रहा है। वे कहते हैं कि 'परमेश्वर की व्याख्याएँ अगणित हैं, क्योंकि उसको विभूतियाँ भी अगणित हैं। विभूतियाँ मुझे आश्चर्यचकित तो करती हैं, मुझे क्षण भर के

लिए मुग्ध भी करती हैं, पर मैं तो पुजारी हूँ सत्यरूपी परमेश्वर का। मेरी दृष्टि में वही एकमात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है।' आचारांग की भाँति ही वे भी अन्य शब्दों में दुहराते हैं कि 'जो सत्य को जानता है, मन से, वचन से और काया से सत्य का आचरण करता है, वह परमेश्वर को पहचानता है। इससे वह त्रिकालदर्शी हो जाता है।' यही नहीं, वरन् सत्य को परमेश्वर की श्रेणी में अधिष्ठित करने के प्रयास में वे यहाँ तक कहते हैं 'परमेश्वर सत्य है यह कहने के बजाय 'सत्य' ही परमेश्वर है यह कहना अधिक उपयुक्त है।'^{११७} इस प्रकार आचारांग के अनुसार सत्यव्रत का पालन अहिंसक जीवन के लिए अति आवश्यक है। शतपथ^{११८} ब्राह्मण, तैत्तरीय आरण्यक, नारायणोपनिषद्^{११९} एवं वाल्मीकि रामायण^{१२०} में भी सत्य की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है।

अस्तेयव्रत :

पाँच महाव्रतों में अस्तेय भी एक व्रत है। अहिंसा और सत्यव्रत की रक्षा के लिए निर्ग्रन्थ जीवन में इस व्रत का पालन भी अनिवार्य है क्योंकि चौर्य कर्म करने वाला हिंसक के साथ-साथ असत्यभाषी भी होता है। जो व्यक्ति किसी भी चीज को बिना पूछे ले लेता है तो निःसन्देह वह उसे व्यथा पहुँचाता है। धन मनुष्यों का बाह्य प्राण माना गया है। अतः उसका अपहरण करने से उनका प्राण-घात हो जाता है। यही कारण है कि चोरी या अदत्तादान में हिंसा का दोष भी स्पष्ट है। इस सन्दर्भ में, आचारांग कहता है कि जलकाय की हिंसा चोरी भी है।^{१२१} इससे स्पष्ट विदित होता है कि किसी भी जीव की हिंसा सिर्फ हिंसा ही नहीं है अपितु हिंसा के साथ-साथ चोरी भी है।

अहिंसा के विषय में यह बड़ा तार्किक एवं सूक्ष्म विवेचन है। इसी तरह, चौर्य कर्म करने वाला असत्य भाषण से भी नहीं बच सकता है। अतएव हिंसा और असत्य की जननी चौर्य वृत्ति निर्ग्रन्थ के लिए सर्वथा त्याज्य मानी गई है। इसी अभिप्राय से अहिंसा और सत्यव्रत के पश्चात् इसे तृतीय स्थान दिया गया है।

आचारांग में कहा है कि निर्ग्रन्थ साधक कृत, कारित, अनुमोदित तथा मन-वचन और काया से चौर्य कर्म से अपनी आत्मा को सर्वथा विरत रखता है। संसार की कोई भी वस्तु, चाहे वह गाँव में हो, नगर में हो या अरण्य में हो, स्वल्प हो या अधिक, सजीव हो या निर्जीव,

१२२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्यायन

उसे उसके स्वामी की आज्ञा के बिना स्वयं ग्रहण नहीं करना, दूसरों से ग्रहण नहीं करवाना और ग्रहण करने वाले व्यक्ति का समर्थन नहीं करना ही अस्तोयव्रत है।^{१२२} इस व्रत की शुद्धि के लिए आचारांग में पाँच भावनाएँ वर्णित हैं। वे निम्नोक्त हैं—

(१) सोच-विचार कर मित्तावग्रह की याचना करना, (२) गुरु आदि की अनुमति से आहार जल ग्रहण करना, (३) क्षेत्र और काल की मर्यादा को ध्यान में रखकर परिमित वस्तु स्वीकार करना, (४) बार-बार आज्ञा ग्रहण करना और (५) साधारणिकों से परिमित पदार्थों की आज्ञा लेना। यदि वह निर्ग्रन्थ ऐसा नहीं करता है तो उसे चौर्य कर्म का दोष लगता है। उपयुक्त बातों का आचरण करने से, हिंसा से बचने और अहिंसा के परिपालन में पूर्ण सहायता मिलती है।^{१२३} आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के सप्तम अध्यायन में भी अस्तोय व्रत की चर्चा है।^{१२४}

इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्र साधक को यहाँ तक सतर्क करते हैं कि यदि कोई साधक वस्तुतः तपस्वी, ज्ञानी अथवा उत्कृष्ट आचारादि से सम्पन्न नहीं है और दूसरा व्यक्ति उसे वैसा कहता है, तो साधक को निःसंकोच कह देना चाहिए कि आप मुझे जैसा समझ रहे हैं, वास्तव में मैं वैसा हूँ नहीं। ऐसा न करके मौन धारण कर लेना और मुफ्त में प्राप्त होने वाले मान, सम्मान, प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा प्राप्त कर लेना भी चोरी के अन्तर्गत ही माना जायगा। अतः साधक-जीवन के लिए यह अनिवार्य है कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म चौर्यकर्म के पाप से बचे और समस्त दुःखों से मुक्त होनेके लिए इस व्रत का सम्यक्तया पालन करे। वैदिक ग्रन्थों में भी इस व्रत का पालन करने वालों को व्रत-उपलब्धि बतलाई गई है।^{१२५}

ब्रह्मचर्य महाव्रत :

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य की साधना को अन्य सभी साधनाओं की अपेक्षा विशेष महत्त्व प्राप्त है। वेदों एवं उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की महत्ता का वर्णन प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त हुआ है। बौद्ध साहित्य के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विवेचन मिलता है। जैनागमों में ब्रह्मचर्य की गम्भीर एवं अति सूक्ष्म विवेचना उपलब्ध है। यही नहीं, आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का दूसरा नाम ही 'ब्रह्मचर्य' है। अतः नैतिक जीवन की दृष्टि से ब्रह्मचर्य व्रत की प्रशंसा जितनी अधिक की जाय उतनी ही थोड़ी है क्योंकि नैतिकता का निखार भी व्रत से सम्भव है।

मन-वचन और काया से देव, मनुष्य एवं तिर्यन्च शरीर सम्बन्धी सब प्रकार के मैथुन-सेवन का परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। इस

प्रकार, निर्ग्रन्थ मुनि कृत, कारित, अनुमोदित तथा मन, वचन और काय से जीवन भर मैथुन का त्यागी होता है। मैथुन हिंसा का कारण है। इससे जीवों का घात होता है।^{१२९} गांधी जी के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ है—‘मन-वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम।’^{१२९}

इस प्रकार व्रत की साधना की सफलता एवं सम्यक्तया इसके पालन के लिए आचारांगकार ने पाँच प्रकार की भावनाओं का उपदेश दिया है। साधु को निम्नोक्त पाँच प्रकार की भावनाओं का कठोरता के साथ पालन करना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए बाड़ की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए पंच भावनारूप बाड़ की आवश्यकता है। ये पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—(१) स्त्री सम्बन्धी काम-कथा न करे, (२) विकार दृष्टि से स्त्री के अंग-प्रत्यंगों का अवलोकन न करे, (३) पूर्वानुभूत काम क्रीड़ा का स्मरण न करे, (४) मात्रा से अधिक एवं कामवर्धक भोजन न करे, और (५) ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्री-पशु एवं नपुंसक आदि से युक्त स्थान में न रहे। ये सभी काम-वासना के हेतु हैं। अतः निर्ग्रन्थ को इनसे बचना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो धर्म से च्युत हो जाता है।^{१२८} स्थानांग,^{१२९} उत्तराध्ययन^{१३०} आदि जैनागमों में भी ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इन्हीं उपायों का विविध प्रकार से उल्लेख है और उन्हें समाधि स्थान के नाम से कहा गया है। मनुस्मृति^{१३१} और गौतमसूत्र^{१३२} में भी ब्रह्मचारी को इन्द्रिय जन्य सुखों एवं आनन्ददायक वस्तुओं से दूर रहने को कहा गया है।

आचारांग में ब्रह्मचर्य-पालन की दृष्टि से स्पष्ट निर्देश मिलता है। जैसे- ब्रह्मचारी स्त्री-सम्बन्धी काम-कथा न करे, उन्हें वासनायुक्त दृष्टि से न देखे, परस्पर कामुक भावों का प्रसारण न करे, उनके प्रति ममत्व न करे, उनके चित्त को आकृष्ट करने के लिए शरीर की विभूषा या साज-सज्जा न करे, वचन-गुप्ति का पालन करे और मन को संवृत रखकर पाप-कर्म से सदा दूर रहे। इस प्रकार वह ब्रह्मचर्य की आराधना^{१३३} करे, क्योंकि साधक के सुखशील होने पर तथा उपर्युक्त सभी नियमों का पालन न करने पर काम-वासना उभरती है। इस तथ्य से सूत्रकार सम्यक् परिचित थे। अतः वासना से उत्पीड़ित मुनि को काम निवारण के छः उपाय बताते हुए उन्होंने कहा है कि ‘मुनि को नीरस भोजन करना चाहिए, उणोदरी तप (कम-खाना) करना चाहिए,

१९४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

कायोत्सर्ग करना चाहिए अर्थात् विविध प्रकार के आसन करना चाहिए, ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए अथवा आहार का परित्याग कर देना चाहिए तथा स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होने वाले मन को सर्वथा विमुख रखना चाहिए।^{१३४}

मतलब यह कि उक्त उपायों में से जिस साधक को जो उपाय अनुकूल हो, उसी का अभ्यास करना चाहिए। शीलाकाचार्य ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए यहाँ तक कह दिया है कि 'पर्यन्ते आहारमपि व्यवच्छिन्द्याद अपि पातं विदध्यात्, अप्युदबन्धनं कुर्यात्, न च स्त्रीषु मनः कुर्यादिति' अर्थात् अन्य सभी उपायों के असफल होने पर मुनि जीवन भर के लिये सर्वथा आहार का त्याग कर दे, ऊपर से गिर जाय या फाँसी लगा ले किन्तु मन को स्त्रियों में न जाने दे।^{१३५} ब्रह्मचर्य को खण्डित न होने दे।

वस्तुतः ब्रह्मचर्य वह अग्नि है, जिसमें तपकर आत्मा परिशुद्ध बन जाती है। ब्रह्मचर्य की साधना देह और आत्मा दोनों को पुष्ट करती है। अहिंसा, सत्य आदि तो आत्मबल को बढ़ाते हैं, परन्तु ब्रह्मचर्य की साधना तो एक साथ दोनों (शरीर-आत्मा) को अपरिमित बल प्रदान करती है। यही कारण है कि प्रश्नव्याकरण में ब्रह्मचर्य को उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन..... आदि का मूल बताया गया है^{१३६} तथा कहा है कि जिसने अपने जीवन में एक ब्रह्मचर्य की उपासना की है, उसने सभी उत्तमोत्तम तपों की आराधना की है—ऐसा समझना चाहिये। अतः निपुण साधक को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।^{१३७} महर्षि पतंजलि कहते हैं कि ब्रह्मचर्य स्थिर होने से वीर्य-लाभ होता है।^{१३८} ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ तप कहा है।^{१३९} उत्तराध्ययन में ब्रह्मचर्य को अन्य सभी व्रतों की अपेक्षा दुष्कर बताया है तथा उसकी महत्ता को प्रतिपादिन करते हुए कहा गया है कि दुष्कर व्रत की आराधना करने वाले ब्रह्मचारी को देव-दानव गन्धर्व आदि सभी नमस्कार^{१४०} करते हैं। उसमें 'एस धम्मे सुद्धे निच्चे' कहकर विश्व में उसके स्थायित्व को प्रतिपादित किया गया है।^{१४१} इसी तरह योगशास्त्र,^{१४२} ज्ञानार्णव,^{१४३} अथर्ववेद,^{१४४} आदि ग्रन्थों में भी इसकी महत्ता का वर्णन मिलता है।

इस ब्रह्मचर्य व्रत ने पाश्चात्य विद्वानों को भी आकर्षित किया है, तभी तो डा० फर्नेण्डो वेत्लिनी फिलिप ने भी कहा है। भगवान महावीर के व्यक्तित्व में सर्व प्रधान गुण मेरी दृष्टि में अनन्तवीर्य रहा है। उसी के कारण यह प्रसिद्ध तीर्थंकर अपने समकालीन मत प्रवर्तकों का रास्ता काटकर आगे बढ़ने में सफल हुआ।^{१४५}

अपरिग्रह महाव्रत :

संसार के समस्त प्राणी सुख-प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं, फिर भी सुख नहीं मिल रहा है। सोचना होगा कि आखिर दुःख का मूल कहाँ है ? गहराई से सोचने पर विदित होता है कि दुःख का मूल परिग्रह ही है। व्यक्ति परिग्रह एकत्र करने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, छल-कपट आदि निकृष्टतम कृत्यों को भी करने में नहीं सकुचाता है। आचारांग में स्पष्ट रूप से कहा है कि धनेप्सु या अर्थ-लोभी व्यक्ति परिग्रह की पूर्ति हेतु दूसरों का वध करता है, उन्हें कष्ट देता है तथा अनेक प्रकार से यातनाएँ पहुँचाता है।^{१४९} यहाँ तक कि वह धन-प्राप्ति के लिये चोर, लुटेरा और संहारक तक बन जाता है।^{१५०} अतएव यह संग्रहवृत्ति या धन-लिप्सा ही सभी पापों का मूल है, और यही सब अनर्थों की खान है। वास्तव में इस आणविक युग में यह संग्रह प्रवृत्ति ही चारों और उथल-पुथल मचा रही है। बाइबिल में संग्रह वृत्ति की कड़ी आलोचना करते हुए कहा गया है कि सूई की नोक में से ऊँट कदाचित् निकल जाय, परन्तु धनवान व्यक्ति स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता है। आचारांग में तो अपरिग्रह विषयक गहरी विवेचना मिलती है।

निर्ग्रन्थ साधक जीवन पर्यन्त सजीव अथवा निर्जीव, अल्प या बहुत स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की वस्तु को स्वयं संग्रह नहीं करता है, दूसरों से संग्रह नहीं करवाता है और न संग्रह करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार कृत-कारित-अनुमोदित तथा मन-वाणी और कर्म से परिग्रह के पाप से अपना आत्मा को सर्वथा विरत रखना ही अपरिग्रह व्रत है।^{१५१} साधु परिग्रह मात्र का त्यागी होता है। वह पूर्ण अनासक्त और निर्ममत्व होता है। संयम की साधना के लिए उसे जिन उपकरणों की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है, उन पर भी उसका ममत्व नहीं होता। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि जो ममत्व बुद्धि का त्याग करता है, वही ममत्व का भो त्याग करता है। सच्चा साधक वही है जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं है। वही मुक्ति पथ का द्रष्टा है।^{१५२} इतना ही नहीं, शरीर का ममत्व भी परिग्रह माना गया है और अपरिग्रही मुनि उसके प्रति भी निर्ममत्व होता है। जिसने शरीर का ममत्व विसर्जित कर दिया है, वह चिकित्सा की भी अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् वह शरीर में जो कुछ घटित होता है, उसे होने देता है और कर्म का प्रतिफल मानकर सब कुछ सह लेता है, किन्तु हिंसा प्रधान चिकित्सा का सहारा नहीं लेता, क्योंकि चिकित्सा में हिंसा के

१९६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

अनेक प्रसंग आते हैं। आचारांग में स्पष्ट निर्देश है कि वैद्य चिकित्सा के लिए अनेक जीवों का छेदन-भेदन और प्राण-घात करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हिंसा और परिग्रह के दोष से पूर्णतया बचने के लिये ही मुनि को चिकित्सा करवाने का निषेध किया गया है।^{१५०} आचारांग के द्वितीय श्रुतकन्ध में भी ऐसा ही विवेचन मिलता है। वस्तुतः यह परिग्रहासक्ति ही सबसे बड़ा बन्धन है। संसार के सभी प्राणियों को इस परिग्रह रूप बन्धन ने जकड़ रखा है। इससे बढ़कर अन्य कोई बन्धन नहीं है।

आचारांग का कथन है कि धन-धान्य, भूमि और घर आदि में ममत्व रखने वाले व्यक्तियों को विपुल समृद्धिपूर्ण जीवन प्रिय होता है। वे रंग-विरंगे, मणि, कुण्डल, हिरण्य तथा स्त्रियों का संग्रह कर उनमें अनुरक्त रहते हैं। उन परिग्रही धनेप्सु व्यक्तियों के जीवन में न कोई तप-त्याग होता है न यम-नियम अथवा संयम ही होता है और न मानसिक शान्ति ही होती है। वह अज्ञानी पुरुष ऐश्वर्यपूर्ण जीवन जीने की कामना करता है तथा बार-बार सुख की कामना करता हुआ अन्ततः मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है।^{१५१} इस प्रकार वह परिग्रही व्यक्ति जीवन जीने हेतु द्विपद (कर्मकर), चतुष्पद (पशु) का संग्रह कर उनका उपयोग करता है। उनके द्वारा यह अर्थ का संवर्धन करता है। अपने, पराये अथवा दोनों के सम्मिलित प्रयास से उसके पास कम अथवा ज्यादा अर्थ की मात्रा एकत्र हो जाती है। वह उस अर्थ-राशि में आसक्त रहता है और भोग के लिए उसका संरक्षण करता है तथा भोग के बाद शेष पर्याप्त धन-राशि से महान उपकरण (सम्पत्ति) वाला बन जाता है। किन्तु एक समय ऐसा आता है कि जब सारी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, उस संरक्षित एवं अर्जित धन-राशि या परिग्रह में से दायद हिस्सा बँटा लेते हैं या चोर अपहरण कर लेते हैं या शासक छीन लेते हैं या वह नष्ट हो जाती है, अथवा फिर गृह दाह से जल जाती है। इस तरह वह परिग्रही व्यक्ति दूसरों के लिए हिंसादि क्रूर कर्म करता हुआ दुःख का निर्माण करता है और अन्ततोगत्वा दुःखी रहता है अर्थात् चतुर्गति रूप संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता रहता है।^{१५२} उत्तराध्ययन में भी इस धन-लिप्सा की निन्दा की गई है।^{१५३} सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि परिग्रह का त्याग नहीं करने वाला व्यक्ति क्रन्दन करता है।^{१५४} तात्पर्य यह कि 'अर्थेप्सु' व्यक्ति (परिग्रही) धन प्राप्त न होने

पर पहले उसे पाने की लालसा में क्रन्दन करता है और नष्ट होने पर बाद में उसके शोक से रोता है ।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्^{१५५} और मनुस्मृति^{१५६} में भी कहा है कि संन्यासी को अपने पास कोई परिग्रह नहीं रखना चाहिए ।

अपरिग्रह व्रत को निर्दोष बनाए रखने के लिए पाँच भावनाएँ बतायी गयी हैं—(१) मुनि को श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी शब्द के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, (२) चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी रूप के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, (३) घ्राणेन्द्रिय विषय सम्बन्धी गंध के प्रति अनासक्त रहना चाहिए, (४) रसनेन्द्रिय सम्बन्धी स्वाद के विषय में लोलुप नहीं रहना चाहिए और (५) स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी विषय के प्रति राग-द्वेष नहीं रखना चाहिए ।^{१५७} जब साधक उक्त पाँच भावनाओं का पालन करता है तभी उसका अपरिग्रहव्रत निर्दोष, सात्त्विक, स्वच्छ रह सकता है ।

परिग्रह वृत्ति के कारण ही आज सारा जगत् अशान्त है, प्रत्येक मनुष्य दुःखी एवं अतृप्त है । ऐसी विषम एवं अशान्त परिस्थिति में यदि यह अपरिग्रह वृत्ति सामूहिक रूप से जीवन में आ जाय तो अर्थ वैषम्य-जनित सारी सामाजिक समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं । उन्हें हल करने के लिए साम्यवाद, समाजवाद अथवा अन्य किसी नवीनवाद की आवश्यकता नहीं रह जाती है । इतना ही नहीं, इससे मनुष्य का स्वयं का जीवन भी क्रमशः उच्चता की ओर बढ़ता है । साथ ही सामाजिक समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं और मनुष्य तथ्यतः विश्वशान्ति की संस्थापना में भी सक्षम हो सकता है ।

महाव्रतों की महत्ता एवं उपादेयता :

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँचों महाव्रत नैतिक जीवन के शाश्वत तत्त्व हैं । काल एवं देश की सीमा का भी इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । ये मानवीय नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्त हैं । नैतिक ह्रास के इस युग में भी पाँचों महाव्रत सामाजिक जीवन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं तथा मानव के चारित्रिक विकास के लिए भी आवश्यक हैं । आचारांग में कहा है—अनन्त जीवों के रक्षास्पद (रक्षारूप पर) पाँचों महाव्रत महापुरुषों द्वारा आचरित होने के कारण महागुरु कहे गये हैं तथा ये दीर्घ काल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म-बन्धन से मुक्त करने वाले हैं । जिस प्रकार तेज (प्रकाश) तीनों दिशाओं के अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार महाव्रत रूप तेज कर्म-समूह रूप अन्धकार को नष्ट कर देता है ।^{१५९}

१९८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

यह आत्मा अनन्तकाल से कर्मों से आवृत्त है। कर्मों के आवरण से आत्मा को मुक्त कराने के लिये महाव्रतों की साधना की जाती है और जब यह साधना पूर्णता पर पहुँच जाती है, तब आत्मा परमात्मा बन जाता है।

सन्दर्भ-सूची

अध्याय ७

१. योगदर्शन, २/३१. २. आचारांग, १/१/६. ३. वही, १/३/१.
४. वही, १/२/४. ५. वही, १/१/७. ६. वही, १/३/३.
७. वही, १/३/२, १/२/५. ८. वही, १/१/५, १/३/२, १/८/१.
९. वही, १/३/३. १०. वही, १/३/४. ११. वही, १/३/२.
१२. वही, १/५/५, एवं सूत्रकृतांग, १/११/१०.
१३. धम्मपद, १०/१, १०/४.
१४. सुत्तनिपात, अनु०—भिक्षुधर्मरत्न, महाबोधि, सारनाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९५१, ३।३।७।२७.
१५. धम्मपद—कोषवग्गो ५.
१६. महाभारत, अनु०—११५/२३, ११६/२८-२९, ११६/८-१३, १४५, २१५/१९ एवं महा० आदि पर्व १/१/१३.
१७. महाभारत शांतिपर्व २७८/५-३०.
१८. योगसूत्र पतञ्जलि, २/३५.
१९. कुरान शरीफ ५/३५, उद्धृत—अहिंसा दर्शन, प्रवचनकार—श्री उपाध्याय अमर मुनिजी, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा—२, तृतीय संस्करण, सन् १९७६ पृ० ५.
२०. बाइबिल (भत्ती) २/५१/५२, ५/४५/४६.
तथा लूका ६/२७/३७ उद्धृत, अहिंसा दर्शन, पृ० ६.
२१. मेटलिया—५८ उद्धृत, अहिंसा दर्शन, पृ० ६.
२२. तोरा—लेख्य व्यवस्था १९/१७, उद्धृत, अहिंसा दर्शन, पृ० ७.
२३. ताओतेहकिंग उद्धृत—अहिंसा दर्शन में पृ० ६.
२४. उद्धृत—अहिंसा दर्शन, पृ० ७. २५. आचारांग, १/२।१.
२६. वही, १/१/२-७.
२७. वही, १/१।२-७, १।२/२ एवं १/८/१, १/३/३.
२८. वही, १।३/१. २९. वही, १/३/४. ३०. भगवतीसूत्र, १/१/४८.

पंचमहाव्रतों का नैतिक दर्शन : १९९

३१. अकलंकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक, संपा० श्रीपन्नालाल जैन, चन्द्रप्रभा प्रेस, बनारस, सन् १९१५, ७/१३.
३२. श्री अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धचुपाय, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमद्-राजचन्द्र शास्त्रमाला), अगास, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६६, गा० ४७.
३३. आचारांग, १/५/४ तथा आचारांग शीलांक टी० पत्रां० १९६.
३४. आचारांग (आत्मारामजी)-२/३/२/१२२-१२४.
३५. आचारांग २/३/२ पर हिन्दी विवेचन (आत्मारामजी) पृ० १०९८.
३६. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/१३.
३७. आचारांग, १/९/१. ३८. वही, १/५/४.
३९. आचारांग, पत्रांक १९६, १/५/४ पर शीलांक टीका
४०. भगवतीसूत्र, १८/८, ७/१.
४१. ओघनियुक्ति, गा० ७४८-७४९-७५९.
४२. मूलाचार (पंचाचार अधि०) गा० १२९ से १३३ तक एवं समयसारा-धिकार गा० १२३.
४३. आचारांग, १/९/१. ४४. वही, १/१/२-५. ४५. वही, १/१/६.
४६. वही, १/१/२. ४७. वही, १/६/१. ४८. वही, १/१/२.
४९. वही, १/१/३. ५०. वही, १/१/४. ५१. वही, १/१/७.
५२. वही, १/१/५. ५३. वही, १/१/६.
५४. सूत्रकृतांग, ख० २ सू० ७, १, २, ७, ८, १०, १६, १९.
५५. प्रश्नव्याकरण आश्रव अधिकार ५६. दशवैकालिक ४.
५७. प्रवचनसार, ३/४९.
५८. मूलाचार-पंचाचार अधिकार गा० २०५, २२५.
५९. आचारांग, १/२/५. ६०. वही, १/२/१, १/२/२.
६१. आचारांग, १/३/१. ६२. वही, १/१/२.
६३. सूत्रकृतांग, १/२/३, १/५/१, १/७/३/१०.
६४. प्रश्नव्याकरण, आस्रवद्वार १/१.
६५. निरयावलिका-१/१०९, उद्धृत-जैनधर्म में अहिंसा, ले० डॉ० वशिष्ठ-नारायण सिन्हा, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, गुरुबाजार, अमृतसर, सन् १९७२, पृ० १६६.
६६. उत्तराध्ययन, ६/७, ९/५४, ११/७. ६७. प्रवचनसार, ६/५७-६६.
६८. मूलाचार-वृहत्प्रत्याख्यान संस्तरस्तवाधि ११ तथा पंचाराधिका गा० २३८, २३९ द्वादशानुयोग, गा० ७३६.

२०० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

६९. आचारांग, २११५. ७०. वही, ११३३ एवं ११५६.
 ७१. वही, ११३३ एवं ११५६. ७२. तत्त्वार्थसूत्र, ९१४.
 ७३. उत्तराध्ययन, ३११२. ७४. आचारांग, २११५.
 ७५. वही, २११५. ७६. वही, २११५. ७७. वही, २११५.
 ७८. वही, २११५. ७९. प्रश्नव्याकरणसूत्र द्वितीय संवरद्वार-१.
 ८०. आचारांग, ११८३.
 ८२. सम्पा० श्रीरामनाथ 'सुमन' गांधीवाणी, प्रका०, साधना सदन, ६९,
 लूकरगंज, इलाहाबाद, सन् १९४७, पृ० ५७.
 ८३. आचारांग, ११८५. ८४. आचारांग, ११८७.
 ८५. उत्तराध्ययन, सर्वार्थसिद्धि परीषद्
 ८६. ओषधिनियुक्ति, सटीक गा० ६४.
 ८७. आवश्यक (हारिभद्रिय वृत्ति), पृ० ६६१-६२, उद्धृत-धर्म और दर्शन-
 ले० श्रीदेवेन्द्रमुनि शास्त्री, प्रका० सन्मति ज्ञानपीठ लोहामण्डी, आगरा,
 प्रथम संस्करण सन् १९६७, पृ० १८९.
 ८८. उत्तराध्ययन, २९१४४. ८९. आचारांग, २१११०.
 ९०. वही, २१११०, (आत्मारामजी) सूत्र-५६-५७.
 ९१. आचारांग, २१११५. ९२. दशवैकालिक, ९१२१२२.
 ९३. आचारांग, २११. ९४. वही, ११२३. ९५. वही, ११२३
 ९६. वही, १११७. ९७. गीता-६३२ एवं ईशावास्योपनिषद्, ६, ७.
 ९८. आचारांग, १११३.
 ९९. वही, ११५५. १००. वही, ११५५. १०१. वही, ११४१.
 १०२. दशवैकालिक चूर्णि अ० १, १०३. हरिभद्र, अष्टकप्रकरण-१६५.
 १०४. वही, १६५. १०५. योगशास्त्र प्रकाश-२
 १०६. आचारांग, ११२२. १०७. प्रश्नव्याकरण सूत्र-संवरद्वार १.
 १०८. वही, १.
 १०९. समन्तभद्र, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, मूलचन्द किसनदास कापड़िया प्रथम आवृत्ति
 वी० सं० २४५८, सूरत, नेमिनाथ जिनस्तुति गा० ११९.
 ११०. आचारांग, २१५. १११. वही, २१५. ११२. वही, ११३२.
 ११३. वही, ११३३. ११४. वही, ११३३.
 ११५. प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार-१.
 ११६. उत्तराध्ययन आत्माराम टी०, पृ० ११२२.
 ११७. गांधीवाणी, पृ० १५, १२-१८.
 ११८. शतपथ ब्राह्मण, २११४११०.

पंचमहाव्रतों का नैतिक दर्शन : २०१

११९. तै० आ० नारायणोपनिषद् १०।६२-६३ 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्' उद्धृत-
सूक्ति त्रिवेणी, सम्पा० उपा० अमर मुनि जी, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी
आगरा-२ सन् १९६८, पृ० १८०.
१२१. वाल्मीकिरामायण, ला जनरल प्रेस, सन् १९३३, अयोध्याकाण्ड, १।४।७
एवं १०९।१३.
१२१. आचारांग, १।१।३. १२२. २।१५. १२३. वही, २।१५.
१२४. वही, २।७।१ १२५. उत्तराध्ययन, आत्मा टी० पृ० ११२३.
१२६. आचारांग, २।१५. १२७. गांधी वाणी, पृ० ९४.
१२८. आचारांग, २।१५. १२९. स्थानांग-१ आस्रव द्वार, पृ० ४२.
१३०. उत्तराध्ययन, १६।२-१४.
१३१. मनुस्मृति, ६।४।१।४९. १३२. गौतम सूत्र, ३।११.
१३३. आचारांग, १।५।४. १३४. वही, १।५।४.
१३५. आचारांग, १।५।४ पर शीलांकटीका, पत्रांक १९८.
१३६. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, ४।१. १३७. वही, ४।१.
१३८. योगदर्शन, २।३८. १३९. सूत्रकृतांग, १।६।२३.
१४०. उत्तराध्ययन, १६।१६. १४१. वही, १६।१७.
१४२. योगशास्त्र, २।१०४. १४३. ज्ञानार्णव, १।१।३.
१४४. अथर्ववेद, १।१।१-२-१९-२४.
१४५. सम्पा० श्री कामता प्रसाद जैन, अहिंसा वाणी (तीर्थंकर महावीर सचित्र
विशेषांक), प्रकाशक-अ० वि० जै० मि० एटा, सन् १९५६-१९६१,
अप्रैल-मई, पृ० ६३.
१४६. आचारांग, १।३।२. १४७. वही, १।३।२. १४८. वही, २।१५.
१४९. वही, १।२।६. १५०. १।२।५ एवं २।१३.
१५१. वही, १।२।३, १।२।६. १५२. वही, १।२।३.
१५३. उत्तराध्ययन, ४।२. १५४. आचारांग, १।२।५.
१५५. बृहदारण्यकोपनिषद्-२।४।१.
१५६. मनुस्मृति, ६।३८. १५७. आचारांग, २।१५.
१५८. मुनि श्री सुशील कुमार, जैनधर्म-अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन
कान्फ्रेस भवन, १२ लेडी हर्डिंग रोड, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, सन्
१९५८, २४८.
१५९. आचारांग, २।१६.



अष्टम अध्याय

श्रमणाचार

सदाचार का महत्त्व :

आचारांग सूत्र के टीकाकार ने ज्ञान और चारित्र की चर्चा करते हुए चारित्र (सदाचार) की प्रधानता प्रतिपादित की है।^१ यून तो सम्यक् दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी मोक्ष के कारणभूत हैं, किन्तु मुक्ति का सक्रिय कारण चारित्र ही है। ज्ञान और चारित्र में भेद-रेखा खींचना प्रायः असम्भव है, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं अर्थात् ज्ञान के बिना चारित्र नहीं और चारित्र के बिना ज्ञान नहीं। ज्ञान की पूर्णता में चारित्र समाहित हो जाता है और तभी मुक्ति प्राप्त होती है। इससे सदाचार का मूल्य सहज ही समझा जा सकता है। किन्तु सदाचार क्या है? आत्म स्वरूप में रमण करना और जिनकथित विधि-निषेध रूप उपदेशों पर पूर्ण आस्था रखते हुए भलीभाँति उन्हीं के अनुरूप आचरण करना ही सदाचार है। इस दृष्टि से सदाचार दो प्रकार का है—निश्चय आचार और व्यवहार आचार।

जब आत्मा के द्वारा आत्मा में रमण करता है तब निश्चय आचार होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचारांग में कहा है—

‘जे अणणदंसी से अणणरामे

जे अणणरामे से अणणदंसी ।^२

जो अनन्य (आत्मा) को देखता है वह आत्मा में रमण करता है, जो आत्मा में रमण करता है वह आत्मा को देखता है। इस प्रकार आत्म-रमण और आत्म-दर्शन का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। किन्तु जो आचार में रमण नहीं करते वे स्वयं आरम्भ करते हुए आचार (संयम) का उपदेश देते हैं। वे स्वच्छन्दाचारी और विषयासक्त हैं^३ और नई-नई आसक्तियों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्वस्वरूप में रमणतारूप नैश्चयिक आचार किसी दूसरे पर आधारित नहीं होता, वह तो स्वाश्रित है। इसके विपरीत असत् प्रवृत्तियों से निवृत्ति और सत् क्रियाओं में प्रवृत्ति करना व्यवहार-चारित्र है। पंचमहाव्रतों का पालन समिति-गुप्तिरूप आचरण, परीषह-सहन आदि सब व्यवहार चारित्र

है, जो कि नैश्चयिक आचार (साध्य) की प्राप्ति में परम सहायक है ।

प्राचीन काल से ही अध्यात्म-साधना में सदाचार या चारित्र्य का गौरवपूर्ण स्थान रहा है । वास्तव में यह सदाचार नैतिक जीवन का वह मूल्य है जिसके द्वारा मनुष्य नैतिक दृष्टि से उच्च से उच्चतर सोपान की ओर अग्रसर होता जाता है और अन्ततः इस मूल्य निधि से उसे परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है ।

श्रमण की व्याख्या :

श्रमण-संस्कृति आचार-प्रधान संस्कृति है । 'आचार' ही श्रमण-संस्कृति की मूलभूत आत्मा है और श्रमण-संस्कृति का मूल आधार है 'श्रमण' । आचारांग आदि प्राचीन जैनागमों में अनेक स्थानों पर श्रमण के लिए 'समण', 'सुसमण' आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं । यहाँ यह जान लेना भी नितान्त आवश्यक है कि 'श्रमण' किसे कहें और उसकी व्याख्या क्या है ?

'श्रम तर्पसि खेदे च' अर्थात् तप और खेद (परिश्रम) अर्थवादी 'श्रम्' धातु से 'ल्यु' प्रत्यय लगकर 'श्रमण' शब्द बना है । 'श्रमण' का मूलभूत प्राकृत रूप 'समण' है । इसका संस्कृत रूपान्तर 'श्रमण', 'समन' और शमन तथा 'श्रम', 'सम' और 'शम' है । श्रमण का अर्थ है—श्रम करना । 'श्रमण' संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है, अपने ही श्रम द्वारा स्वयं का विकास । मनुष्य अपने उत्कर्षापकर्ष के लिये स्वयं उत्तरदायी है । आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में जो व्यक्ति स्वयं के श्रम से, कर्म-बन्धन को तोड़ता है अथवा स्वयं को कर्म-मुक्त करता है, वह श्रमण है । अपनी मुक्ति के लिए श्रमण स्व के अतिरिक्त अन्य किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता, उसका एकमात्र आदर्श है कठोर साधना अथवा श्रम । प्रकारान्तर से, जो अपनी पापवृत्तियों को शान्त करता है, वह 'शमन' कहा जाता है । जो प्राणि-मात्र को आत्मतुल्य समझकर किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता है, सर्वत्र सम रहता है, वह 'समन' है । आचारांग में 'सुश्रमण' की परिभाषा करते हुए लिखा है—

उवेहमाणोकुसलेहि संवसे, अकंतदुक्खा तसथावरादुही
अलूसए सब्वसहे महामुणी, तहाहि से सुस्समणे समाहिए ।*

जो परीषहों को सहता हुआ अथवा मध्यस्थभाव का अवलम्बन करता हुआ साधना मार्ग में कुशल जनों के साथ रहता है, जो सभी को सुख प्रिय है दुःख अप्रिय है—यह समझ कर त्रस और स्थावर किसी भी

२०४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

जीव को परिताप, संक्लेश या पीड़ा नहीं पहुँचाता है, तथा पृथ्वी की भाँति सब प्रकार के परीषहों को समभावपूर्वक सहता है, वह महामुनि 'श्रमण' या श्रेष्ठ श्रमण कहा जाता है।

इस प्रकार मुक्तिमार्ग की साधना करने वाला श्रमण सम्यग्दर्शन व ज्ञान के साथ ही सम्यक् आचार-साधना में स्वयं को तपाकर भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। आचारांग में कहा है—

तथा विमुक्करस्सपरिन्नचारिणो ।
धिइमओ दुक्ख खमस्स भिक्खुणो ॥
विसुज्झई जंसि मलं पुरे कडं ।
समीरियं रूपमलं व जोइणा ॥^५

जिस प्रकार अग्नि चाँदी के मेल को जलाकर उसे परिशुद्ध कर देती है उसी प्रकार ज्ञानपूर्वक आचरण करने वाला, धैर्यवान और कष्ट-सहिष्णु भिक्षु सर्वसंगों से रहित होकर अपनी साधना के द्वारा आत्मा पर लगे हुए पूर्वबद्ध कर्म-मल को दूर कर उसे परिशुद्ध या अनावरण बना लेता है।

तात्पर्य यह है कि वह श्रमण तप, त्याग, संयम, परीषह आदि को अग्नि में तपकर अर्थात् स्वयं के कठोर परिश्रम से आत्मा को मुक्त कर 'श्रमण' नाम को सार्थक कर लेता है। वास्तव में, 'श्रमण' की आचार-साधना का लक्ष्य कर्म-पुद्गलों को आत्म तत्त्व से पृथक् करना और शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि करना ही है।

श्रमण के समग्र आचार को सुव्यवस्थित रूप देने हेतु उसके दो भाग किये जा सकते हैं—(१) सामान्य श्रमणाचार से सम्बन्धित विचार (२) और विशेष श्रमणाचार से सम्बन्धित विचार। वैसे सामान्य श्रमणाचार और विशेष श्रमणाचार दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। दोनों का आत्मशुद्धि हेतु ही प्रतिपादन किया गया है और दोनों का उद्देश्य मुक्ति-लाभ ही है। इस तरह दोनों एक दूसरे में अनुस्यूत हैं।

सामान्य श्रमणाचार :

जो आचार नियम श्रमण-श्रमणी के जीवन में नित्य प्रति आचरणीय होते हैं वह सामान्य श्रमणाचार है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सामान्य श्रमणाचार के अन्तर्गत निम्नोक्त पहलुओं पर प्रकाश डाला जायेगा—

- (१) पंचमहाव्रत (पाँच नैतिक नियम) एवं उनकी भावनाएँ
- (२) पाँच समितियाँ
- (३) त्रिगुप्ति
- (४) बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ)
- (५) दसविध यति धर्म (दस नैतिक सदगुण)
- (६) अवग्रह याचना (आज्ञा माँगने से सम्बन्धी) आचार
- (७) इन्द्रिय नय या निग्रह
- (८) पर क्रिया और अन्योन्य क्रिया सम्बन्धी आचार
- (९) चातुर्मास एवं मासकल्प ।

विशेष श्रमणाचार :

जो श्रमण-श्रमणी विशेष प्रसंगों पर अपने पूर्व संचित कर्मों की विशेष रूप से निर्जरा करने के लिए जिन आचार नियमों या साधनाओं का कड़ाई से पालन करते हैं, उन नियमों आदि को विशेष श्रमणाचार कहा जाता है यथा—कठोरतम तप, ध्यान, समाधि की साधना कष्टों को सहे बिना सम्भव नहीं है और घोर परीषहों पर विजय पाना सामान्य साधक के बलबूते की बात नहीं है। अतः इसे विशेष श्रमणाचार कहा गया है। इसी तरह विशेष अवसरों पर विविध प्रकार के अभिग्रहों के साथ तप का आसेवन करना भी विशेष साध्वाचार है। इसकी स्पष्ट झाँकी हमें आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के नवें अध्ययन में दृष्टिगोचर होती है। साधना को पूर्णतः सफल बनाने हेतु समाधिमरण (अनशन) रूप आचरण का पालन करना भी श्रमण की एक विशिष्ट चर्या है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से तीन बातों पर विचार किया जायगा—(१) तप (२) परीषह और (३) समाधि ।

पाँच महाव्रत और उनकी पञ्चोस भावनार्यैः :

व्रत (नियम)—श्रमणत्व की साधना में व्रत का अत्यधिक महत्त्व है। 'व्रत' त्याग का प्रतीक है, संयम का द्योतक है। जो मर्यादाएँ शाश्वत एवं सार्वभौम हैं और जिनसे स्व-पर का कल्याण होता है, वे व्रत या नियम कहे जाते हैं। सामान्यतया, व्रत-विहीन व्यक्ति की शक्तियाँ बिखर जाती हैं। अतः जीवन शक्ति को केन्द्रित तथा उचित दिशा में उपयोग करने के लिए व्रतों की महती आवश्यकता है।

आचार के आधारभूत स्तम्भ :

प्रायः प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अनेक छोटे-बड़े दोष रहते हैं किन्तु

२०६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

मूलभूत दोष पाँच हैं जो शेष समस्त पापों, दोषों या बुराइयों के जनक हैं। वे पाप पाँच हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह (संग्रह)। आत्मा को इन पाँच पापों से सर्वथा मुक्त करना ही श्रमण साधना का प्रमुख लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति व्रतों से ही सम्भव है। पात्र भेद की अपेक्षा से इनको दो भागों में बाँटा गया है—अणुव्रत और महाव्रत। अणुव्रत का अर्थ है जो गृहस्थ के लिए है और महाव्रत का अर्थ है संपूर्ण व्रत जो श्रमण-धर्म के लिए है। पाँच महाव्रतों का पालन साधु जीवन की प्रथम शर्त है। प्रव्रजित होने वाला श्रमण सर्वप्रथम इन पाँच महाव्रतों (नैतिक नियमों) को अंगीकार करता है। ये श्रमण आचार के आधारभूत स्तम्भ हैं।

पाँच महाव्रत (पाँच नैतिक नियम) :

आचारांग में पाँच महाव्रत एवं उनकी पच्चीस भावनाओं की विशद चर्चा है। इस सम्बन्ध में पाँचवें अध्याय में विवेचन किया जा चुका है, अतः यहाँ विस्तार में न जाकर उनका नाम निर्देशन कर देना ही पर्याप्त है।

- (१) जीवन पर्यन्त के लिए सर्व-प्राणातिपात-विरमण (अहिंसा-महाव्रत)।
- (२) जीवन पर्यन्त के लिए सर्व मृषावाद-विरमण (सत्यमहाव्रत)
- (३) जीवन पर्यन्त के लिए सर्व अदत्तादानविरमण (अस्तेय महाव्रत)
- (४) जीवन पर्यन्त के लिए सर्व मैथुन विरमण (ब्रह्मचर्य महाव्रत)
- (५) जीवनपर्यन्त के लिए सर्व-परिग्रह विरमण (अपरिग्रह महाव्रत)।^१

पच्चीस भावनायें :

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की तृतीय चूला में उक्त पाँच महाव्रतों की स्थिरता तथा विशुद्धि के लिए पच्चीस भावनाएँ बताई गई हैं। प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं, जो निम्नानुसार हैं—

- (१) गमनागमन सम्बन्धी सावधानी
- (२) मन की अपापकता
- (३) वाणी की अपापकता
- (४) आदान-निक्षेप सम्बन्धी सावधानी
- (५) आलोकित पान भोजन

ये पाँच भावनाएँ अहिंसा महाव्रत को सुदृढ़ करती हैं।

(२) सत्य महाव्रत की ५ भावनायें :

- (१) वाणी-विवेक
- (२) क्रोध-त्याग
- (३) लोभ-त्याग
- (४) भय-त्याग
- (५) हास्य त्याग

इनके पालन से सत्यमहाव्रत पूर्णतः सुरक्षित रहता है ।

(३) अस्तेय महाव्रत की ५ भावनायें :

- (१) सोच विचारपूर्वक मित्तावग्रह की याचना ।
- (२) अनुज्ञापित पान-भोजन ग्रहण करना ।
- (३) अवग्रह का अवधारण करना ।
- (४) अभीक्षण (पुनः पुनः) वस्तुओं की मर्यादा करना ।
- (५) साधार्मिक से परिमित पदार्थों की याचना करना ।

ये पाँच भावनाएँ अस्तेय महाव्रत की सुदृढता के लिए हैं ।

(५) ब्रह्मचर्य महाव्रत की ५ भावनायें :

- (१) स्त्री कथा का वर्जन
- (२) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के अवलोकन का वर्जन
- (३) पूर्वानुभूत काम-क्रीड़ा की स्मृति का निषेध
- (४) अति मात्रा और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
- (५) स्त्री, पशु आदि से संसक्त शय्यासन का वर्जन ।

इन पाँचों भावनाओं के पालन से ब्रह्मचर्य व्रत विशुद्ध रहता है ।

(५) अपरिग्रह महाव्रत :

- (१) मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द में राग-द्वेष नहीं करना (समभाव)
- (२) मनोज्ञ-अपनोज्ञ रूप में राग-द्वेष नहीं करना (समभाव)
- (३) मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध में राग-द्वेष नहीं करना (समभाव)
- (४) मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस में राग-द्वेष नहीं करना (समभाव)
- (५) मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श में राग-द्वेष नहीं करना (समभाव)*

उपर्युक्त ५ भावनाएँ अपरिग्रह महाव्रत की सुरक्षा के लिए बताई गई हैं । समवायांग^१ और प्रश्न व्याकरण^२ में भी महाव्रतों की २५ भावनाओं का वर्णन मिलता है ।

पांच समितियां :

अर्थ—‘समिति’ शब्द के लिए आचारांग में समिए ‘या’ समिअे शब्द का प्रयोग हुआ है। ‘समिअ’ शब्द ‘सम्’ उपसर्ग पूर्वक ‘इण्’ गतो धातु से बना है। सम् का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से और इण का अर्थ गति या प्रवृत्ति है। अतः ‘समिति’ का अर्थ हुआ—‘सम्यग् इति प्रवृत्तीति समितिः’ अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। इस प्रकार आचारांग में समिए ‘या समिअ’ पद का प्रयोग सम्यक् प्रकार से गति या प्रवृत्ति करने के अर्थ में हुआ है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ अच्छी तरह से जाना या प्रवृत्ति करना होता है। सच्चा श्रमण समिति के पालन करने में अन्तर्मुखी हो जाता है। वह समिति, गुप्ति, संयम, तप, संवर आदि के सेवन से मुक्त होकर आत्मा को भावित करता हुआ विचरता है। ये समितियाँ महाव्रतों की रक्षा एवं पालन में सहायक होने से श्रमणाचार का आवश्यक अंग मानी गई हैं। अहिंसा व्रत की ५ भावनाओं के अन्तर्गत भी समितियों का विवेचन किया गया है।^{१०} इस प्रकार समितियाँ ५ हैं—ईर्यासमिति, भाषा-समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति और परिष्ठापनिका समिति।

(१) ईर्या समिति :

ईर्या समिति का सम्बन्ध गति या गमनागमन से है। ईर्या का अर्थ है—चलना। अतः चलने फिरने में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना ही ईर्यासमिति है। श्रमण को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने-आने की आवश्यकता पड़ने पर जीवों की रक्षा करते हुए विवेकपूर्वक गमन करना चाहिए। आचारांग में कहा गया है कि ईर्या समिति से युक्त सच्चा निर्ग्रन्थ ही मुनि है। विवेक या सावधानी पूर्वक गमन करने वाला मुनि पापकर्म का बन्धन नहीं करता।^{११} बौद्ध परम्परा में भी एतद् विषयक विवेचन मिलता है। बौद्ध भिक्षु भी अपनी परम्परा के नियमों के अनुसार चलता है।

श्रमण-श्रमणी को साधनामय जीवन में ग्रामानुग्राम विहार करना पड़ता है। इसी कसौटी पर उनका व्यक्तित्व निखरता है। वह आठ महीने निरन्तर पाद-विहार करता है और चार महीने एक स्थान पर स्थिर वास करता है। मुनि आठ महीनों में स्व-कल्याण करते हुए अपने सदुपदेशों से लोगों को चारित्रिक विकास की शिक्षा देते हुए पद-यात्रा करता रहता है। आचारांग में ईर्या समिति से सम्बन्धित अनेक नियम प्रस्तुत किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

मुनि कैसे चले :

(१) श्रमण-श्रमणी विवेकपूर्वक चित्त को गति में एकाग्र कर, पथ पर दृष्टि टिका कर चले। जीव-जन्तु को देखकर, पैर को संकुचित करके और मार्ग में आने वाले प्राणियों को देखकर चले। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचारांग में जो ईर्या समिति विषयक चर्या वर्णित है उसे दृष्टि-गत रखते हुए द्वितीय श्रुतस्कंध में 'ईर्येषणा' नामक अध्ययन का विस्तार से विवेचन किया गया है तथा गामाणुगामदुइज्जमाणस्स—इस सूत्र में द्वितीय श्रुतस्कंध के सम्पूर्ण ईर्या अध्ययन का मूल विद्यमान है।

(२) द्वितीय श्रुतस्कंध में वर्णन है कि मुनि को यतनापूर्वक नीचे दृष्टि रखकर आगे चार हाथ भूमि देखते हुए चलना चाहिए। चलते हुए पैर के नीचे कोई जीव जन्तु दिखाई दे तो पैर को ऊँचा रखकर चलना चाहिए, संकुचित कर चलना चाहिए, टेढ़ा रखकर चलना चाहिए। यदि अन्य साफ मार्ग हो तो उस मार्ग से जाना चाहिए। किन्तु जीवयुक्त सीधे मार्ग पर नहीं चलना चाहिए। यदि छोटे रास्तों में बीज, हरियाली, जल, मिट्टी एवं क्षुद्र जन्तु अधिक हों तो साधु को उस सीधे और छोटे मार्ग को छोड़कर लम्बे रास्ते से ही विहार करना चाहिए। यदि अन्य मार्ग न हो तो विवेकपूर्वक उस रास्ते से विहार करे जिससे जीवों को कोई कष्ट न पहुँचे।^{१२}

कब विहार न करे :

(१) ईर्यापथ के नियमों के अनुसार वर्षा ऋतु में मार्ग में जीव-जन्तु, हरियाली उत्पन्न हो गई हो तो मुनि वर्षाकाल (चातुर्मास) पर्यन्त प्रवास न करे। एक ही स्थान पर ठहरे।

(२) वर्षा ऋतु बीत जाने पर मार्ग-निर्दोष हो जाने पर मुनि को तत्काल विहार कर देना चाहिए किन्तु वर्षाऋतु के पश्चात् यदि पुनः वर्षा हो जाए और उसके कारण मार्ग में जीव-विराधना की सम्भावना हो तो विहार नहीं करना चाहिए।^{१३}

किन प्रवेशों में न जाए :

(१) अन्य मार्ग के होते हुए मुनि को दो-चार या पाँच दिन में उल्लंघन करने योग्य लम्बी अटवी के मार्ग से भी नहीं जाना चाहिए।

(२) जहाँ चोर, म्लेच्छ, अनार्य लोग रहते हों, उन क्षेत्रों में विहार न करे।

२१० : आचाराङ्ग का नोतिशास्त्रोय अध्ययन

इसी तरह राजा से रहित राज्य, गणराज्य, अल्पवयस्कराज्य, द्विराज्य एवं अशांतियुक्त राज्यों की ओर भी मुनि विहार न करे।^{१४}

मार्ग में नदी पड़ने पर :

विहार करते हुए यदि मार्ग में नदी पड़ जाय तो नौका के बिना पार न कर सकने की स्थिति में भिक्षु नौका का उपयोग कर सकता है। इस विषय में कुछ निर्देश इस प्रकार हैं—

(१) जो साधु के निमित्त मूल्य से खरीदी गई हो, (२) उधार ली गई हो, (३) परस्पर अदला-बदली की गई हो, (४) यदि साधु के उद्देश्य से नाविक नौका को जल से स्थल में, और स्थल से जल में लाता हो अथवा जल से परिपूर्ण नौका को खाली करके या कीचड़ में फँसी हुई नौका को बाहर निकाल कर लाता हो तो ऐसी नौका में मुनि न बैठे। (५) अधोगामिनी और उर्ध्वगामिनी नौका पर सवार होकर नदी पार न करे। केवल तिर्यग्गामिनी नौका से नदी पार करे। (६) नौका में आरूढ़ हो जाने के बाद यदि नाविक साधु को नौका खींचने, बाँधने, चलाने अथवा छत्रादि को ग्रहण करने या बालक को पानी पिलाने आदि का कोई भी कार्य करने के लिये कहे तो ऐसे कार्यों को नाविक के आदेशानुसार नहीं करना चाहिए किन्तु उस समय मौन वृत्ति धारण कर आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। (७) नौका में छिद्र द्वारा जल भरता हुआ देखकर भी किसी से नहीं कहना चाहिए। ऐसी स्थिति में शरीर उपकरणादि के प्रति निर्ममत्व रखना चाहिए, अनासक्त, प्रशस्तलेश्यायुक्त तथा आत्माराधना में समाहित होकर विचरण करना चाहिये। इस तरह ईर्यासमिति का पालन करते हुए श्रमण-आचार का पालन करना चाहिए।^{१५}

मुनि को एकान्त में जाकर भाण्डोपकरण का प्रतिलेखन करना चाहिए, तत्पश्चात् सारे शरीर की प्रतिलेखना व प्रमार्जना करना चाहिए और सागारी भक्त-पान का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हुआ एक पैर जल में और एक पैर स्थल पर रखकर विवेकपूर्वक नौका पर चढ़ना चाहिए। तथा नौका पर चढ़ते हुए नौका के आगे-पीछे या मध्य में नहीं बैठना चाहिए। अंगुली द्वारा उद्देश्य (स्पर्श) कर तथा अंगुली ऊँची करके जल को नहीं देखना चाहिए।^{१६}

नाविक के आदेशानुसार कार्य न करने पर लोग मुनि को पकड़कर नदी में फेंकने लगे तो मुनि उनसे कहे कि आप जबरदस्ती मत फेंकिये।

में स्वयं ही जल में प्रविष्ट हो जाऊँगा। फिर भी यदि लोग या नाविक उसे पकड़ कर फेंक दें तो भिक्षु को हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए। न उनके घात-विघात की बात सोचनी चाहिए और न उनसे किसी तरह का प्रतिशोध लेने की भावना ही रखनी चाहिये। वह राग-द्वेष के द्वन्द्व से परे होकर समाधिपूर्वक जल में प्रवेश कर जाए। तदनन्तर अप-कायिक जीवों की रक्षा की भावना से नदी में बहता हुआ अपने हाथ पैर या शरीर का परस्पर स्पर्श न करे और न अपने कान, नाक, आँख आदि में भरते हुए पानी को ही निकाले। शान्ति से बहता हुआ नदी के तट पर पहुँच कर बाहर निकल जाए और तब तक वहाँ स्थिर होकर खड़ा रहे जब तक कि उसका शरीर व उपधि सूख जाए। उनके सूख जाने पर वहाँ से यतनापूर्वक अन्यत्र विहार करे। यही अहिंसक साधु की साधना का उज्ज्वल स्वरूप है।^{१०}

कैसे गमन न करे :

मुनि रास्ते में दूसरे लोगों से वार्तालाप करते हुए विहार या गमन न करे। ईर्यासमिति पूर्वक विहार करे अन्यथा मार्ग में बातचीत करने पर जीव रक्षा नहीं हो सकेगी।^{१८}

विहार करते हुए यदि रास्ते में जंघा प्रमाणवाली नदी आ जाए और उसके अतिरिक्त जाने का अन्य उपाय न हो तो उसे पार करने के लिए मुनि पहले समूचे शरीर का प्रतिलेखन करे। तदन्तर विवेकपूर्वक एक पैर जल में और एक पैर स्थल में रखता हुआ नदी पार करे। जल में चलते हुए मुनि को हाथ-पैर-शरीर आदि का परस्पर स्पर्श भी नहीं करना चाहिए। उसके बाद जब पूरा शरीर सूख जाए तब शरीर का प्रमाज्जन कर यतनापूर्वक गमन करना चाहिए।^{१९}

नदी पार करने के बाद मुनि विहार करते हुए मिट्टी, कीचड़ आदि से सने हुए अपने पैरों को हरी वनस्पति, घास आदि से साफ न करे अथवा हरे पत्तों को एकत्र कर उनसे मसल कर मिट्टी को न उतारे और न हरी वनस्पति को कुचलता हुआ चले। 'हरियाली पर चलने से मेरे पैर स्वतः ही साफ हो जाएँगे' इस भावना से हरियाली का स्पर्श न करे। ऐसा करने से पाप बन्ध होता है। अतः उसे हरियाली से रहित मार्ग को देखकर यतनापूर्वक गमन करना चाहिए।^{२०}

यदि अन्य मार्ग हो तो मुनि को खाई, कोट, तोरण अर्गला, गड्डे, गुफाएँ आदि ऐसे विषम रास्ते से भी विहार नहीं करना चाहिए। क्योंकि

२१२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

ऐसा मार्ग दोषयुक्त होता है तथा जिस मार्ग में धान्य, शकट, रथ या सेना का पड़ाव हो अथवा सैनिक लोग घूम रहे हों तो उस रास्ते से मुनि विहार न करे। क्योंकि उस मार्ग से जाने पर वे लोग साधु को गुप्तचर समझ कर विविध प्रकार से कष्ट दे सकते हैं। अन्य मार्ग न हो तो उस मार्ग से जाने पर यदि सैनिक लोग साधु को पकड़ कर कष्ट दें, भुजाओं को पकड़कर खींचे, तब भी उसे प्रसन्न व रुष्ट नहीं होना चाहिए अपितु ऐसे विकट समय में समभावपूर्वक कष्टों को सहना चाहिए।^{२१}

विहार करते हुए यदि मार्ग में खेत की क्यारियाँ, गुफाएँ, महल, पर्वत के ऊपर बने हुए घर, तलघर, व्यन्तर के स्थान, लोहकारशाला, नदी के समीपस्थ निम्न प्रदेश, अटवी के विषम स्थान, कूप-तालाब, झीलें, नदियाँ, गहरे जलाशय आदि तथा ऐसे ही अन्य प्रकार के स्थान आ जाएँ तो उन्हें अँगुली के निर्देश द्वारा या शरीर को ऊँचा-नीचा करके नहीं देखना चाहिए क्योंकि इससे राग-भाव बढ़ता है, कौतूहल बढ़ता है, मन सांसारिकता की ओर झुकता है।

गुरु के साथ चलने की विधि :

गुरु के हाथ, पैर आदि से अपने हाथ, पैर आदि का स्पर्श करते हुए न चले, किसी तरह की आशातना करते हुए न चले। यदि मार्ग में कोई व्यक्ति मिल जाए और पूछे कि आप कौन हैं, कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं तो गुरु के रहते हुए उसे बीच में नहीं बोलना चाहिए। उसे तो ईर्या समिति का पालन करते हुए उनके साथ विहार-चर्या में प्रवृत्त रहना चाहिए।^{२२}

विहार-मार्ग में निर्भीकता :

विहार करते हुए मार्ग में मुनि को मदोन्मत्त बैल, शेर, चीता, साँप आदि हिंसक जन्तुओं का साक्षात्कार हो जाए तो उन्हें देखकर भयभीत नहीं होना चाहिये और न इधर-उधर उन्मार्ग पर जाना चाहिये, न वृक्ष पर चढ़ना चाहिये, न विस्तृत एवं गहरे जल में प्रवेश करना चाहिये और न किसी सेना या अन्य साथियों का आश्रय ही ढूँढ़ना चाहिये अपितु निर्द्वन्द्व भाव से समाधिपूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहना चाहिये। यह भी कहा है कि यदि रास्ते में चोर एकत्र होकर आ जाएँ तो साधु उनसे भयभीत न हो तथा उनसे भयभीत होकर मार्ग छोड़कर इधर-उधर न जाय। समाधिपूर्वक विहार-चर्या में प्रवृत्त रहे। कोई भी किसी तरह का कष्ट दे तो भी मुनि मन-वचन और काया से उनसे प्रतिशोध लेने की

भावना न रखे। इसी तरह चोर के वस्त्र-पात्रादि छीन लेने, फोड़ देने, या उनके द्वारा मार-पीट करने पर भी मुनि समाधि भाव न छोड़े और गाँव में पहुँचने पर भी उनके सम्बन्ध में किसी से कुछ भी न कहे, यही श्रमण का समग्र आचार है।^{२३} साधक कभी भयग्रस्त नहीं होता। भय तो उसी के मन में पनपता है, जिसकी साधना या अहिंसा में अभी पूर्णता नहीं आई है। जितने-जितने अंश में जीवन में अहिंसा (नैतिक साधना) का विकास होता जाता है, उतने अंश में भय दूर होता जाता है और जब जीवन में अहिंसा ओत-प्रोत हो जाती है तो भय पूर्णतः मिट जाता है। इस प्रकार श्रमण को ईर्यासमिति सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचना में अहिंसा की भावना सन्निहित है। वैदिक^{२४} एवं बौद्ध परम्परा^{२५} में भी भिक्षुओं के प्रवास के सम्बन्ध में इसी तरह चलने का विधान पाया जाता है।

(२) भाषा समिति :

भाषा चार प्रकार की होती है—सत्यभाषा, असत्यभाषा, मिश्र-भाषा और असत्यामृषा या व्यवहार भाषा। असत्य और मिश्रभाषा का त्याग कर सत्य और असत्यामृषा (व्यवहार भाषा) भाषा को विशुद्ध रूप से बोलना भाषा समिति है अर्थात् पापमय और सावद्य वचन का त्याग कर संयत, प्रिय और पापरहित वाणी का प्रयोग करना ही भाषा समिति है। सावद्य व सदोष वचन बोलने वाला निर्ग्रन्थ नहीं है। सदोष भाषा का परित्यागी व्यक्ति हो मुनि कहा जाता है, क्योंकि सदोष संभाषण से जीव-हिंसा होती है। अतः श्रमण को बोलते समय भाषा के सभी दोषों का परित्याग कर विवेकपूर्ण वाणी का व्यवहार करना चाहिए।^{२६}

प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकतानुसार अपने विचारों या भावों को भाषा द्वारा व्यक्त करता है। आचारांग में श्रमण-श्रमणी के लिए सम्भाषण की विधि-निषेध रूप अनेक मर्यादाएँ निरूपित हैं। श्रमण को कैसी भाषा बोलनी चाहिए? कैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए आदि बातों पर यहाँ विचार कर लेना उचित है। आचारांग के 'आइक्खे विमए क्किट्टे वियवी' तथा 'अणुवीय भिक्खू धम्ममाइक्खमान' सूत्र के आधार पर द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भाषैषणा नामक अध्ययन में विस्तार से विवेचन किया गया है।

आचारांग के अनुसार मुनि को शब्दों तथा भावों का ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह बोलते समय भावों को स्पष्ट एवं शुद्ध रूप से व्यक्त कर सके। वचन, विभक्ति-लिंग आदि व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान भी आवश्यक है।

श्रमण-श्रमणी को ऐसी भाषा बोलना निषिद्ध है—

(१) क्रोध-मान-माया और लोभ के वशीभूत होकर किसी के मर्म को भेदने वाली कठोर एवं सावद्यभाषा ।

(२) निश्चयात्मक भाषा यथा—कल अवश्य वर्षा होगी अथवा नहीं होगी, भिक्षार्थ गया हुआ साधु भिक्षा लेकर आयेगा अथवा नहीं आयेगा आदि । इसी तरह वचन, लिंग और काल सम्बन्धी वचन आदि को भलीभाँति जानकर सम्भाषण करे । जिस विषय में जब तक वस्तु तत्त्व का पूर्णतया निर्णय न हो जाए तब तक वह निश्चयात्मक एवं असंदिग्ध भाषा का प्रयोग न करे क्योंकि परिस्थितिवश वह कार्य उस रूप में नहीं हुआ तो सत्य महाव्रत में दोष लगेगा ।^{२७} मुनि को शास्त्र-विरुद्ध अयथार्थ भाषा का कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिए । यथा—आकाश, बादल, बिजली आदि को देव कहकर सम्बोधित नहीं करना चाहिए ।^{२८}

भाषा के उक्त चार प्रकारों में से असत्य और मिश्रवचन का बिल्कुल प्रयोग न किया जाय । केवल सत्य और व्यवहार वचन ही साधक के लिए उपयुक्त हैं । यदि सत्य वचन भी सावद्य, कठोर, कर्कश, निष्ठुर, कर्म-बन्धकारी, छेदन-भेदन, परिताप एवं उपद्रवकारी, जीवोपघातक हो तो मुनि को कदापि नहीं बोलना चाहिए ।^{२९} विवेकपूर्ण निर्दोष वचन ही बोलना चाहिए अन्यथा मौन रहना चाहिए ।

किसी पुरुष अथवा स्त्री को बुलाते समय उनके नहीं सुनने पर उन्हें हे गोलक ! हे मूर्ख ! हे कपटो ! हे मृषावादो ! आदि अपमानपूर्ण, तुच्छ सम्बोधन नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसी भाषा बोलने से सुनने वालों को ठेस लगती है, आघात लगता है । यदि कभी किसी को बुलाना आवश्यक हो तो उसे—हे आयुष्मन् ! हे उपासक ! हे धर्मप्रिय ! इत्यादि मधुर और प्रिय शब्दों का सम्बोधन करना चाहिए ।^{३०}

यदि कोई व्यक्ति कठिन रोग से पीड़ित हो अथवा जिनके हाथ-पैर, कान, नाक आदि अवयव कटे हुए हों, खण्डित हों, गलित हों तो संयम-शील मुनि उनके प्रति मर्मभेदी चुभनेवाली भाषा का प्रयोग न करे । यथा—हे गंडी ! हे कुष्ठी ! हे मधुमेही ! आदि उनका नाम लेकर बुलाने से उनके मन में आघात पहुँचता है । वे क्रुद्ध भी हो सकते हैं । अतः भाषा समिति के साधक को ऐसी भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिए । परन्तु यदि किसी व्यक्ति में कोई विशिष्ट गुण हो तो मुनि उसे उस गुण से यथा—हे तेजस्वी ! हे ओजस्वी ! हे यशस्वी ! इत्यादि सम्बोधनों से पुकार सकता है ।^{३१}

साधु प्राणि-मात्र के प्रति दयाशील होता है। अतः बोलते समय उसे उनके हितों का ध्यान रखना चाहिए। किसी गाय, भैंस, हरिण, पशु-पक्षी, जलचर तथा पेड़-पौधे, वृक्ष-बगीचे, फल-फूल, वनस्पति और औषधि को देखकर ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे उन जीवों को किसी तरह का कष्ट पहुँचे, उनका छेदन-भेदन हो या उनकी हिंसा हो। यथा—यह फल तोड़ने और खाने योग्य है, यह औषधि काटने योग्य है, यह बैल युवा है, यह वहन करने योग्य है, यह पुष्ट शरीर वाला है, दृढ़ संहनन वाला है, यह गाय प्रौढ़ है, दोहने योग्य है, वृक्ष काटने योग्य है। इस वृक्ष की लकड़ी स्तम्भ, महल, तोरण, अर्गला-नोका आदि बनाने योग्य है, मुनि को ऐसी राग-द्वेष पूर्ण भाषा का प्रयोग न करके सदैव हितकारी, आदरपूर्ण भाषा का प्रयोग करना चाहिए।^{३२}

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सव्वामगंध परिणायनिराम गन्धो परिव्वए,^{३३} तथा 'तत्थियराइयरेहि कुलेहि सुद्धेसणाए सव्वेसणाए,^{३४} 'आदिससमाणे कयविककएसु'^{३५} सूत्रों में तथा 'सेभिकखू परिव्वकमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा'^{३६} सूत्र में निर्दिष्ट भिक्षाचार्या को मूलभूत आधार मानते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पिण्डैषणा अध्ययन का विस्तार से विचार किया गया है। इसी तरह 'वत्थं पडिग्गहं, कंबलं पायपुच्छणं ओग्गहं च'^{३७} तथा 'सेभिकखू परिव्वकमेज्ज— — — — से^{३८} अहेसाणज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा,^{३९} आदि सूत्रों में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सम्पूर्ण वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, अवग्रह प्रतिमा, शय्यैषणा अध्ययन का मूल विद्यमान है।

मुनि को यह नहीं कहना चाहिए कि यह आहार अच्छा बना है। यह कल्याणकारी और अवश्यकरणीय है। यदि कुछ कहना पड़े तो इतना ही कहे कि यह आरम्भ से बना है। यह सावद्य-कार्य है। यह वर्णादि से युक्त है। इसी तरह शब्द-रूपादि को भी अच्छा बुरा नहीं कहना चाहिए अपितु इनके विषय में निर्दोष एवं यथार्थ ही बोले।^{४०}

कषायपूर्ण या अविवेकपूर्ण एवं शीघ्रता में असत्य-भाषण का होना सम्भव है अतः संयमनिष्ठ मुनि को क्रोध-मान, माया और लोभ का त्याग करके सोच-विचार कर धीरे-धीरे बोलना चाहिए। इस तरह एकान्त निरवद्य, हित-मित्त, असदिग्ध, संयत एवं यथार्थ भाषा का व्यवहार करना चाहिए। यही मुनि का भाषा समिति के रूप में सम्यक् आचार है।^{४१}

२१६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

(३) एषणा समिति :

एषणा का अर्थ है खोज या गवेषणा । इस प्रकार गवेषणा, ग्रहण-एषणा और ग्रासैषणा सम्बन्धी आहार के ४७ दोषों का परित्याग कर सावधानीपूर्वक निर्दोष एवं प्रासुक आहारादि ग्रहण करना एषणा समिति है । अतः श्रमण-श्रमणी को अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये एषणा सम्बन्धी दोषों से बचना चाहिये ।

आध्यात्मिक सिद्धि के लिये शरीर प्रमुख साधन है और शरीर को स्वस्थ एवं साधना के लिये सक्षम रखने के लिये आहार का स्थान महत्त्वपूर्ण है । संयम साधना के लिये आहार अनिवार्य है । आचारांग में श्रमण-श्रमणी जीवन के लिये संयमित विहार के साथ ही शुद्ध, सात्विक एवं परिमित आहार का विशेष विधान किया गया है । अशुद्ध, तामसिक एवं सदोष आहार मानसिक विकृति पैदा करता है । आचारांग में इसी-लिए श्रमण-श्रमणी के लिए सदोष, स्वादिष्ट (गरिष्ठ) आहार ग्रहण करने का स्पष्ट शब्दों में निषेध है । उपनिषदों में कहा है कि आहार-शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः ।^{४२} आहार की शुद्धि से सत्व शुद्धि होती है । सत्व की शुद्धि से बुद्धि निर्मल बनती है, स्मृति ताजा बनी रहती है और स्मृति के लाभ से मनुष्य की सब ग्रंथियाँ खुल जाती हैं ।

धर्माचरण एवं तप-संयम की आराधना के लिये शारीरिक स्थिति होनी चाहिए । परन्तु इस सन्दर्भ में आचारांग एक महत्त्वपूर्ण बात कहता है कि निर्दोष एवं एषणीय भोजन भी स्वाद (रस) लोलुपता की वृद्धि के लिये नहीं होना चाहिए । सूत्रकार कहता है कि श्रमण-श्रमणी आहार करते समय स्वाद-लोलुपता से ग्रास को बाँँ जबड़े (कपोल) से दाहिने जबड़े में न ले जाये । इसी तरह स्वाद लेते हुए उसे दाहिने जबड़े से बाँँ जबड़े में न ले जाये अपितु अस्वाद-वृत्ति से आहार ग्रहण करे ।^{४३}

आहार की भाँँति ही वस्त्र-पात्र, आवासादि की गवेषणा करते समय भी उदगमादि एषणा-सम्बन्धी सभी दोषों को टालने का विधान है । इन पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है ।

सदोष आहार :

(१) द्वीन्द्रियादि प्राणियों से संसक्त, शालि-चावल, बीज, हरी सब्जी से युक्त मिश्रित अथवा सचित्त जल से गीला, सचित्त मिट्टी से अवगुठित अशनादि आहार ।

(२) साधु के निमित्त से जीवहिंसा करके बनाया गया, खरीदा गया, उधार लिया गया, छीनकर लिया गया, सामने से लाया गया तथा स्वामी की आज्ञा के बिना दिया जा रहा, ऐसा चतुर्विध आहार पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत। उसमें से किसी दूसरे ने स्वीकार किया हो या नहीं किया हो, खाया हो या नहीं खाया हो ऐसा अनेषणीय आहार। इसी तरह एक या अनेक साधु-साध्वियों के लिए बनाया हुआ आहार भी ग्राह्य नहीं है।^{४४} शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, भिखारी आदि के उद्देश्य से समारम्भ कर बनाया गया आहार भी अग्राह्य है^{४५} जब तक कि वह पुरुषान्तरकृत नहीं हुआ है या उपयोग में नहीं ले लिया गया है, किन्तु दोषों से रहित आहार मुनि ले सकता है।^{४६} इस नियम के द्वारा अन्य भिक्षुओं, श्रमणों को हानि नहीं पहुँचाने की भावना व्यक्त होती है। इसी तरह जो अशनादि आहार भाट आदि के लिये बनाया गया है किन्तु अभी तक उनको सौंपा नहीं गया है, ऐसा आहार भी ग्राह्य नहीं है।^{४७}

(३) सचित्तजल या थोड़े उष्ण जल से हाथ, बर्तन आदि को धोकर दिया जाने वाला आहार।

(४) यदि गृहस्थ ने भिक्षा देने हेतु हाथ आदि नहीं धोए हैं किन्तु अपने कार्यवश धोए हैं फिर भी गोले हाथ या पात्र से दिया जाने वाला आहार।

(५) इसी प्रकार सचित्त रज और मिट्टी, खारी और पीली मिट्टी, खड़िया, हरताल, शिगरफ, मनःशिला, अंजन, लवण, गेरू, तुवरिका, पिष्ट-विना छना चूर्ण, कुक्कुस चूर्ण के छान से, पीलू पर्णिका आदि आर्द्र पत्तों के चूर्ण आदि से संसक्त हाथों या भाजन से दिया जाने वाला आहार। यदि हाथ या बर्तन सचित्त पदार्थों से संस्पृष्ट नहीं है तो मुनि ऐसा निर्दोष आहार ग्रहण कर सकता है।^{४८}

सचित्त रज से युक्त चावल आदि अनाज के दानों को साधु को देने के उद्देश्य से सचित्त-शिला या मकड़ी के जालों से युक्त शिला पर पीसकर या वायु में झटककर देने पर भी ग्रहण न करे।^{४९} इसी भाँति बौड (खान) एवं समुद्री नमक को भी ग्रहण न करे।^{५०} संखडि (सामूहिक भोज) का आहार भी न ले।

(६) इसी तरह भीति पर, स्तम्भ पर, मंच पर, छत पर, प्रासाद पर या किसी अन्य ऊँचे स्थान पर रखा हुआ आधार यदि नीचे उतार दिया

२१८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

गया हो। क्योंकि ऐसे ऊँचे या विषम स्थान पर रखे हुए आहारादि को चौकी, फलक, पट्टा, सीढ़ी पर चढ़कर उतारते समय गृहस्थ का पैर फिसल जाए, गिर पड़े तो उससे उसके शरीर का कोई भी अवयव टूट सकता है और उसके गिरने से अन्य त्रस या स्थावर जीवों की विराधना सम्भव है। अतः मालाहृत (ऊँचे स्थान से उतार कर दिया जाने वाला) आहार मुनि ग्रहण न करे। मिट्टी या बाँस की कोटी से नीचा, कुबड़ा या तिरछा होकर निकाल कर दिया गया आहार भी अग्राह्य है।^{११}

मिट्टी से लीपकर बन्द किए हुए बर्तन में रखा हुआ आहार अग्राह्य है। क्योंकि इससे पृथ्वीकाय की एवं उसके साथ ही अप् (जल), तेज (अग्नि), वायु, वनस्पति और त्रसकाय जीवों की हिंसा होती है और अवशिष्ट पदार्थों की सुरक्षा के लिए पुनः उस बर्तन को मिट्टी के लेप से बन्द करने पर पश्चात् कर्म दोष भी लगता है। सचित्त मिट्टी पर रखा हुआ आहार भी अग्राह्य है।^{१२} इसी तरह अपकाय पर रखा हुआ आहार भी अकल्प्य है।

अग्नि पर रखे हुए भाजन से निकाल कर देने पर, आग पर रखे हुए उबलते हुए दूध आदि को जल के छोटों से ठंडा कर देने पर, अग्नि पर रखे हुए बर्तन को नीचे उतार कर देने पर या उसे टेढ़ा करके देने पर या भिक्षु के निमित्त आग में ईंधन डालकर या ईंधन बुझा दिया जाने वाला आहार।

अति उष्ण अशनादि आहार को शूर्प से, ताड़ पत्र से, शाखा और मयूरपिच्छ से वस्त्र या वस्त्र खण्ड से, हाथ या मुख से अथवा पंखा आदि से ठण्डा करके देने पर दिया जाने वाला आहार।^{१३}

वनस्पति और द्वोन्द्रियादि त्रसकाय पर रखा हुआ आहार या जिस पर वनस्पति आदि रखी हो वह आहार।^{१४}

इसी तरह जिस आहार में खाने योग्य अंश कम हों और फेंकने योग्य भाग अधिक हो और गूदा कम हो वह आहार भी अग्राह्य है। यदि शीघ्रतावश गृहस्थ ने पात्र में डाल दिया हो तो मुनि उसे भला-बुरा न कहे अपितु एकान्त स्थान में जाकर खाने योग्य भाग खा ले और शेष भाग अचित्त—निर्दोष स्थान पर सावधानीपूर्वक प्रतिष्ठापित कर दे।^{१५}

आहार की ग्राह्यता-अग्राह्यता :

शाली, यव, गेहूँ आदि धान्य, तुषबहुल धान्य अथवा सचित्त रजयुक्त

धान्य, अग्नि द्वारा पक्व एवं अर्धपक्वधान्य, चूर्ण एवं कणयुक्त, एक बार भुना हुआ आहारादि ग्रहण न करे, किन्तु शाली आदि धान्य और उनका चूर्ण निर्दोष हो, दो-तीन बार भुन लिया गया हो तो ऐसा निर्दोष एवं एषणीय आहार मुनि ग्रहण कर सकता है।^{५८}

वनस्पति-पत्र, पुष्प एवं फल की अग्राह्यता :

पिप्पली, मिरच आदि विभिन्न प्रकार के चूर्ण, आम्रफल, अम्बा-डगफल, ताड़फल, लताफल, सुरभिफल आदि पीपलवृक्ष के पत्ते, वटवृक्ष के पत्ते, पिप्परी वृक्ष के पत्ते, नन्दीवृक्ष के पत्ते आदि, तथा आम्रवृक्ष का कोमल फल, कपित्थ का सुकोमल फल, अनार का सुकोमल फल, बिल्व का सुकोमल फल, इसी तरह न्यग्रोध फल का चूर्ण, उदुम्बर फल का चूर्ण, वटवृक्ष के फल का चूर्ण, अश्वत्थ (पीपल) का चूर्ण तथा इसी प्रकार अन्य चूर्ण जो कि कच्चा और शस्त्र परिणत नहीं हुआ है, ऐसा आहार अग्राह्य है।^{५९}

इसी तरह इक्षुखण्ड, कसेरू, सिंघाड़ा, उत्पल (कमल), कमल की डंडी, कमल का मूल, कमल का केसर आदि तथा अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्ध बीज, पर्वबीज, अग्रजात, मूलजात, पर्वजात और नारियल, खजूर व ताड़ का मध्य भाग, इक्षु, साच्छिद्र इक्षु तथा जिसका वर्ण बदल गया हो, त्वचा फट गई हो, श्याल आदि द्वारा मक्षित फल, आस्तिक नाम वृक्ष विशेष का फल, तिन्दुक, बिल्व और श्रोपर्णी आदि के फल जो कि कुम्भी (गर्त) में रखकर धुएँ आदि से पकाए गए हों, तथा शल्यादि के कण, कणमिश्रित रोटी, चावल, चावल का आटा, तिल, तिल-पर्पटिका और भी इसी तरह के अन्य पदार्थ व वनस्पति जो कि सचित है, अपक्व है तथा शस्त्र परिणत नहीं हुआ है ऐसा आहार भी अग्राह्य है।^{६०} यही बात औषधि पर भी लागू होती है। उक्त दोनों से रहित औषधि ग्राह्य है।^{६१}

भिक्षा हेतु गमन :

भिक्षा हेतु मुनि अन्य मत के साधुओं, पार्श्वस्थ साधुओं एवं गृहस्थ याचकों के साथ किसी के घर में प्रवेश न करे और उनके साथ निकले भी नहीं। इसी तरह शौच-स्वाध्याय एवं विहार में भी इनके साथ न जावे। अर्थात् मुनि को संयम-साधना की शुद्धि के लिए स्वतंत्र रूप से जाना चाहिए।^{६०}

मुनि अपने द्वारा लाया हुआ अशनादि आहार अन्य तीर्थी साधुओं को न तो स्वयं दे और न किसी से दिलवावे, अर्थात् उनके साथ आहारादि का व्यवहार न करे।^{११}

भिक्षा के लिये अयोग्य कुल :

जहाँ नित्यपिण्ड, अग्रपिण्ड, नित्य भाग या नित्य चतुर्थ भाग दिया जाता है, उन कुलों में साधु-साध्वी को भिक्षा हेतु नहीं जाना चाहिए। इसी तरह क्षत्रिय कुलों में, उनसे भिन्न राजकुलों में, एकदेशवामी राजाओं के कुलों में, राज प्रवेश दण्डपाशिक कुलों में और राजवंशस्थ कुलों में निमंत्रण करने पर या नहीं करने पर भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए।^{१२}

भिक्षा के लिये योग्य कुल :

साधु-साध्वी को उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकु कुल, हरिवंशकुल, गोपालादि कुल, वैश्यकुल, नापितकुल, वद्धकीं (बड़ई) कुल, ग्रामरक्षककुल, तन्तुवायकुल तथा इसी प्रकार के और भी अनिन्दित एवं अगर्हित कुलों में भिक्षा हेतु जाना चाहिए।^{१३}

गृहस्थ के घर भिक्षा हेतु न जाने के अवसर :

अष्टमी के पौषधव्रत के महोत्सव एवं अर्द्धमासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंच एवं षट्मासिक महोत्सव, ऋतु, ऋतु सम्बन्धी एवं ऋतु परिवर्तन महोत्सव हों और वहाँ बहुत से शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, अतिथि आदि को अशनादि चतुर्विध भोजन कराया जा रहा हो—ऐसे प्रसंगों पर मुनि का भिक्षा हेतु नहीं जाना चाहिये।^{१४} इसी तरह छ्द्र, स्कन्ध, इन्द्र, मुकुन्दबलदेव महोत्सव, देव, भूत व यक्ष महोत्सव, नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, गुफा, कूप, तालाब, नदी, सरोवर, समुद्र सम्बन्धी महोत्सव, पितृपिण्ड या मृतकपिण्ड से सम्बन्धित उत्सवों पर शाक्यादि भिक्षु, कृपण आदि भोजन कर रहे हों और वह भोजन अभी पूरा उपयोग में नहीं ले लिया गया हो तो मुनि को वहाँ जाकर आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये। उनके भोजन करके चले जाने के बाद गृहस्थ को भोजन करते देखकर मुनि वहाँ जा सकता है या गृहस्थ दे तो (प्रासुक) निर्दोष जानकर वह आहार ग्रहण कर सकता है।^{१५}

भिक्षा हेतु निषिद्ध मार्ग :

जिस मार्ग में मदोन्मत बैल, भैंस, मनुष्य, घोड़े, हाथी, सिंह, व्याघ्र भेड़िया, चोता, रोछ, अष्टापद, गोदड़, बिलाव, कुत्ते, सूअर, कोकृतिक

(श्याल जैसा जंगली जीव) और सर्प आदि जानवर बैठे या खड़े हों तो अन्य मार्ग के होने पर साधु-साध्वी उस मार्ग से भिक्षा हेतु न जावे । जिस मार्ग में रस की आशा से कुक्कुट, सूअर आदि पशु-पक्षी तथा अग्र-पिण्ड भोजन की कामना से कौवे आदि एकत्र होकर बैठे या खड़े हों तो अन्य मार्ग के होते हुए इन सबको लांघकर मुनि को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए ।^{११}

इसी प्रकार साधु-साध्वी को विषम मार्ग से भी भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये, यथा—खेत की क्यारियाँ, खाई, कोट, तोरण, अर्गला, अर्गला-पाश पड़ता हो, भले ही वह मार्ग सीधा ही क्यों न जाता हो । इसी भाँति जिस मार्ग में गड्ढे, स्थाणु, काँटे, उतार-चढ़ाव, ऊँची-नीची जमीन और फटी हुई या कटी हुई भूमि हो उस रास्ते से भी भिक्षा हेतु नहीं जाना चाहिए । इसे आचारांग में कर्मबन्ध का कारण बताया गया है ।^{१०}

उक्त विषम मार्ग से जाने से संयम व आत्म-विराधना होने की सम्भावना है । यथा—उक्त मार्ग से जाने से सम्भव है मुनि के शरीर में कम्पन होने पर या पैर आदि के फिसल जाने पर वह गिर जाए और तब उसका समूचा शरीर मलमूत्र, श्लेष्म, वमन, पित्त शुक्र या रुधिर से लिप्त हो जाए तब लिप्त शरीर को साफ करने के लिये मुनि सचित्त मिट्टी, पत्थर, शिलाखण्ड, जीव-जन्तु से युक्त काष्ठ का प्रयोग कर सकता है । अतः ऐसी स्थिति में उक्त सचित्त वस्तुओं से अपने शरीर को बार-बार नहीं पोंछना चाहिए और न ही मलना चाहिये बल्कि एकान्त में जाकर अचित्त वस्तुओं से अपने शरीर को साफ करे और धूप में सुखाकर शुद्ध कर ले ।^{१२}

कैसे लांघकर न जाये और कहाँ खड़ा न रहे :

यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, ग्राम-याचक (भिखारी), अतिथिगण पहले से ही खड़े हों तो मुनि उन्हें लांघकर गृहस्थ के घर में न जाये और न आहारादि की याचना करे । गृहस्थ के घर भिक्षा हेतु जाने पर यदि पता चले कि शाक्यादि भिक्षु पहले से ही भीतर हैं या वहाँ भीड़ लगी है तो मुनि उनके सम्मुख खड़ा न रहे अर्थात् वे जिस द्वार से निकलने वाले हों वहाँ खड़ा न रहे अपितु एकान्त स्थान में ठहर जाए जहाँ किसी की दृष्टि न पड़े ।^{१३}

गृहस्थ का द्वार कण्टक या दरवाजे से बन्द होने पर उस घर के

२२२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

व्यक्ति की आज्ञा माँगे बिना तथा प्रतिलेखन और प्रमार्जन किये बिना उसे खोलकर घर में प्रवेश न करे और न निष्क्रमण करे ।

कैसे प्रवेश करे—गृहस्थ की आज्ञा लेकर प्रतिलेखन व प्रमार्जन करे, तदनन्तर उस दरवाजे को खोलकर प्रवेश करे तथा निकले ।^{१०}

गृहस्थ के घर खड़े रहने के लिये अयोग्य स्थान :

भिक्षा हेतु गया हुआ मुनि गृहस्थ के घर की द्वार-शाखा को पकड़ कर खड़ा न रहे । इसी तरह जिस स्थान पर बरतनों को मांज-धोकर पानी गिराया जा रहा है, जहाँ पीने का पानी बहाया जाता हो या बह रहा हो वहाँ खड़ा न रहे । जहाँ स्नानघर, पेशाबघर या शौचालय हो यदि उन स्थानों पर उसकी दृष्टि पड़ती हो तो वहाँ भी खड़ा न रहे । दरवाजे के सामने खड़ा न रहे ।

वहाँ क्या नहीं देखे—गृहस्थ के गवाक्ष आदि को, दुबारा संस्कारित की गई दीवारों को, दो दीवारों की संधि को एवं जलघर को भुजाओं से, या अंगुली से निर्देश करके अथवा अपने शरीर को ऊपर-नीचे करके न तो स्वयं देखे और न दूसरों को दिखाये ।^{११}

भिक्षा ग्रहण करते समय शारीरिक संकेत का निषेध :

साधु-साध्वी को अंगुली चलाकर, अंगुली से भय दिखाकर, अंगुली से शरीर को खुजलाते हुए अथवा गृहस्थ की प्रशंसा कर आहार पानी की याचना नहीं करना चाहिए और भिक्षादि न देने पर कठोर वचन भी नहीं कहना चाहिए ।^{१२} प्रथम श्रुतस्कंध में सूत्रकार ने 'न मे देइ कुप्पिज्जा थोवं लद्धुं न खिसए' कहकर इसी बात को व्यक्त किया है ।^{१३}

भिक्षा हेतु मुनि कब जाये और कब न जाये :

साधु-साध्वी को यह पता लगे कि अभी गाएँ दुही जा रही हैं, अशनादि आहार तैयार हो रहा है, तथा उस आहार में से अभी किन्हीं दूसरे याचकों को नहीं दिया गया है, तो साधु-साध्वी को उस घर में आहारादि के लिए नहीं जाना चाहिए ।

जब मुनि यह जान ले कि गाएँ दुहा जा चुकी हैं, अशनादि आहार तैयार हो चुका है और उस आहार में से दूसरों को दे दिया गया है तब मुनि को उस घर में भिक्षा हेतु जाना चाहिए ।^{१४}

संखडि (सामूहिक भोजन) में जाने के निषिद्ध स्थान :

जिस दिशा में संखडि हो रही हो, उस दिशा में भिक्षा हेतु नहीं जाना चाहिए । यथा—गाँव, नगर, खेट, कर्बट, मंडप, पतन, आकर,

द्रोणमुख, नैगम, आश्रम, सन्निवेश और राजधानी में होने वाली संखडि (भोजन समारोह) में न जाये ।

यदि साधु संखडि (सामूहिक भोजन) का आहार करता है तो वह औद्देशिक, मिश्रित, खरीदा हुआ, उधार माँग कर लाया हुआ, छीना हुआ, दूसरे की आज्ञा बिना लिया हुआ खाता है । तात्पर्य यह कि संखडि में जाने से शुद्ध और निर्दोष आहार मिल नहीं सकता ।^{९५}

सद्गृहस्थ साधु-साध्वी के संखडि में आने की सम्भावना से या उसे पता लग जाय कि साधु-साध्वी आहार के लिए इस ओर आ रहे हैं तो वह उनके लिए दरवाजे को छोटा-बड़ा बनवायेगा, शय्या (स्थान) सम-विषम करवाएगा । स्थान वायुरहित या वायुयुक्त बनवायेगा । उपाश्रय के बाहर-भीतर रही हुई हरियाली का छेदन-भेदन करेगा या शय्या को व्यवस्थित बनाने हेतु हरियाली जड़ से उखाड़ फेंकेगा उक्त दोषों को ध्यान में रख कर पूर्व (विवाहोत्सवादि) और पश्चात् (मृतकादि) संखडि में नहीं जाना चाहिए ।^{९६}

संखडि में जाने से पारस्परिक कलह होने की भी सम्भावना रहती है, क्योंकि वहाँ अन्य मतावलम्बी भिक्षु भी एकत्र होते हैं । संखडि दो प्रकार की मानी गई है—आकीर्ण और अवम । परिव्राजक, चरक आदि भिक्षुओं से परिव्याप्त आकीर्ण संखडि कहलाती है और जहाँ भोजन कम बना हो और भिक्षुगण अधिक आ गये हों वह अवम संखडि है ।

ऐसे स्थान पर जाने पर एक दूसरे के शरीरादि के स्पर्श से, पात्र आदि के स्पर्श से, कलह हो सकता है, अतः साधु को वहाँ नहीं जाना चाहिए ।^{९७}

संखडि भोजन से हानियाँ :

साधु-साध्वी शुद्ध-सात्त्विक और नीरस भोजी होते हैं और संखडि के सरस, स्वादिष्ट आहार अधिक ग्रहण करने से एवं दूध आदि पेय पदार्थ पीने से वमन हो सकता है या सम्यक् प्रकार से पाचन नहीं होने से शरीर में विस्फुलिका, ज्वर-शूलादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं । इसके अतिरिक्त गृहपति व उनकी पत्नियों, परिव्राजक एवं परिव्राजिकाओं के सहवास से मदिरा-पान की परिस्थिति में ब्रह्मचर्य का व्रत भी भंग हो सकता है (जो आध्यात्मिक पतन की दृष्टि से एक भयंकर दोष है) इसलिये ज्ञानियों ने संखडि को प्रतिक्षण आस्रव-द्वार कहा है । इस तरह संखडि संयम-घातक है । शारीरिक मानसिक व आध्यात्मिक साधना को

२२४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

नष्ट करने वाली है। अतः साधु-साध्वी को संखडि में नहीं जाना चाहिए।^{१८} मुनि को स्वाद लोलुपता के वशीभूत होकर भी संखडि में जाने के लिये किसी तरह का छल कपट नहीं करना चाहिये।^{१९}

आचारांग में, उस युग में विभिन्न अवसरों पर होने वाली सामिष और निरामिष संखडियों का उल्लेख है। नयी वधू के घर में प्रवेश करने के अवसर पर, वधू के जाने के अवसर पर या मृतक के निमित्त, यज्ञादि की यात्रा के निमित्त होने वाली या मित्र-परिजनों के सम्मानार्थ तैयार की जाने वाली संखडियों से अन्य लोगों को भोजन ले जाते हुए देखकर संयमी साधु को वहाँ भिक्षा हेतु नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ जाने से अनेक दोष लग सकते हैं—यथा-मार्ग में बहुत से प्राणी, बीज, हरियाली, ओसकण, पानी, सूक्ष्म निगोदादि के जीव, पंचवर्ण, फूल, आर्द्र मिट्टी, जाले होने से उनकी विराधना होगी तथा स्वाध्याय में भी बाधा उत्पन्न होगी। इस प्रकार जिन संखडियों में शाक्यादि भिक्षुगण आदि का जन-समूह एकत्र हो रहा हो उनमें प्रज्ञावान मुनि को भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए।^{२०}

उक्त प्रकार संखडियों में जाने से यदि मार्ग में किसी तरह की विराधना की सम्भावना न हो और यहाँ ऋतु से शाक्यादि भिक्षु नहीं आएँगे, जन-समूह भी कम एकत्र हो रहा है या भीड़ भी ज्यादा नहीं है तथा स्वाध्याय में भी कोई बाधा नहीं आ सकती है ऐसा जानकर मुनि उक्त संखडियों में आ सकता है। आचारांग वृत्तिकार ने भी आपवादिक स्थिति में उक्त संखडियों में जाने और भिक्षा ग्रहण करने को कहा है।^{२१} इसी तरह, उत्तराध्ययन^{२२}, बृहत्कल्प^{२३} और निशोथसूत्र^{२४} में भी संखडि^{२५} में जाने का निषेध किया है।

बाहर जाते समय की मर्यादा :

आहार, शौच, स्वाध्याय के लिए अपने स्थान से बाहर जाते समय तथा विहार करते समय मुनि को अपने सभी धर्मोपकरण साथ लेकर जाना चाहिए।^{२६} यही बात वस्त्रैषणा^{२७} और पात्रैषणा^{२८} के सम्बन्ध में भी है।

बृहद्देशव्यापि वारिश हो रही हो, कुहरा छाया हो, आँधी चल रही हो तथा असंख्य त्रस जीव इधर-उधर उड़ एवं गिर रहे हों तो साधु-साध्वी को आहारादि के लिए बाहर नहीं जाना चाहिए।^{२९}

पश्चात् एवं कर्म दोष युक्त आहार का निषेध :

श्रद्धालु सदगृहस्थ अपने यहाँ पधारे हुए साधु-साध्वी को देखकर परस्पर बातचीत करे कि ये श्रमण संयम निष्ठ, शीलवान एवं परम ब्रह्मचारी हैं। आधाकर्मिक आहार इन्हें नहीं कल्पता है, परन्तु 'जो अपने लिए बना है वह इन्हें दे दें और अपने लिए फिर बना लेंगे'। इस तरह की बातचीत सुनकर साधु उक्त आहार को पश्चात् कर्म से दूषित जानकर ग्रहण न करे।

इसी तरह, किन्हीं कारणों से स्थिरवासी या विचारशील साधु-साध्वी के किसी गाँव या राजधानी में माता-पिता आदि सम्बन्धीजन निवास करते हैं तो उन्हें भिक्षा-काल के पहले ही उन घरों में भिक्षा हेतु नहीं आना-जाना चाहिए, क्योंकि भिक्षा के समय से पूर्व हो आए हुए देखकर ये वे उन मुनिराजों के लिए सदोष आहारादि तैयार करेंगे, अतः उन्हें पूर्व कर्म के दोष से बचना चाहिए। भिक्षा का समय हो तब सामुदायिक (बहुत घरों की भिक्षा) रूप से निर्दोष आहार की एषणा करनी चाहिए।^{८९}

अधिक आहार आ जाने पर क्या करना चाहिये :

यदि ग्रहण करने के बाद आहार अधिक बच गया हो तो साधु अपने समीपस्थ उपाश्रय में स्थित, साम्भोगिक, स्वधर्मी साधु-साध्वियों से उस अवशिष्ट आहार को खाने के लिए निवेदन करना चाहिये। उन्हें निवेदन किये बिना या दिखाये बिना उस बचे हुए आहार को फेंकना नहीं चाहिए, यदि वह ऐसा करता है तो माया का सेवन करता है।^{९०}

पानी :

नदी, तालाब आदि का पानी सञ्चित्त होता है। अतः साधु-साध्वी को कैसा पानी लेना चाहिए, इसके लिए अनेक नियम बताये गये हैं।

पानी की सदोषता एवं निर्दोषता :

चूर्णलिप्त बर्तन का पानी (आँटे का हाथ लगा हुआ पानी), तिल आदि का पानी, चावल का पानी तथा इसी प्रकार अन्य पानी जो कि शस्त्र-परिणत हो गया है, जिसका स्वाद या वर्णादि रस बदल गया है, ऐसा प्रासुक एवं एषणीय जल साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते हैं। इसी तरह तिल, तुष, यव, चावल के धोवन एवं उष्ण-जल को भी ग्रहण कर सकते हैं।^{९१} किन्तु सञ्चित्त पृथ्वी पर, जीव जन्तुओं से संसक्त पदार्थ पर या सञ्चित्त जल से गीले हाथों, सञ्चित्त पृथ्वी, रज आदि से युक्त हाथों

और बर्तन से देने पर साधु को जल ग्रहण नहीं करना चाहिए।^{१२} चूर्ण से लिप्त पानी, तिल, चावल आदि का पानी तथा अन्य इसी प्रकार का पानी यदि तत्काल निकाला हुआ है, स्वाद नहीं बदला है, वर्णादि नहीं बदला है शस्त्र परिणत नहीं हुआ है तो वह पानी ग्राह्य नहीं है। इसी तरह आम्रफल, कपित्थफल, मातुलिङ्गफल, द्राक्षाफल, अनार, खजूर, करीर, नारियल, बेर, आंवला, इमली आदि का पानी, जो कि गुठली, छाल एवं बीज मिश्रित है तो वह पानी ग्राह्य नहीं है। यदि साधु के निमित्त से बाँस की छलनी, वस्त्र या बालों की छलनी से पानी छानकर तथा उसमें से गुठली बीज आदि छलनी से निकाल कर दें तो मुनि को वह भी पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।^{१३}

सात-सात प्रतिज्ञाओं के साथ आहार-पानी की गवेषणा :

निर्दोष एवं रमणीय आहारादि प्राप्त करने का दृढ़तर अभ्यास करना ही इन प्रतिज्ञाओं का मुख्य उद्देश्य है। आत्मा के पूर्ण विकास या अहिंसा महाव्रत को शुद्ध रखने के लिये ये प्रतिज्ञाएँ सोपान रूप हैं। आचारांग में सात पिण्डैषणा और पानैषणा का वर्णन है, अतः साधु-साध्वी को इनका ज्ञान कर तदनुसार आचरण करना चाहिए। निम्नोक्त सातअभिग्रह पूर्वक निर्दोष आहार-पानी की गवेषणा करनी चाहिए।

(१) अचित्त पदार्थों से अलिप्त हाथ एवं अलिप्त पात्र से आहार की याचना करना या गृहस्थ स्वयं दे तो प्रासुक जानकर ग्रहण कर लेना प्रथम पिण्डैषणा है। इसी अभिग्रहपूर्वक पानी को भी ग्रहण करना प्रथम पानैषणा है।

(२) अचित्त वस्तु से लिप्त हाथ एवं पात्र से पूर्ववत् निर्दोष जानकर आहार ग्रहण करना द्वितीय प्रतिज्ञा है। इसी भाँति पानी ग्रहण की द्वितीय पानैषणा होती है।

(३) अलिप्त हाथ और लिप्त भाजन तथा लिप्त हाथ और अलिप्त भाजन हो ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक आहार की याचना करना तृतीय पिण्डैषणा और पानैषणा है।

(४) तुषरहित चावल आदि को, जिसमें हाथ या पात्र धोने तथा पुनः आहार बनाने का पश्चात् कर्म नहीं है, ऐसा आहार ग्रहण करना चौथी पिण्डैषणा है। चौथी पानैषणा में इतना विशेष है कि तिल यव, आदि का पानी ग्रहण करने के बाद पश्चात् कर्म नहीं लगता है।

(५) गृहस्थ ने सचित्तजल से हाथ आदि धोकर अपने खाने के लिए किसी बर्तन में भोजन रखा है। यदि उसके हाथ अचित्त हो चुके हैं तो

उसके हाथ से भोजन ग्रहण करना तथा इसी प्रकार पानी ग्रहण करना पाँचवीं पिण्डैषणा और पानैषणा है ।

(६) गृहस्थ ने अपने लिए या किसी अन्य के लिए बर्तन में से भोजन निकाल कर पात्र या हाथ में रखा है । अभो उसमें से किसी ने खाया नहीं है । ऐसे आहार और पानी को प्रासुक जानकर ग्रहण करने की प्रतिमा (प्रतिज्ञा) करना छठी पिण्डैषणा और पानैषणा है ।

(७) जिस आहार-पानी को शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, अतिथि आदि नहीं चाहते हों, ऐसे उज्जित धर्म वाले आहार को ग्रहण करने की प्रतिमा (प्रतिज्ञा) करना सातवीं पिण्डैषणा और पानैषणा है ।^{१४}

उक्त प्रतिमाधारी मुनि का अन्य के साथ बर्ताव :

साधक का उद्देश्य आत्म-शुद्धि है । दूसरे के द्वारा की गयी निन्दा या अवज्ञा के ऊपर उठकर प्रत्येक क्रिया करनी चाहिए । इसी से आध्यात्मिक विकास सम्भव है । यदि कोई मुनि संकल्प या अभिग्रह धारण नहीं करता है तो उसे हीन दृष्टि से देखना, अपने से निम्न कोटि का मानना या उससे घृणा द्वेष करना अपने मुनित्व से पतित होना है । इसीलिए यह निर्देश है कि सातों (प्रतिज्ञा) प्रतिमा या उनमें से किसी एक-दो प्रतिमाओं (प्रतिज्ञाओं) को धारण करने वाले मुनि को अपनी प्रतिज्ञाओं (प्रतिमाओं) का अभिमान नहीं करना चाहिए और न दूसरे को निम्न ही समझना चाहिए । वह यही कहे कि ये मुनिराज भी प्रतिमाधारी जिनाज्ञा में तत्पर तथा समाधिपूर्वक विचरण करते हैं । इस प्रकार निरहंकार होना ही साधु की साधुता का समग्र आचार है ।^{१५}

आहार-पानी में समभाव वृत्ति :

श्रमण-श्रमणी को सरस और स्वादिष्ट आहार खाकर शेष रूक्ष आहार को बाहर नहीं फेंकना चाहिए । यदि वह ऐसा करता है तो माया का सेवन करता है । अतएव उसे यथासमय सुगन्धित या दुर्गन्धित जैसा भी आहार प्राप्त हो समभावपूर्वक बिना स्वाद लिए खा लेना चाहिए । उसमें से किंचित् मात्र भी फेंकना नहीं चाहिए । यही बात पानी के सम्बन्ध में है ।^{१६}

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में 'सुब्धि अदुवा दुब्धि' कहकर इसी बात की पुष्टि की गई है ।^{१७}

निष्कर्ष यह है कि आत्मा से परमात्म-दशा को प्राप्त करने के साधनभूत शरीर को सक्षम बनाये रखने के लिए आहार को शुद्ध एवं

२२८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

सन्तुलित रखना अनिवार्य है। गीता में भी योगी के लिये युक्त आहार का विधान है। आहार सात्विक एवं उचित मात्रा में ही लेना चाहिए। अतः आचारांग में साधना की दृष्टि से आहार-बुद्धि को आवश्यक माना गया है, क्योंकि अशुद्ध एवं मात्रा से अधिक आहार करने से मन एवं नाड़ी संस्थान शुद्ध नहीं रहता। अतः नाड़ी-संस्थान एवं मन की निर्मलता बनी रहे और साधक अहिंसा पालन की दिशा में क्रमशः उत्तरोत्तर आगे बढ़ सके, इन्हीं तथ्यों को लक्ष्य में रखते हुए आहार-सम्बन्धी विधि-निषेध रूप अनेक आचार-मर्यादाओं पर काफी गहराई से विचार किया गया है।

वस्त्र :

आचारांग में श्रमण-श्रमणियों के लिए वस्त्र-विधान भी विशद रूप में वर्णित है। पूर्ण अहिंसा के साधक श्रमण-श्रमणी को वस्त्र विषयक उद्गमादि दोषों से बचना अनिवार्य है। उसे निर्दोष वस्त्र की गवेषणा करनी चाहिए ताकि किसी तरह का दोष न लगे। इन्हीं बातों को दृष्टिगत रखकर आचारांग में वस्त्र सम्बन्धी अनेक नियम प्रतिपादित हैं :-

ग्राह्य वस्त्र :

(१) (जंगिय) ऊन का वस्त्र, (२) (मंगिय) विकलेन्द्रिय जीवों की रोम से बनाया गया वस्त्र, (३) (सणिय) सन तथा वल्कल से बना हुआ वस्त्र, (४) (पोतग) ताड़ आदि के पत्तों से बना हुआ वस्त्र, (५) (खोमिय) कपास से बना वस्त्र (६) (तूलकड) आक आदि की रूई से बना हुआ वस्त्र श्रमणों के लिए ग्राह्य है।

वस्त्र का परिणाम :

आचारांग में कहा है कि जो साधु तरुण, बलवान, निरोग और दृढ़ शरीर वाला है, उसे एक ही वस्त्र धारण करना चाहिए, दूसरा नहीं। परन्तु साध्वी को चार वस्त्र (चादर) धारण करना चाहिए, जिनमें से एक चादर दो हाथ चौड़ी हो, दो चादर तीन हाथ चौड़ी हो और एक चादर चार हाथ चौड़ी हो।^{१९६} स्पष्ट है कि वृद्ध एवं रोगी साधु एक से अधिक वस्त्र भी आवश्यकतानुसार धारण कर सकता है। आचारांग में एक से तीन वस्त्र रखने तक को मर्यादा निरूपित है।^{१९९} सामर्थ्य होने पर मुनि अचेलक भी रह सकता है।^{१९००} इस तरह आचारांग में सवस्त्रता और निर्वस्त्रता दोनों विधान उपलब्ध होते हैं।

वस्त्र ग्रहण करने की क्षेत्र मर्यादा :

साधु-साध्वी को वस्त्र की याचना करने या प्राप्त करने के लिये आधे योजन से आगे नहीं जाना चाहिए।^{१०१} पात्र लाने की भी यही मर्यादा है।^{१०२}

अग्राह्य वस्त्र :

साधु-साध्वी के लिए महाधन प्राप्त होने वाले विविध प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र ग्रहण करना निषिद्ध है जैसे मूषकादि चर्म से निष्पन्न वस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म (महीन) वर्ण एवं सौन्दर्य से युक्त, बकरी या बकरे के सूक्ष्म रोमों से बने वस्त्र, इन्द्र नीलवर्ण की कपास से निर्मित, गौड़ देश की कपास से निष्पन्न, रेशम, मलमलसूत्र और वल्कल तन्तुओं से निर्मित वस्त्र। इसी तरह चीन देश, आमिलदेश, गजफलदेश, फलियदेश, कोयब देश आदि देश-विदेशों में बने हुए विशेष वस्त्र तथा विशिष्ट प्रकार के कम्बल साधु के लिए अग्राह्य हैं। चर्म एवं रोमों से निर्मित वस्त्र भी ग्राह्य नहीं हैं—जैसे सिन्धु देश के मत्स्य के चर्म एवं रोम से बने हुए, सूक्ष्म चर्म वाले पशुओं के चर्म एवं रोमों से बने हुए कृष्ण, नील एवं श्वेत मृग के चर्म एवं रोमों से निर्मित वस्त्र पतले, सुनहले एवं चमकीले बहुमूल्य वस्त्र, व्याघ्र एवं वृक के चर्म से बने हुए, सामान्य एवं विशेष प्रकार के आभरणों से अलंकृत वस्त्र भी श्रमण को स्वीकार नहीं करना चाहिए।^{१०३} आठवें अध्ययन में भी स्वल्प एवं साधारण वस्त्र रखने का विधान है।^{१०४}

मनुस्मृति^{१०५} तथा विनयपिटक^{१०६} में भी संन्यासी एवं बौद्ध श्रमणों के वस्त्र के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है।

वस्त्र की सदोषता

जीव-हिंसा से तैयार किया गया वस्त्र, एक या अनेक साधुओं के उद्देश्य से बनाया गया वस्त्र, साधु के निमित्त खरीदा गया, धोया गया, रंगा गया, अच्छी तरह घिसकर साफ किया गया, श्रृंगार किया गया, धूपदि से सुवासित किया गया वस्त्र मुनि के लिये सदोष है। यदि गृहस्थ ने उसे अपने उपयोग में ले लिया है या वह पुरुषान्तरकृत हो गया है तो फिर मुनि उसे ग्रहण कर सकता है। इसी तरह वस्त्र शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण आदि के लिए तैयार किया गया हो, परन्तु वह पुरुषान्तरकृत नहीं हुआ हो तो साधु को ऐसा वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। मकड़ी, जाले या अन्य जीव जन्तुओं से युक्त वस्त्र भी ग्रहण न करे। पश्चात् कर्म के दोष से दूषित वस्त्र भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। गृहस्थ द्वारा

ठंडे या गरम जल से धोकर देने पर भी नहीं लेना चाहिए। कन्द-मूल या अन्य कोई भी वनस्पति जिस वस्त्र में बँधी हुई हो वह वस्त्र भी अग्राह्य है। वस्त्र विषयक सारी विधि पिण्डैषणा के समान ही समझना चाहिये ^{१०७}

वस्त्र की निर्दोषता :

जो वस्त्र अण्डे, मकड़ी के जाले तथा जीव-जन्तुओं से रहित हो, मजबूत हो, धारण करने योग्य हो, गृहस्थ देना चाहता हो, और साधु को भी अनुकूल प्रतीत हो तो साधु निर्दोष समझ कर उसे ग्रहण कर सकता है। ^{१०८}

वस्त्र ग्रहण विधि :

गृहस्वामी द्वारा वस्त्र प्रदान करने पर मुनि उसे चारों ओर से प्रतिलेखना कर ग्रहण करे, क्योंकि प्रतिलेखना किये बिना वस्त्र ग्रहण करना कर्मबन्ध का हेतु हो सकता है। वस्त्र के अन्त में या किसी कोने में कुण्डल, धागा, चाँदी-सोना, रत्नादि या बोज, हरी वनस्पति आदि बँधी हुई हो अर्थात् कोई भी सजीव या निर्जीव वस्तु रखी हुई न हो, इसलिये मुनि वस्त्र को पहले चारों ओर से अवलोकन करके ही ग्रहण करे। ^{१०९}

वस्त्र कैसे धारण किया जाय :

साधु-साध्वी निर्दोष वस्त्र मिलने पर उन्हें उसी रूप में धारण करे परन्तु विभूषा के लिए उन्हें न धोए, न रंगे और न धुले हुए एवं रंगे हुये वस्त्र पहने। उन स्वल्प और असार वस्त्रों को पहन कर ग्रामादि में जाते समय छिपाकर न चले। यही सवस्त्र मुनि का आचार है। ^{११०} यही बात प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में भी कही गई है। ^{१११} मुझे अन्य वस्त्र मिल जायगा इस भावना से मुनि धारण किये हुये वस्त्र को वर्णयुक्त या विवर्ण न करे, न फाड़े, न फेंके, न किसी अन्य साधु-साध्वी को दे और न उनसे अदला-बदली करे। ^{११२}

वस्त्र कहाँ नहीं सुखाये :

जो स्थान गीला हो, बीज, हरियाली और जीवजन्तु से युक्त हो तथा घर के दरवाजे पर, दीवार पर, स्नान पीठ पर, नदी के तट पर, मंच पर, ऊँचे-नीचे विषम स्थानों पर, जो अच्छी तरह बँधा हुआ नहीं है, निश्चल नहीं है, वहाँ मुनि वस्त्र न सुखावे अपितु एकान्त स्थान में जाकर निर्दोष भूमि में सुखावे। ^{११३}

वस्त्र-गवेषणा के चार अभिग्रह :

साधु-साध्वी को वस्त्रैषणा के सभी दोषों को टाल कर चार प्रतिमाओं (अभिग्रह) पूर्वक वस्त्र की गवेषणा करनी चाहिये ।

(१) अपने मन में संकल्पित वस्त्र की स्वयं याचना करना या गृहस्थ दे तो निर्दोष जानकर ग्रहण करना, यह प्रथम उद्दिष्ट प्रतिमा है ।

(२) गृहस्थ के देखे हुए वस्त्र की ही याचना करना, दूसरी प्रेक्षित प्रतिमा है ।

(३) गृहस्थ का पहना हुआ उत्तरीय वस्त्र ग्रहण करना, तृतीय परिभुक्त पूर्व प्रतिमा है ।

और (४) उज्जित धर्मवाला (फँकने योग्य) वस्त्र ग्रहण करना (जिसे कि अन्य शाक्यादि भिक्षु कोई नहीं चाहता), यह चौथी उज्जित धार्मिक प्रतिमा है ।^{११४}

पात्र :

श्रमण तुम्बे, काष्ठ एवं मिट्टी का पात्र ग्रहण कर सकता है ।

तरुण, स्वस्थ एवं स्थिर संहनन वाले साधु को केवल एक ही पात्र रखना चाहिये, दूसरा नहीं ।^{११५} प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी एक मुनि को एक ही पात्र रखने का विधान है ।^{११६}

पात्र ग्रहण करने की विधि वस्त्रैषणा के समान ही है । यहाँ केवल इतनी विशेषता है कि यदि वह पात्र तेल, घी, नवनीत आदि या अन्य किसी पदार्थ से स्निग्ध किया हुआ हो तो साधु उस पात्र को लेकर स्थंडिल भूमि जाये । वहाँ भूमि की प्रतिलेखना कर पात्र को धूल आदि से मसल कर रक्ष बना लें ।

पात्र की सदोषता :

यदि पात्र एक साधु के निमित्त से या अनेक साधु-साध्वियों के उद्देश्य से बनाया गया हो तो मुनि वह पात्र ग्रहण न करे । शेष वर्णन पिण्डैषणा व वस्त्रैषणा की तरह जानना चाहिए । शाक्यादि भिक्षुओं के लिए बनाए गए पात्र के सम्बन्ध में भी वस्त्रैषणा के वर्णन के समान ही जानना चाहिये । यदि गृहस्थ आधाकर्मिक दोषयुक्त आहार तैयार करे और उससे पात्र को भरकर दे तो भी मुनि ग्रहण न करे । वह स्पष्ट कह दे कि मुझे आधाकर्मिक आदि आहार लेना नहीं कल्पता है ।

वर्जित पात्र :

काष्ठ, मिट्टी आदि के अतिरिक्त धातु आदि के पात्र रखना साधु के लिए निषिद्ध है—जैसे लोह-पात्र, कढी के पात्र, ताम्र-पात्र, सीसे, चाँदी

२३२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

और स्वर्ण-पात्र, पीतल का पात्र, मणि, काँच और कांसी के पात्र शंख और शृंग से बने हुये पात्र, दाँत, वस्त्र, पत्थर और चर्म के पात्र । इसी प्रकार विविध मूल्य वाले पात्र, अप्रासुक एवं अनेषणीय समझ कर ग्रहण नहीं करने चाहिये । तथा काष्ठादि के ग्राह्य पात्र भी, जो कि धातु से सवेष्टित हैं अर्थात् उन पात्रों पर भी यदि लौह, स्वर्ण, चर्म आदि के बहुमूल्य बन्धन लगे हों तो मुनि ग्रहण न करे किन्तु उक्त दोषों से रहित पात्र ग्रहण कर सकता है ।

पात्र की गवेषणा :

मुनि को ऊपर कथित उद्दिष्ट, प्रेक्षित, भुक्त और उज्जित धर्म युक्तचार प्रतिज्ञाओं के अनुसार पात्र की गवेषणा करनी चाहिये । शेष मर्यादाएँ वस्त्रेषणा के समान ही समझना चाहिये ।^{११७}

शय्येषणा (बसतो-उपाश्रय) :

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निर्दोष आहार ग्रहण करने के पश्चात् कहाँ ठहरा जाए ? आचारांग में कहा गया है कि श्रमण-श्रमणी को आधार्कमिक आदि दोषों से युक्त उपाश्रय या मकान का त्याग कर निर्दोष शय्या को स्वीकार करना चाहिए जिससे संयम साधना में निखार आ सके ।

सदोष और निर्दोष शय्या :

साधु को क्षुद्र जीव जन्तुओं, अण्डे, जाले, बोज और अनाज के दानों से युक्त स्थान में स्वाध्याय कार्यात्सर्गादि नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि कोई स्थान उक्त दोषों से रहित हो तो उसका प्रतिलेखन कर वहाँ स्वाध्याय, ध्यानादि कर सकता है ।

जो उपाश्रय या स्थान साधु के उद्देश्य से बनाया गया हो, खरीद कर, उधार लेकर या छीनकर लिया गया हो, गृहस्थों ने उसे उपयोग में लिया हो या नहीं लिया हो-साधु-साध्वी के लिये अकल्प्य है । इसी तरह एक या अनेक साधु-साध्वी के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये । जो स्थान शाक्यादि भिक्षु के निमित्त से तैयार किया गया हो और वह किसी के द्वारा उपयोग में ले लिया गया हो तो मुनि उसमें ठहर सकता है ।

जिस उपाश्रय या मकान को साधु के निमित्त लीपा-पोता गया हो, संवारा गया हो, तृणादि से आच्छादित किया गया हो, काष्ठादि से संस्कारित किया गया हो, भूमि को समतल बनाया गया हो, वह उपाश्रय यदि अनासेवित हो तो साधु को उसमें नहीं ठहरना चाहिए और न ही कार्यात्सर्गादि क्रिया करनी चाहिए ।

इसी तरह साधु के निमित्त दरवाजे छोटे-बड़े किये गये हों, कन्दमूल, पत्र-पुष्प, फल, बीज, हरी वनस्पति आदि को काट-छाँटकर स्थान को साफ किया गया हो, तथा उपाश्रय में रखे हुये चौकी, फलक आदि वस्तुओं को बाहर से भीतर और भीतर से बाहर रखा गया हो तो मुनि उस आश्रय को तब तक काम में नहीं ले जब तक कि वह स्थान किसी दूसरे के द्वारा उपयोग में नहीं ले लिया जाय ।^{११८}

कौसी शय्या में ठहरना वर्जित :

एक स्तम्भ पर, मंच पर, माले पर किसी ऊँचे स्थान पर बने हुये उपाश्रय में साधु को नहीं ठहरना चाहिये किन्तु वहाँ यदि गिरने का भय न हो, पहुँचने का मार्ग सुगम हो तो ठहर सकता है ।

ऊँचे स्थान पर स्थित स्थान में क्या न करे :

वहाँ जल से हाथ-पैर, आँख, दाँत, मुख आदि एक बार या बार-बार न धोए । मल-मूत्रादि का विसर्जन न करे । मुख एवं नाक का मैल, वमन, पित्त, घाव, रुधिर आदि गन्दगी का वहाँ त्याग न करे । क्योंकि यह कर्मबन्ध का हेतु है । वहाँ मलमूत्रादि का विसर्जन करने पर, हाथ पैरादि धोने पर फिसलने की सम्भावना है । फिसलने से शरीर में चोट आ सकती है । साथ ही, अन्य जीवों का घात भी हो सकता है अतएव मुनि को उक्त प्रकार के उपाश्रय में ठहरना निषिद्ध है ।^{११९}

कौसा उपाश्रय निषिद्ध :

(१) स्त्री, बालक, पशु तथा उनके खाद्यान्न पदार्थों से युक्त उपाश्रय या मकान में न ठहरे क्योंकि कुटुम्बवान मकान में ठहरने पर यदि कभी साधु अस्वस्थ (शरीर का स्तम्भन, सृजन, विसूचिका, वमन, ज्वर आदि) हो गया तो वह गृहस्थ करुणा भाव से प्रेरित होकर उसे व्याधि-मुक्त करने के लिये घी-तेल, नवनीत, वसा आदि सावद्य या निरवद्य अनेक औषधियों से उसके शरीर को मलेगा, प्रासुक शीतल या उष्ण जल से स्नान करायेगा, चूर्णादि से मालिश करेगा तथा शरीर की स्निग्धता को उबटन आदि से दूर करेगा, अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसके शरीर को तपाएगा । यदि वह प्रतिकार नहीं करेगा तो उसकी संयम-साधना में दोष लग सकता है तथा स्त्री आदि के परिचय में रहने से ब्रह्मचर्य व्रत में शिथिलता आयेगी । इसी तरह और भी अनेक दोषोत्पत्ति की सम्भावना से साधु को सपरिवार गृहस्थ के मकान या गृहस्थों से युक्त उपाश्रय

२३४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

में नहीं ठहरना चाहिए।^{१२०} उत्तराध्ययन में स्त्री आदि से रहित मकान में ठहरने वाले साधु को ही निर्ग्रन्थ कहा गया है।^{१२१}

(२) गृहपति गृहपत्नी, पुत्रियां, पुत्र-वधू, दास-दासियां, नौकर-चाकरों में परस्पर मारपीट, उपद्रव, आक्रोश या उनमें होने वाले पारस्परिक कलह को देखकर साधु के मन में अच्छे-बुरे संकल्प-विकल्प आ सकते हैं अतः साधु को ऐसे उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिये क्योंकि इसे पापबन्ध का कारण कहा है।^{१२२}

(३) जहाँ गृहस्थ प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन अग्नि जलाते एवं बुझाते हों वहाँ भी मुनि को नहीं ठहरना चाहिये, क्योंकि गृहस्थों को दीपक या अग्नि जलाते एवं बुझाते देखकर मुनि के विचारों में परिवर्तन हो सकता है और उसकी साधना में बाधा पड़ सकती है।^{१२३}

गृहस्थ से युक्त उपाश्रय या मकान में विभिन्न प्रकार के कुण्डल, हार, कड़े, भुजबन्ध, मणि-मुक्ता, स्वर्ण, चाँदी आदि बहुमूल्य आभूषणों एवं वस्त्राभूषणों से शृंगारित युवती स्त्री एवं कुमारी कन्याओं को देखकर भिक्षु के मन में पूर्वजीवन सम्बन्धी अनेक स्मृतियाँ जाग सकती हैं, विभिन्न संकल्प-विकल्प उठ सकते हैं यथा—पूर्वोक्त आभूषण मेरे घर में भी थे अथवा नहीं थे। मेरी कन्या या स्त्री भी ऐसी ही थी अथवा ऐसी नहीं थी आदि से सम्बन्धित बातचीत करने अथवा मन में तत्सम्बन्धी अनुमोदन करने की सम्भावना हो सकती है। इन्हीं कारणों से उसे परिवार वाले गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।^{१२४}

(५) परिवार युक्त मकान या उपाश्रय में निवसित भिक्षु को देखकर गृहपत्नियाँ, पुत्रियाँ, पुत्रवधुएँ, धायमाताएँ, दासियाँ, अनुचारिकाएँ आपस में वार्तालाप करती हैं कि ये मुनि मैथुन धर्म से सर्वथा उपरत हैं अन्यथा इन त्यागी के सम्पर्क (समागम) से ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी गुण-युक्त पुत्र की प्राप्ति हो सकती है। इस तरह की बातचीत से ऐसे पुत्र प्राप्ति की इच्छा रखने वाले कोई स्त्री उन तपस्वी मुनि को किसी भी तरह संयम-साधना या ब्रह्मचर्य से विचलित कर सकती है। इसीलिये उपर्युक्त दोषों को सम्भावना के कारण ऐसे उपाश्रय में ठहरना निषिद्ध है।^{१२५}

तात्पर्य यह है कि मुनि को अपने महाव्रतों के पालन में सदैव सावधान रहना चाहिए क्योंकि अहिंसा और ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण साधना या आचार के महत्त्वपूर्ण आधार-स्तम्भ हैं, अतः मुनि को ऐसे स्थानों में नहीं ठहरना चाहिए जिससे उसके महाव्रतों के स्वलित होने की सम्भावना हो।

कालाति क्रम दोष :

धर्मशालादि स्थानों में मासकल्प एवं चातुर्मास कल्प कर चुकने के बाद बिना किसी कारण पुनः-पुनः उन स्थानों में निवास करने से काला-तिक्रम दोष लगता है।^{१२६}

उपस्थान क्रिया दोष :

किसी क्षेत्र में, धर्मशालादि स्थानों में मासकल्प और वर्षावास कर लेने के बाद अन्य क्षेत्रों में दुगुना या तिगुना समय व्यतीत किए बिना ही पुनः उन्हीं स्थानों में आकर निवास करने से उपस्थान क्रिया दोष लगता है।^{१२७}

अभिक्रान्तक्रियायुक्त ठहरने योग्य स्थान :

साधु के आचार-व्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ श्रद्धालु गृहस्थों ने अन्य मतावलम्बी शाक्यादि भिक्षुओं, ब्राह्मण, अतिथि, भिखारी लोगों के उद्देश्य से तथा अपने व्यवसाय या परिवार के उद्देश्य से जहाँ-तहाँ धर्मशाला, कारखाने आदि अनेक स्थान बनवाये हैं और यदि उन स्थानों में शाक्यादि लोग ठहर चुके हैं या ठहरने योग्य स्थान गृहस्थ ने अपने काम में ले लिया है तो अभिक्रान्तक्रिया से युक्त स्थानों में भिक्षु ठहर सकता है।^{१२८} ठहरने योग्य स्थानों का वर्णन विविक्त शयनासन नामक तप में किया गया है।

अनभिक्रान्तक्रिया का दोष :

उक्त ठहरने योग्य स्थानों को अभी तक किसी ने उपयोग में नहीं लिया है, वे खाली ही पड़े हैं तो वहाँ ठहरने से भिक्षु को अनभिक्रान्त क्रिया का दोष लगता है,^{१२९} अर्थात् ऐसे स्थान में मुनि को नहीं ठहरना चाहिए।

वर्ज्य क्रिया :

बहुत से श्रद्धालु सद्गृहस्थ, दास-दासी आदि श्रमणाचार से परिचित होते हैं और उनकी मर्यादा जानते हैं, अतः वे परस्पर बातचीत करते हैं कि इन्हें आधार्कमिक दोष से युक्त उपाश्रय में रहना कल्प्य नहीं है। अतः अपने लिए बनाए हुए विशाल मकानों, स्थानों को इन्हें दे दें और अपने लिए दूसरे नए मकान बनवा लेंगे। इस तरह की बातचीत को सुनकर साधु उन स्थानों में नहीं ठहरे अर्थात् ऐसे स्थानों में ठहरने से उसे वर्ज्य क्रिया का दोष लगता है।^{१३०}

सावद्य अल्पसावद्य और महासावद्य क्रिया-दोष :

किसी गृहस्थ ने ब्राह्मण, अतिथि, कृपण आदि के साथ श्रमण को लक्ष्य में रखकर पूर्वोक्त स्थान बनवाएँ हैं। यदि भिक्षु उसमें ठहरता है तो उसे सावद्य-क्रिया दोष लगता है।^{१३१}

किसी गृहस्थ ने पृथ्वीकायादि षट्काय की हिंसा (आरम्भ-समारम्भ) करके किसी श्रमण के उद्देश्य से उपाश्रय, मकान, लौह-कर्मशाला आदि स्थानों का निर्माण कराया हो अथवा साधु के निमित्त कोई विशेष क्रियाएं (लिपाई-पोताई, शीतल जल का छिड़काव, दरवाजे बनवाना, अग्नि प्रज्ज्वलित करना आदि) की गई हों तो ऐसे स्थानों में ठहरने से साधु को महासावद्य क्रिया दोष लगता है।^{१३२}

अल्पसावद्य क्रिया :

गृहस्थों ने जहाँ-तहाँ अपने मकान, भवन आदि का निर्माण कराया हो तथा उसमें शीतकाल में अग्नि आदि प्रज्ज्वलित की हो और साधु के निमित्त उसमें कुछ भी नहीं किया गया हो तो मुनि उसमें ठहर सकता है। गृहस्थों के द्वारा सहर्ष दिए गए ऐसे मकानों या स्थानों में ठहरने वाले मुनि 'एगपक्खं ते कम्मं सेवन्ति' एक पक्ष कर्म का सवन करते हैं अर्थात् पूर्ण साधुता का पालन करते हैं। यह अल्प सावद्य-क्रिया है।^{१३३}

अन्य मत के भिक्षुओं के साथ ठहरने पर गमनागमन विधि :

अन्य भिक्षुओं से भरे हुए छोटे या छोटे द्वार वाले उपाश्रय में ठहरा हुआ साधु रात्रि के समय आवश्यक क्रिया हेतु उपाश्रय से बाहर पूर्ण विवेक पूर्वक गमनागमन करे। उपाश्रय से बाहर जाते समय और पुनः भीतर प्रविष्ट होते समय साधु पहले हाथ से भूमि को टटोलकर या देखकर फिर पैर रखे जिससे अन्य किसी के शारीरिक अवयव या उपकरण को उपघात न पहुँचे। यदि उनके दण्ड, छत्र, चामर, भोजन आदि व्यवस्थित रखे हुए नहीं हैं और मुनि भूमि को हाथ से टटोलकर नहीं चलता है तो वह गिर सकता है। इससे उसके उपकरण टूट सकते हैं अथवा उसके हाथ, पैर आदि में चोट लग सकती है या फिर गिरने से क्षुद्र जीव-जन्तुओं की हिंसा हो सकती है।

शय्यातर-त्याग-विधि :

मुनि जिससे आज्ञा ले या जिसके मकान में ठहरे, उसका नाम-गोत्र, घर आदि का परिचय प्राप्त करे। उसके बाद उसके घर बुलाने पर अथवा नहीं बुलाने पर भी गोचरी (भिक्षा हेतु) के लिए नहीं जावे अर्थात्

अशनादि चतुर्विध आहार न ग्रहण करे।^{१३५} जैन परिभाषा में मकान मालिक को शय्यातर कहा जाता है। 'शय्यातर' शब्द शय्या + तर दो शब्दों के योग से बना है। 'शय्या' का अर्थ है मकान, उपाश्रय या स्थान और 'तर' का अर्थ है तैरने वाला। अतः शय्यातर का तात्पर्य है कि साधु-साध्वी को ठहरने के लिए स्थान देकर संसार से तैरने वाला।
ठहरने के अयोग्य उपाश्रय :

गृहस्थ, जल और अग्नि से युक्त मकान या उपाश्रय में प्रज्ञावान साधु-साध्वी को प्रवेश और निष्क्रमण नहीं करना चाहिए, धर्म-चिन्तन के लिए भी वह स्थान उपयुक्त नहीं है।^{१३६} जिस उपाश्रय या मकान में गृहपति और गृहपत्नियाँ, दास-दासियाँ परस्पर कोसती हैं, मारपीट करती हैं, एक दूसरे के शरीर की तेल, घी, मक्खन आदि से मालिश करती हैं, जल एवं चूर्ण आदि से साफ करती हैं, मेल उतारती हैं, उबटन लगाती हैं, पानी उछालती हैं, स्नान कराती हैं, सिंचन करती हैं, ऐसे स्थान में मुनि को नहीं ठहरना चाहिए।^{१३७} बृहत्कल्प में भी यही कहा है।^{१३८}

जिस उपाश्रय का प्रवेश मार्ग गृहस्थ के घर में से होकर हो, तथा उसके अनेक दरवाजे हों तो ऐसे उपाश्रय में साधु को ठहरना एवं स्वाध्यायदि करना उचित नहीं है।^{१३९} बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार ऐसे उपाश्रय में साध्वियाँ ठहर सकती हैं।^{१४०}

जिस मकान में गृहपति-गृहपत्नियाँ नग्नावस्था में खड़ी हों और मैथुन सम्बन्धी चर्चा करती हैं अथवा कोई रहस्यमय कार्य के लिए गुप्त मंत्रणा कर रही हैं तो बुद्धिमान् साधु को ऐसे उपाश्रय में ठहरना योग्य नहीं है और न वहाँ स्वाध्याय, कायोत्सर्गादि ही करना चाहिए।^{१४१}

चित्रों से आकीर्ण उपाश्रय में भी साधु का ठहरना और स्वाध्याय आदि करना निषिद्ध है।^{१४२}

योग्य-अयोग्य (शय्या-संस्तारक)

(शयन करने का पट्टा, फलक आदि) जो अण्डे, मकड़ी, जालों और जीव जन्तुओं से युक्त हो, भारी हो, गृहस्थ जिसे देकर वापस लेना नहीं चाहता हो, ढीला (शिथिल) हो तो ऐसा संस्तारक या पट्टा, फलक आदि मिलने पर भी मुनि स्वीकार न करे। इन चारों कारणों या इनमें से कोई एक कारण भी उपस्थित हो तो ग्रहण न करे।

जीव-जन्तुओं से रहित, हल्का, दृढ़-बन्धन युक्त और जिसे गृहस्थ ने पुनः लेना स्वीकार कर लिया है, वही तख्ता, पट्टा या संस्तारक मुनि ग्रहण कर सकता है।^{१४३}

२३८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

संस्तारक विषयक चार अभिग्रह :

भिक्षु-भिक्षुणी को उद्देश्य, प्रेक्ष्य, तस्यैव और यथासंस्तुत इन चार प्रतिमाओं पूर्वक निर्दोष संस्तारक की गवेषणा करनी चाहिए।

(१) तृण, दूब, पलाल आदि किसी एक का नाम निश्चित करना, याचना करना अथवा बिना याचना किए ही गृहस्थ दे तो निर्दोष जानकर ग्रहण करना प्रथम प्रतिज्ञा है।

(२) गृहस्थ के घर में रखे हुए संस्तारक को देखकर उसकी याचना करना दूसरी प्रतिज्ञा है।

(३) मुनि जिस उपाश्रय में ठहरना चाहे यदि उसी में तृण, पलाल आदि से बना हुआ संस्तारक विद्यमान हो तो मुनि उसे स्वीकार कर सकता है। यदि वैसा संस्तारक वहाँ न मिले तो उत्कटुक पद्मासन आसन, आदि आसनों द्वारा रात्रि व्यतीत करे, यह तृतीय प्रतिज्ञा है।

(४) मुनि जिस उपाश्रय में रहे पृथ्वी-शिला, लकड़ी का तख्ता अथवा तृणादि पहले से ही बिछा हुआ हो तो मुनि उस पर शयन-आसन कर सकता है अन्यथा पूर्वोक्त आसनों द्वारा रात्रि बिताए। इस प्रकार उक्त चार अभिग्रहधारी मुनि अन्य प्रतिमाधारी भिक्षु की अवहेलना न करे।^{१४४}

संस्तारक लौटाने की विधि :

गृहस्थ को लौटाते समय संस्तारक जीव-जन्तुओं से युक्त नहीं होना चाहिए। जीव जन्तुओं से युक्त संस्तारक को प्रतिलेखना एवं प्रमार्जन कर सूर्य की आतापना दे। तदनन्तर यतनापूर्वक साफ कर गृहस्थ को लौटाना चाहिए।^{१४५}

उपाश्रय में निवास करने के पूर्व की विधि :

श्रमण-श्रमणी उपाश्रय में स्थिरवास रहे, मासकल्प एवं चातुर्मास रहे अथवा ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आकर ठहरे। किन्तु वहाँ ठहरने के पूर्व दिन में मल-मूत्रादि त्याग करने की भूमि को भलीभाँति देख ले। बिना देखी हुई भूमि में जाने से वह फिसल सकता है और गिरने से हाथ-पैर आदि में चोट आ सकती है तथा वहाँ स्थित अन्य जीव-जन्तुओं का भी घात होगा।^{१४६}

संस्तारक बिछाने की विधि :

साधु, आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, नवीन दीक्षित तथा आगन्तुक अतिथि भिक्षुओं के द्वारा स्वीकार की गई शयन भूमि को छोड़-

कर उपाश्रय के मध्य स्थान में, सम-विषम, वायु-युक्त या वायु-रहित स्थान में भूमि का प्रतिलेखन व प्रमार्जन करे तत्पश्चात् यतनापूर्वक निर्दोष शय्या-संस्तारक को बिछाये ।^{१४७}

संस्तारक पर बैठने और शयन करने की विधि :

मुनि यदि संस्तारक पर बैठना चाहे तो बैठने के पहले अपने समूचे शरीर की प्रतिलेखना व प्रमार्जना कर ले । तदनन्तर शय्या पर बैठकर यतना पूर्वक शयन करे । शयन करते हुए वह दूसरे साधु की हाथ-पैर या शरीर द्वारा आशातना न करे अर्थात् इस तरह शयन करे कि एक-दूसरे का अविनय न हो । इसके अतिरिक्त उच्छ्वास-निःश्वास लेते हुए, खांसते हुए, जंभाई लेते हुए और अपान वायु छोड़ते समय मुख को एवं गुदा को हाथ से ढंककर विवेकपूर्वक सभी क्रियाएं करे ।^{१४८}

हर परिस्थिति में समतामय आचरण :

संयम-साधना में तत्पर श्रमण-श्रमणी को किसी समय सम या विषम शय्या मिले, हवा-रहित या हवादार स्थान मिले, धूलयुक्त या धूलरहित, डांस-मच्छर युक्त या उससे रहित शय्या मिले, जीर्ण-शीर्ण या सुदृढ़ शय्या मिले, उपसर्ग युक्त या उपसर्ग रहित शय्या मिले, सभी स्थितियों में सम-भाव पूर्वक निवास करे । खेद का अनुभव न करे । अनुकूल स्थान उपलब्ध होने पर राग न करे और प्रतिकूल स्थान मिलने पर द्वेष न करे । वास्तव में यही साधु की साधुता है और इसी पथ पर गतिशील साधक चरम साध्य प्राप्त कर सकता है ।

आदान-भण्ड निक्षेप समिति :

उपकरणों या वस्तुओं को उठाने-रखने में सम्यक् प्रवृत्ति का नाम ही आदान-निक्षेप समिति है । निर्ग्रन्थ तपस्वी इस समिति का विवेकपूर्वक पालन करता है ।

भिक्षा हेतु जाने से पूर्व की विधि :

संयमशील मुनि भिक्षा के लिए जाने से पहले पात्रादि का सम्यक् रूप से प्रतिलेखन करे । यदि उसमें क्षुद्र जीवजन्तु हों तो बाहर निकाल कर एकान्त में छोड़ दे, रज आदि प्रमार्जित कर दे । तदनन्तर यत्नपूर्वक भिक्षा के लिए जाए क्योंकि बिना प्रतिलेखन ओर प्रमार्जन किए पात्र को ले जाने से उसमें रहे हुए जीव-जन्तु, बीज आदि का घात हो सकता है ।^{१४९}

परिष्ठापनिका समिति :

मल-मूत्र, नाक का श्लेष्म आदि का एकान्त, निर्दोष, निरवद्य एवं

२४० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

निर्जीव भूमि में विवेक पूर्वक प्रतिष्ठापन अर्थात् व्युत्सर्जन परिष्ठापनिका समिति है।

उच्चार-प्रस्रवण-निहार :

आचारांग में कहा गया है कि आहार के साथ निहार तो निश्चित है। स्वाध्याय भूमि में अवस्थित साधु को मलमूत्रादि की बाधा हो जाए तो मलादि का कहाँ और कैसे प्रतिष्ठापन करना चाहिए, आचारांग में इसे उच्चार-प्रस्रवण कहा गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि मुनि को व्युत्सर्ग योग्य घृणित पदार्थों को ऐसे स्थान पर त्यागना चाहिए जिससे न तो किसी जीव की हिंसा हो और न उससे किसी व्यक्ति को अप्रीति उत्पन्न हो। यहाँ भी अहिंसा की भावना ही दृष्टिगोचर होती है। इस समूचे अध्ययन सामग्री को हम तीन भागों में बाँटकर विचार कर सकते हैं :

स्थण्डिल भूमि की सदोषता एवं निर्दोषता :

अण्डादि जीवजन्तुओं से युक्त भूमि पर मल-मूत्र का परित्याग न करे किन्तु निर्जीव, निर्दोष स्थान पर त्याग करे।

स्थण्डिल भूमि की सदोषता एवं निर्दोषता सम्बन्धी सारा वर्णन शय्यैषणा की भाँति ही जानना चाहिए।^{१५०}

किन स्थानों पर व्युत्सर्ग न करे :

सार्वजनिक उपयोगी स्थानों में मलमूत्रादि विसर्जन का विषेध करते हुए निर्देश दिया गया है कि—चावल, गेहूँ, मूँग, उड़द, यव, ज्वार आदि के खेत में, कपित्थ वनस्पति विशेष के खेत में, तथा मूली, गाजर आदि के खेतों में मलोत्सर्ग न करे।

कूड़े-कचरे के ढेर, फटो एवं कटो हुई भूमि, खम्भे एवं कीलें गड़ी भूमि, गहरे गड्ढे, गुफाएँ, किले की दीवाल आदि तथा जहाँ कीचड़ एवं इक्षु आदि के डण्डे पड़े हों, सम-विषम भूमि हो, वहाँ भी मल-मूत्रादि का त्याग न करे क्योंकि वहाँ जीव-हिंसा को सम्भावना है।

जहाँ चूल्हे हों, गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, कुक्कुट, बन्दर, हाथी, चिड़िया, तोतर, कबूतर आदि के निवास स्थान हों अथवा जहाँ पर इनके लिये कोई क्रियाएँ की जाती हों वहाँ भी मल-मूत्र का प्रतिष्ठापन नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त फाँसी देने के स्थान, गिद्ध-पक्षी के सामने गिरकर मरने के स्थान, वृक्ष एवं पर्वत पर चढ़कर वहाँ से गिरकर मरने के स्थान, विष-भक्षण एवं अग्नि में जलकर मरने के स्थान पर भी प्रतिष्ठापन नहीं करना चाहिये।

बगीचों में, प्याऊ में, देवकुलों में, सार्वजनिक स्थानों में भी मलमूत्र का त्याग करना नहीं चाहिये अन्यथा किसी के मन में क्रोध आ जाने से अनिष्ट की सम्भावना रहती है ! इसी तरह देवालयों, सरोवरों, नदियों व तीर्थ स्थानों अर्थात् जहाँ पर लोग एकत्र होकर स्नान आदि करते हों, नदी के तटवर्ती कीचड़ के स्थानों पर, जल के प्रवाह रूप पूज्य स्थानों, बगीचों को जल देने वाली नालियों में भी मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिये । जहाँ मृतक जलाये जाते हों, मृतक स्तूप हो, मृतक मंदिर हो, वहाँ मलोत्सर्ग न करे । इसी तरह बीजक, सण, धातकी, केतकी, आम्र, अशोक, नाग एवं पुन्नाग वृक्षों के वन में तथा इसी भाँति पत्र-पुष्प, फल, बीज और हरी वनस्पति के वन में भी मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिये ।

राजमार्ग नगर के बड़े द्वार, त्रिपथ, चतुष्पथ आदि विशेष स्थानों पर भी मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिये ।^{१५१}

इस प्रकार साधु-साध्वी अपनी संयम-साधना या जीव की रक्षा के साथ ही गाँव, नगर, बाग-बगीचे आदि की स्वच्छता समाप्त न हो तथा उनके आचरण से किसी के मन में अरुचि या घृणा भाव पैदा न हो इन बातों को भी दृष्टिगत रखकर मलमूत्रादि का त्याग करने का विधान है ।

मलमूत्र के उत्सर्ग के योग्य स्थान :

साधु-साध्वी बगीचे या उपाश्रय के एकान्त स्थान में जायें जहाँ कोई व्यक्ति न देखता हो, और न कोई आता जाता हो, तथा जहाँ पर द्वीन्द्रियादि जीव-जन्तु मकड़ी आदि के जाले भी न हों, ऐसी अचित्त (निर्जीव) भूमि में मलमूत्र का विसर्जन करना चाहिये । तत्पश्चात् साधु-साध्वी उस पात्र को लेकर एकान्त स्थान में जायें, जहाँ पर किसी का आवागमन न हो, तथा जहाँ किसी जीव की विराधना न होती हो और जो जल आदि सचित्त पदार्थों से रहित हो उस बगीचे की अचित्त भूमि में, अग्नि से दग्ध भूमि में और भी इसी तरह की निर्दोष भूमि में मलमूत्र का परिष्ठापन करना चाहिए ।^{१५२}

साधु-साध्वी को अपने महाव्रतों की रक्षार्थ समितियों के परिपालन में सदैव तत्पर रहना चाहिये ।

तीन गुप्ति :

'गुप् रक्षणं अर्थं वाली धातु से 'कित्त्' प्रत्यय होकर' 'गुप्ति' शब्द
१६

२४२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

बना है जिसका अर्थ है इन्द्रियाँ तथा मन-वचन व कायिक योगों का सम्यक् रूप से संगोपन करना अर्थात् उन्हें असत् प्रवृत्ति से हटाकर आत्माभिमुख करना ही गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं—मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति।

(१) मनोगुप्ति :

मनोगुप्ति का अर्थ है—मन की चंचलता का गोपन। पापजनक, सावद्य, क्रियायुक्त आस्रव करने वाले, छेदन-भेदन करने वाले, द्वेषकारी, परितापजनक, प्राणघातक एवं जीवोपघातक कुत्सित संकल्पों से मन को निवृत्त करना ही मनोगुप्ति है। निर्ग्रन्थ को अशुभ वृत्तियों में जाते हुए मन को पापमय विचारों से रोककर मनोगुप्ति का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए क्योंकि ऐसा नहीं करने से किसी-न-किसी रूप में उससे जीव हिंसा होती है।^{१५३}

(२) वचन गुप्ति :

आचारांग के अनुसार वचन को विशुद्ध बनाये रखना ही वचन गुप्ति है। यह अहिंसा व्रत की अद्वितीय भावना है। उसके अन्तर्गत बताया गया है कि श्रमण को सदोष वाणी का परित्याग कर वाणी-संयम का पालन करना चाहिये। जो वचन पापमय, सावद्य, जीवोपघातक तथा क्रियायुक्त हो, कठोर एवं कष्टजनक हो, उस वचन का प्रयोग या उच्चारण नहीं करना ही वचन गुप्ति है।^{१५४}

(३) काय गुप्ति :

आचारांग में बताया है कि निर्ग्रन्थ को मन और वचन के साथ ही शारीरिक प्रवृत्ति को शुद्ध रखना अथवा कायिक संयम रखना आवश्यक है। चूँकि उसे अपनी संयम-साधना में आवश्यक वस्त्र-पात्र आदि उपकरण उठाने-रखने की भी आवश्यकता पड़ती है। इसलिए जरूरत पड़ने पर उसे वह कार्य पूरी सावधानी से करना चाहिए अर्थात् भाण्डोपकरण आदि ग्रहण करने और रखने में, चलने-फिरने, बैठने-उठने और सोने में जो शारीरिक अंग-प्रत्यंगों की प्रवृत्ति हुआ करती है, उस पर नियंत्रण कर कायगुप्ति का पालन करना चाहिए। अविवेकपूर्वक शारीरिक क्रियाओं के करने से या उपकरणादि ग्रहण करने और रखने से जीवों की हिंसा होती है और वह पापबन्ध का कारण है।^{१५५}

इस प्रकार इन तीन गुप्तियों से महाव्रतों के पालन में सहायता

मिलती है। वास्तव में मन-वचन और कायरूप क्रिया योग द्वारा ही आत्मा में कर्मस्रव होता है। अतः नये कर्मबन्धन को रोकने और पुराने कर्मों को नष्ट करने में त्रिगुप्ति की साधना विशेष रूप से आवश्यक है। यथार्थतः समस्त आधार साधना के मूल में मन-वचन और काया की सदसद प्रवृत्ति और निवृत्ति ही मुख्य है। इसलिये साधु को मन, वचन और काया के अशुभ योगों का नियंत्रण करना चाहिये। यही श्रमण-श्रमणी का त्रिगुप्तिरूप सम्यक् आधार है।

बारह भावनाएँ :

साधना को सजीव और ओजस्वी बनाने के लिये मन की साधना अनिवार्य है। मन को साधे बिना साध्वाचार में शुद्धता नहीं आ सकती अतः मन को साधने तथा श्रद्धा और वैराग्य की स्थिरता एवं वृद्धि के लिये आचारांग में अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का प्रतिपादन किया गया है। वास्तव में पूर्व जीवन के विघटन और नये जीवन की निर्माण प्रक्रिया में इन अनुप्रेक्षाओं का बहुत अधिक उपयोग है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है— बार-बार चिन्तन करना। 'पासणाह चरिय'^{१५३} में भावना का लक्षण स्पष्ट करते हुये कहा है—'जिन चेष्टाओं और संकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों या मनोभावों को भावित या वासित किया जाय उन्हें भावना कहते हैं।' यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिस विषय का बार-बार अभ्यास किया जाता है उससे मन प्रभावित हुये बिना नहीं रहता। अतः ऐसे चिन्तन या अभ्यास को ही भावना कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने भी भावना और जप में अभेद माना है।^{१५७} आचारांग में इस दुःखमयता के बोध के लिये इस संसार की दुःखमयता का बोध होना आवश्यक भी है। आचारांग में स्वीकृत 'अनित्य' 'अशरण' एवं 'अशुचि' भावना के प्रत्यय को बौद्ध दर्शन में 'प्रथम आर्य सत्य' के रूप में स्वीकार किया गया है। मात्र यही नहीं, आचारांग में प्रतिपादित उक्त तीनों अवधारणाएँ अस्तित्ववाद के 'दुःखमयता' के प्रत्यय से पूरी तरह सहमत हैं।

सामान्यतया जैन दर्शन में अनुप्रेक्षा के अनेक प्रकार हैं। जिन-जिन विचारों से मानस को भावित किया जाय वे सब भावनाएँ हैं अर्थात् भावनाएँ असंख्य हैं। फिर भी उनके कई वर्गीकरण मिलते हैं। यथा— आचारांग में महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं की चर्चा है^{१५८} जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसी में अन्यत्र बारह भावनायें भी बिखरे रूप में निरूपित हैं। स्थानांग^{१५९} में भी धर्म एवं शुक्ल ध्यान की

२४४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

चार-चार भावनायें प्राप्त होती हैं। आचार्य उमास्वाति^{१९०} ने भी बारह भावनाओं का वर्णन किया है। बारह भावनायें निम्नानुसार हैं—

(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोकस्वरूप (११) बोधि-दुर्लभ और (१२) धर्म। इनसे साधक को सदैव अपनी आत्मा को भावित करते रहना चाहिए। इन अनुप्रेक्षाओं के बार-बार चिन्तन से मोह से निवृत्ति होती है और सत्य की प्राप्ति होती है। इन्हें वैराग्य की जननी भी कहा गया है। सूत्रकृतांग में कहा गया है—

भावणा जोग सुद्धप्पा जले नावावआहिया ।

गावाव तीरसपन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टई ॥^{१९१}

जिसकी आत्मा, भावना योग से शुद्ध है वह जल में नौका के समान है। वह तट को प्राप्त कर सब सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

बारह अनुप्रेक्षाओं के निरन्तर अभ्यास से साधक को अपनी धर्म साधना में दृढ़ता एवं स्थिरता प्राप्त होती है। इनसे जीवन विराट् और समग्र बनता है। वास्तव में जिन आध्यात्मिक गुणों के लिये साधना-पथ स्वीकार किया गया है, उनके विकास में ये भावनायें बड़ी उपयोगी हैं। इनके अभ्यास से शारीरिक एवं सांसारिक आसक्ति मिटती है और आत्म विकास होता है।

दशविध मुनि धर्म :

धर्म के दश लक्षण कहे गये हैं। धर्म मुनि को अमर बनाते हैं तथा आत्मा पर लगे हुए कर्म-मल को दूर करते हैं। इन धर्मों के द्वारा कषायों को जीतकर उनके विरोधी गुणों का अभ्यास किया जाता है। यही कारण है कि इन दशविध धर्मों का पालन करना श्रमण साधना के लिये परमावश्यक माना गया है। गृहस्थों को भी इनका यथाशक्य पालन करना चाहिये। वे दश धर्म इस प्रकार हैं—

(१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) आर्किचन्य और (१०) ब्रह्मचर्य।

इन दशविध धर्मों के अन्तर्गत सामान्यतया चार कषाय और पाँच पापों के अभाव का समावेश हो जाता है। मात्र यही नहीं, किन्तु इन धर्मों की विशिष्टता यह है कि उनमें कषायों एवं पापों के अभाव के साथ ही उनके उपशामक विधेयात्मक क्षमादि गुणों को अपनाने पर भी विशेष बल दिया गया है।

प्रथम चार-क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच-क्रोधादि चार कषायों के उपशामक विधानात्मक गुण है। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के उपशामक क्रमशः संयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और अर्किचन धर्म है और तप मुनि को तेजस्वी और आगे बढ़ाने वाला है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि आचारांग में इनसे सम्बन्धित चर्चा बिखरे रूप में मिलती है। इनके सम्बन्ध में कहीं एक साथ विवेचन नहीं मिलता है। फिर भी एक स्थान पर इनकी महत्ता अवश्य प्रस्थापित की गयी है। यथा—

विऊ नए धम्मपयं अणुत्तरं विणीय तण्हस्स मुणिस्स ज्ञायओ ।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पण्णा य जसो यवड्ढइ ॥

क्षमा मार्दवादि दस प्रकार के श्रेष्ठ धर्म में प्रवृत्ति करने वाले, विनयवान् सम्पन्न मुनि की, जो तृष्णा से रहित होकर समाधि एवं धर्म ध्यान में संलग्न हैं, तपश्चर्या, प्रज्ञा और यश अग्नि-शिखा की भाँति उत्तरोत्तर बढ़ता रखता है।^{११२}

दस धर्मों का वर्णन मनुस्मृति में भी मिलता है। क्रम में थोड़ा अन्तर अवश्य है पर आशय समान है। ईसा के पूर्वतोपदेश में भी दस शिक्षाएँ वर्णित हैं। वास्तव में दस धर्म कर्म प्रधान अथवा आचार संहिता रूप न होकर आत्म-चिन्तन और आत्म-शुद्धिपरक हैं।

अवग्रह याचना की विधि :

आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या (पीठ, फलक, उपाश्रयादि), संस्तारक आदि विशेष धर्मोपकरण संयम-साधना में सहायक होने से इनके ग्रहण करने का विधान है। लेकिन श्रमण-श्रमणी उक्त उपकरणों को गृहस्थ या स्वामी की अनुमति के बिना स्वीकार नहीं करता है, इतना ही नहीं, तृण जैसी तुच्छ वस्तु भी उनकी आज्ञा से ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि वे मन-वचन और काया से दत्तादान (चोर) के सर्वथा त्यागी होते हैं। अवग्रह याचना (आज्ञा मांगने) सम्बन्धी सात अभिग्रह और उनके भेद वर्णित हैं तथा आज्ञा-प्राप्त मकान में अवस्थित श्रमण-श्रमणी के पास यदि अन्य सम्भोग (समान समाचार) या असाम्भोगिक (अनन्य चारित्रिक) साधर्मि श्रमण-श्रमणी आये तो उनके साथ कैसा बर्ताव करे ? कैसे मकान की याचना करे ? आदि पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

संयम निष्ठ साधु अदत्त (बिना दिए) पदार्थ को ग्रहण नहीं करता। इतना ही नहीं, अपितु वह मुनि जिनके निकट दीक्षित हुआ है या जिनके

२४६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

पास रह रहा है उनके उपकरणों को भी बिना अनुमति के ग्रहण नहीं करता। पहले उनसे आज्ञा प्राप्त करके और फिर उनका प्रतिलेखन व प्रमाँन करके उन पदार्थों या उपकरणों को स्वीकार करता है।^{१९३}

धर्मशाला आदि में पहुँचने पर मुनि सोच-विचार कर उस उपाश्रय के स्वामी से आज्ञा माँगते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ? यदि आपकी इच्छा हो तो हम यहाँ ठहरने की आज्ञा चाहते हैं। आप हमें जितने समय तक और जितने क्षेत्र (भाग) में ठहरने की आज्ञा देंगे, उतने समय और उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे। अन्य जितने भी साधु-साध्वी आयेंगे वे भी उतने ही समय तक और उतने ही भाग में निवास करेंगे। उस अवधि के बाद विहार कर जाएँगे।^{१९४} इस प्रकार साधु-साध्वी को गृहस्थ से उपाश्रय या स्थान की आज्ञा लेनी चाहिए।

अतिथि रूप में साधु के साथ व्यवहार की विधि :

(१) साम्भोगिक साधु :

ठहरे हुए साधु साध्वी के पास यदि अन्य साम्भोगिक (समान समाचारी वाले) समनोज्ञ साधु साध्वी अतिथि रूप में पहुँच जावें तो वह साधु या साध्वी अपने द्वारा लाए आहारादि के लिए अतिथि साधु-या साध्वी को निमंत्रित करे और उस आहार से उनका आदर सत्कार करे।^{१९५}

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में कहा है कि समनोज्ञ साधु को अशनादि आहार के द्वारा अत्यन्त आदर-पूर्वक उनका सम्मान करे तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा भी करे।^{१९६}

(२) असाम्भोगिक साधु :

यदि अतिथि रूप में असाम्भोगिक साधु साध्वी आ जाए तो वहाँ अवस्थित स्थानीय साधु-साध्वी अपने द्वारा निर्दोष रूप से गवेषणा किए गए पीठ, फलक, शय्या-संस्तरक आदि के द्वारा उन समनोज्ञ साधु साधुओं को निमंत्रित करे अर्थात् सम्मान-सत्कार करे।^{१९७} तात्पर्य यह कि चरित्र-निष्ठ असाम्भोगिक (जिसके साथ आहार-व्यवहार न हो) साधु-साध्वी को आहार के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं से अतिथि साधु का सम्मान करना प्रत्येक साधु-साध्वी का कर्तव्य है।

अन्य मतावलम्बी भिक्षु के साथ व्यवहार :

गृहस्थ की आज्ञा प्राप्त कर लेने के बाद उस स्थान में ठहरते समय साधु-साध्वी को ऐसा कोई अशिष्ट या असभ्य आचरण नहीं करना

चाहिए, जिससे उस स्थान में ठहरे हुए अन्य मत के भिक्षुओं के मन को किसी तरह की ठेस पहुँचे या दुर्भाव पैदा हो। यदि वहाँ शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण आदि के छत्र, चामर, दण्डादि उपकरण पड़े हों तो उन्हें भीतर से बाहर और बाहर से भीतर न रखे और यदि वे सोए हों तो उन्हें जगाना भी नहीं चाहिए। इस तरह किंचित् मात्र भी उनके मन के प्रतिकूल या संक्लेश पहुँचाने वाला एवं अप्रीतिजनक कार्य न किया जाए।^{१९८}

मांगे गये उपकरण लौटाना :

सूई, कैंची, नाखून-छेदक- कर्णशोधिका आदि गृहस्थ से माँग कर लाये हुए उपकरण अन्य भिक्षुओं को न दिये जाँय और अपना काम पूरा कराके गृहस्थ के घर जाकर हाथ लम्बा कर भूमि पर रख दे तथा यह तुम्हारी वस्तु है ऐसा कहकर उसे दिखा दे, परन्तु हाथ में न दे।^{१९९}

अवग्रह याचना के सात अभिग्रह

- (१) सामान्य विधि के अनुसार आज्ञा लेना।
- (२) अन्य भिक्षुओं के लिए उपाश्रय को याचना करना और उनके लिये याचना किए गए मकान में ठहरना।
- (३) अन्य भिक्षुओं के लिये अवग्रह की याचना किये गये मकान में ठहरना किन्तु उनके द्वारा याचित मकान में नहीं ठहरना।
- (४) अन्य साधुओं के लिये अवग्रह की याचना नहीं करना। किन्तु अन्य भिक्षुओं द्वारा याचित मकान में ठहरना।
- (५) साधु अपने लिये मकान की याचना करता है, अन्य के लिये नहीं।
- (६) साधु जिस मकान की याचना करता है उसमें यदि तृण विशेष (पलाल) संस्तारक मिला हो तो शयनासन करता है अन्यथा उत्कुटादि आसनों के द्वारा रात्रि व्यतीत करता है।
- (७) जिस मकान की आज्ञा लेता है उसी स्थान पर पृथ्वी-शिला, काष्ठ की चौकी तथा पलाल आदि पहले से ही बिछा हुआ होगा तो शयनासन करता है अन्यथा उत्कुट आदि आसनों के द्वारा रात्रि बिताता है।^{१९०}

पाँच प्रकार के अवग्रह :

देवेन्द्र अवग्रह, राज अवग्रह, गृहपति अवग्रह, सागारिक अवग्रह और सार्धमिक अवग्रह। इन पाँच अवग्रहों का आचारांग में प्रतिपादन है। साधु-साध्वी का अवग्रह सम्बन्धी यही सम्पूर्ण आचार है।^{१९१}

२४८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

इन्द्रिय-निग्रह :

श्रमण-श्रमणी के लिए प्रिय-अप्रिय शब्द सुनना निषिद्ध है। मुनि के स्वाध्याय भूमि में स्वाध्याय करते समय, आहारादि के लिए बाहर जाते समय, स्थण्डिल भूमि में मलमूत्रादि का व्युत्सर्जन करते समय अथवा विहारादि करते समय मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द कानों में पड़ते हैं। आचारांग में यह कहा गया है कि मुनि राग-द्वेष या आसक्तिपूर्वक अच्छे-बुरे शब्दों को श्रवण करने का प्रयत्न या संकल्प न करे और न उन्हें सुनने की चाह से इधर-उधर गमनागमन करे।

सुनने योग्य शब्द :

आचारांग में चार प्रकार के वाद्य-यंत्रों का वर्णन मिलता है। (१) वितत, (२) तत, (३) घन और (४) सुषिर। वितत-मृदंग, नन्दा, झल्लरी आदि से निकलने वाले शब्द। तत-वीणा, विपञ्ची, ढोल आदि के शब्द। घन-हंसताल, कंसताल आदि के शब्द। सुषिर-शंख, वेणु एवं खरमुखो आदि वाद्य-यंत्रों से प्रस्फुटित शब्द। इन शब्दों को सुनने का प्रयास साधु न करे।^{१७२}

शब्द सुनने के निषिद्ध स्थान :

संयमनिष्ठ श्रमण-श्रमणी को खेतों में, जंगलों में, सरोवर एवं समुद्र आदि स्थानों में होने वाले शब्द, गाँव, नगर, राजधानी, आश्रम, सन्निवेश, पत्तन आदि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इसी भाँति बाग-बगीचे, वन-वनखण्ड, देवस्थान, सार्वजनिक सभा, प्रपा (जलदान) आदि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने की इच्छा नहीं करना चाहिए। नगर के त्रिपथ, चतुष्पथ, बहुपथ के स्थानों में होने वाले शब्द, भैंसशाला, वृषभशाला, अश्वशाला, हस्तिशाला, तथा कर्पिजल के निवास स्थानों, वर-वधू के मिलन के स्थानों में होने वाले मनोज्ञ शब्दों, गीतों को श्रवण करने की इच्छा से जाने-आने का मन में संकल्प नहीं करना चाहिए।

जहाँ बहुत लोग एकत्र होकर वीणा, ताल, ढोल आदि बजाते एवं नृत्य करते हों, उन स्थानों, तथा जिन स्थानों में स्त्री-पुरुष बाल-युवा, और वृद्ध रतिक्रीड़ा करते हों, हँसते हों, नाचते हों, खेलते हों, खाते-बाँटते और गिराते हों वहाँ होने वाले शब्दों को सुनने की चाह से जाने का संकल्प न करे। वस्त्राभूषणों से छोटी बालिका को सजाकर घोड़े पर बिठाकर ले जाया जा रहा हो, किसी अपराधी व्यक्ति को गधे पर बिठा-

कर वध्यभूमि ले जाया जा रहा हो, इन अवसरों पर होने वाले शब्दों को सुनकर उन स्थानों पर जाने का साधु संकल्प न करे।^{१७३} बहुत से शकट, रथ, म्लेच्छ एवं प्रान्तीय लोगों के स्थानों पर होने वाले अनेक तरह के शब्दों को सुनने के लिए मुनि वहाँ जाने का संकल्प न करे। इसी प्रकार जहाँ पर अपने राज्य के विरोध में या अन्य देश के राजा के विरोध में, दो देश के राजाओं के पारस्परिक विरोध में, कलह, वैर-विद्वेष या संघर्ष सम्बन्धी वार्तालाप चल रहा हो तो वहाँ जाकर मुनि उनकी बात-चीत न सुने।^{१७४}

न देखने योग्य वस्तुएँ :

आचारांग में मुनि को रूप-सौन्दर्य देखने का भी निषेध है। साधु-साध्वी फूल आदि से गुंथी गयी माला, स्वस्तिक आदि वस्त्रों से बनी हुई पुतलियाँ, विभिन्न प्रकार के आभूषणों से निर्मित पुरुषों की आकृतियों को देखने का संकल्प न करे। लकड़ी आदि से सौन्दर्यपूर्ण वस्तुएँ, पुस्तकें, चित्रकारी को भी राग-द्वेष, बुद्धि से देखने के लिए जाने का विचार न करे। इसी तरह हाथी दांत, कागज, मणि, पत्रों आदि से बनाई गई विविध वस्तुएँ, शिल्पकला एवं वास्तुकला अर्थात् विविध कलाओं एवं सुन्दर आकृतियों को देखने की दृष्टि से मुनि गमनागमन का विचार न करे।^{१७५} यह भी कहा है कि साधु-साध्वी इहलोक और परलोक सम्बन्धी दृष्ट-अदृष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि में आसक्त न हो। उन्हें सुनने-देखने की भी आकांक्षा न करे और न उनके प्रति राग-द्वेष करे। यही साधु की साधुता का इन्द्रिय-निग्रह रूप आचार है।^{१७६}

निष्कर्ष यह है कि श्रमण-जीवन साधना प्रधान है, आत्मोपलब्धि के लिए है। इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होने से राग-द्वेष पैदा होता है, चित्त अशान्त रहता है और स्वाध्याय, ध्यान आदि में विघ्न आता है।

पर-क्रिया रूप आचार (गृहस्थ के द्वारा की जाने वाली सेवा का निषेध) :

पर का अर्थ है—अन्य (दूसरा) और क्रिया का मतलब है आचरण या कार्य। अतः किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भिक्षु के शरीर पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया को पर-क्रिया कहते हैं। मुनि को गृहस्थ द्वारा की जाने वाली किसी भी प्रकार की सेवा, शुश्रूषा, शृंगार, उपचार आदि को स्वीकार करने का निषेध है।

मुनि, मन, वचन और काया से अपनी आत्मा के लिए कर्म-बन्धन रूप कोई क्रिया किसी से न करवाये। कोई गृहस्थ साधु के पैर आदि का

प्रमार्जन करे, पोंछ कर साफ करे, सम्मर्दन करे, शीतल या उष्ण-जल से धोए, तेल, घी आदि कोई स्निग्ध पदार्थ या औषधि विशेष से मालिश करे, लोघ्न, कर्क चूर्णादि से उबटन करे, विविध प्रकार के विलेपनों से आलेपन करे, पैरों के घाव रुधिरादि को निकाल कर साफ करे, पैरों में गड़े हुए कांटे निकाले और भी विशेष प्रकार से कोई शल्य चिकित्सा करे तो मुनि इनकार कर दे। इसी तरह साधु के शरीर में उत्पन्न हुए गंडा, फोड़ा, अर्श, पुलक, भगंदर आदि व्रणों को शल्य क्रिया द्वारा छेदन कर रुधिर को निकाले व साफ करे, शरीर पर से मलयुक्त प्रस्वेद को दूर करे, आँख, कान, दाँत, नखों के मैल को दूर करे तथा सिर के लम्बे केशों को, शरीर के दीर्घ रोमों को, गुह्य प्रदेशों के रोमों को या नखों को काटे, साफ करे तो मुनि उक्त क्रियाएं न करवाए। इसी तरह साधु को गोद में या पलंग पर बिठाकर या सुलाकर उसे आभूषणों से सुशोभित करे तो साधु ऐसी क्रियाओं को न मन से चाहे और न वचन व काया से करवाए। वह स्पष्ट रूप से इनकार कर दे।

इसी तरह बिना किसी परिस्थिति विशेष के भिक्षु-भिक्षु के बीच अथवा भिक्षुणी-भिक्षुणी के बीच उपर्युक्त पर-क्रिया का निषेध समझना चाहिए।

चिकित्सा का परिहार :

यदि कोई गृहस्थ साधु-साध्वी को रुग्ण समझकर शुद्ध या अशुद्ध मंत्र बल से चिकित्सा करे अथवा सचित्त कन्द-मूल, वृक्ष, छाल, हरी वनस्पति आदि का हनन कर या दूसरों से करवाकर उपचार करे तो साधु-साध्वी ऐसी सावद्य-पापमय चिकित्सा को मन से भी न चाहे तथा वाणी और शरीर द्वारा न करवाए। वह उस वेदना के समय यह चिन्तन करे कि प्रत्येक जीव अपने कृत अशुभ कर्मों के फलस्वरूप कटुवेदना का अनुभव करती है अतः मुझे भी स्वकृत कर्मजन्य इस वेदना को समभाव एवं समाधिपूर्वक सहना चाहिए। मेरे लिए यही कल्याणप्रद है। इस प्रकार वह अपने उपचार निमित्त किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाते हुए अपना संयम साधना में प्रयत्नशील रहता है। यही साधु-साध्वी का पर-क्रिया रूप आचार है।^{१७७} आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी अणगार के लिए हिंसामूलक चिकित्सा या जीवों को क्लेश पहुँचाने वाली चिकित्सा करवाने का निषेध है।^{१७८}

अन्योन्य क्रिया रूप आचार :

(१) साधु-साधु या साध्वी-साध्वी के बीच क्रिया का निषेध :

आचारांग में विशेष रूप से यह निरूपित है कि सामान्य स्थिति में

एक साधु दूसरे साधु के पैरों की मालिश न करे अथवा एक साध्वी दूसरी साध्वी के पैरों की मालिश आदि क्रिया न करे, अर्थात् परस्पर क्रिया न करे। यह कर्मबन्ध का कारण है। शेष वर्णन तेरहवें अध्ययन के समान ही समझना चाहिए।^{१७९}

स्वावलंबन की दृष्टि से ही एक-दूसरे की क्रिया करने का निषेध है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अस्वस्थ अवस्था में एक-दूसरे की सेवा-शुश्रूषा (वैयावृत्य) न की जाय। आचारांग तथा परवर्ती ग्रन्थों में वैयावृत्य को कर्मनिर्जरा का परम कारण बताया गया है।

चातुर्मास एवं मास सम्बन्धी कल्प :

श्रमण-श्रमणी के लिए आठ महीने निरन्तर पद-यात्रा और वर्षा के चार महीने जीव-रक्षा की दृष्टि से एक स्थान पर वास करने का विशेष विधान है। वर्षा के चार महीने एक स्थान पर स्थिर रहकर ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय या आत्म-चिन्तन एवं सदुपदेशों से जन-जागृति का कार्य करना श्रेयस्कर है। अतः आचारांग में चातुर्मास एवं मास कल्प विषयक अनेक मर्यादाएं निर्धारित की गई हैं।

एक स्थान पर वर्षावास :

वर्षा ऋतु के चार महीने तक साधु-साध्वी को जीव हिंसा से बचने तथा आवागमन के मार्ग अवरुद्ध होने के कारण एक ही स्थान पर चातुर्मास करने का विधान है। हरी, गोली तथा जीव-जन्तुओं से भरी भूमि पर चलना अहिंसा महाव्रती साधु के लिए निषिद्ध है।

वर्षावास के अयोग्य क्षेत्र :

संयम-साधना की शुद्धता के लिए निर्दोष भिक्षा, निर्दोष शय्या, निर्दोषमलोत्सर्ग भूमि एवं स्वाध्याय की अनुकूलता आदि की प्राप्ति भी आवश्यक है। अतः चातुर्मास लगने के पूर्व इनका पूरी तरह अवलोकन कर लेना चाहिए क्योंकि वर्षावास (चातुर्मास) जीव-रक्षा, संयम-साधना एवं रत्नत्रयी की आराधना के लिए किया जाता है। इसलिए साधु को इनमें दिव्यता व तेजस्विता लाने का मुख्य उद्देश्य रखना चाहिए।

वर्षावास करने वाले श्रमण-श्रमणी को क्षेत्र विषयक जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस विषय में कुछ निर्देश इस प्रकार हैं—

साधु-साध्वी ऐसे असुविधाजनक स्थानों पर चातुर्मास न करें :

(१) जिस गांव या नगर में एकान्त स्वाध्याय भूमि न हो, (२) मल-मूत्र त्याग करने योग्य भूमि न हो, (३) पीठ, फलक (चौकी) शय्या और

२५२ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

संस्तारक (तृणादि का बिछौना) की प्राप्ति सुलभ न हो, (४) प्रासुक एवं एषणीय आहार-पानी सुलभ न हो, (५) और शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, भिखारी लोगों के कारण अधिक भीड़ हो और जिससे प्रज्ञावान श्रमण-श्रमणी को जाने-अनजाने में स्वाध्यायादि में कठिनाई हो।^{१८०}

साधु-साध्वी इन स्थानों पर चातुर्मास कर सकते हैं :

(१) जहाँ स्वाध्याय भूमि हो, (२) मल-मूत्र के व्युत्सर्ग करने योग्य भूमि हो, (३) पीठ, फलकादि का मिलना सुलभ हो, (४) निर्दोष आहार-पानी सुलभता से प्राप्त होता हो, (५) और शाक्यादि भिक्षु या भिखारी लोगों की भीड़-भाड़ अधिक न हो।^{१८१}

चातुर्मास के पश्चात् ठहरने के कारण :

वर्षावास बौत जाने पर श्रमण-श्रमणी को वहाँ से अवश्य विहार कर देना चाहिए किन्तु यदि कार्तिक महीने में पुनः वर्षा हो जाए और इस कारण मार्ग हरियाली, घास, जीव-जन्तु और जालों से युक्त हो, लोगों का आना-जाना प्रारम्भ न हुआ हो तो श्रमण-श्रमणी चातुर्मास के बाद वहाँ पन्द्रह दिन और रहे। हेमन्त ऋतु के पन्द्रह दिन बीतने के पश्चात् मार्ग जीव-जन्तुओं से रहित हो चुका हो, अनेक शाक्यादि भिक्षुगण आने-जाने लगें तो साधु-साध्वी विवेकपूर्वक विहार कर दे।^{१८२}

मास कल्प :

विहार काल में एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं ठहरना यह साधु का कल्प (आचार) है। इसे मासकल्प कहा जाता है। संयम-शुद्धि, धर्म-प्रचार व शासनोन्नति की दृष्टि से श्रमण-श्रमणी को मर्यादित काल से अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए क्योंकि श्रमण-श्रमणी का प्रत्येक आचरण मर्यादा में ही होना चाहिए जिसमें श्रमण जीवन की व्यवस्था बनी रहती है और तप-त्याग-संयम भी निर्मल रहता है। ऐसा नहीं करने से अनेक दोषों को सम्भावना है। यह लोकोक्ति ठीक ही है कि—

बहुता पानी निर्मला पड्या सो गंदा होय।

साधु तो विचरता भला, दाग न लागे कोय ॥

मासकल्प के अयोग्य स्थान :

धर्मशाला, उद्यानगृह, गृहपति का कुल, एवं तापस, आदि के मठों में, जहाँ कि अन्य मतावलम्बी साधु-संन्यासी बार-बार आते जाते हों, रहते हों, वहाँ निर्ग्रन्थ मुनि को मासकल्प नहीं करना चाहिए।^{१८३}

जिन धर्मशाला आदि स्थानों में जो श्रमण-श्रमणी शीतोष्ण काल में मासकल्पादि तथा वर्षा काल में चातुर्मास कल्प बिताकर बिना कारण विशेष के पुनः पुनः वहीं आकर वास करते हैं तो वे काल का अतिक्रमण करते हैं अर्थात् कालातिक्रम दोष लगता है।^{१८४} अतः श्रमण-श्रमणी को मासकल्प एवं चातुर्मास कल्प के पश्चात् बिना किसी कारण के काल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। उत्तराध्ययन में कहा है कि काल-मर्यादा का पालन करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा करता है।^{१८५}

विशेष श्रमणाचार :

श्रमण-श्रमणी यथासमय अपने कर्मों की विशेष रूप से निर्जरा करने तथा अपने नैतिक जीवन में निखार लाने के लिए विशेष आचरणों या श्रम के द्वारा अपने आपको तपाता है और उनमें तपकर शुद्ध बन जाता है। समभावपूर्वक सब कष्टों को सहता हुआ अन्ततः उन पर विजय प्राप्त करता है। यही विशेष श्रमणाचार है। यहाँ विशेष श्रमणाचार के विषय में क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है।

तपश्चर्या :

आचारांग में श्रमण-श्रमणियों के चारित्रिक निखार, दृढ़ आत्मसंयम व अन्तःशुद्धि हेतु तपश्चर्या की महती आवश्यकता प्रतिपादित है क्योंकि तपःसाधना पूर्व-बद्ध कर्म पुद्गलों को निर्जीर्ण कर स्व-शक्ति को प्रकट करने के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। 'तप' की महत्ता को आंकते हुए आचारांग में कहा है कि यह एक प्रकार की अग्नि है, जिसके द्वारा पुराने कर्मों को शीघ्र ही भस्मीभूत किया जा सकता है। जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला डालती है, वैसे ही आत्मसमाधिस्थ और अनासक्त आत्मा कर्म-शरीर को शीघ्र जला डालती है।^{१८६} यही शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि है, यही आत्मा का विशुद्धीकरण है और यही तपसाधना का लक्ष्य है। इसीलिए प्राचीनतम जैनागमों एवं परवर्ती ग्रन्थों के मंथन से एक ही स्वर झंझूत होता है 'तवेण परिसुज्झई' तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है।^{१८७}

'तप्यते अनेन इति तपः' अर्थात् जिसके द्वारा तपाया जाय वह तप है। पद्मनन्दि पंचविंशतिका में भी तप का लक्षण करते हुए कहा है—सम्यग्ज्ञानरूपी चक्षु के धारक मुनि के द्वारा कर्मरूपी मैल को दूर करने के लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहते हैं।^{१८८}

तप के भेद :

आचारांग में बारह प्रकार के तपाचरण का वर्णन उपलब्ध होता है

२५४ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

किन्तु वहाँ परवर्ती ग्रन्थों की भाँति उन्हें अलग-अलग दो भेदों में नहीं बाँटा गया है। परन्तु जहाँ जैसा प्रसंग चल रहा हो वैसा वर्णन किया गया है। परवर्ती ग्रन्थों में तप को 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' दो प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है। दोनों के छः-छः भेद हैं।

(१) अनशन (२) ऊणोदरी या अवमौदर्य (३) वृत्तिपरिसंख्यान या भिक्षाचरी (४) रस-परित्याग (५) कायक्लेश (६) संलीनता या विविक्त शयनासन ये बाह्य तप हैं। (७) प्रायश्चित्त (८) विनय, (९) वैयावृत्य (१०) स्वाध्याय (११) ध्यान और (१२) कायोत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तप हैं।

बाह्य तप :

जिस तप में शारीरिक बाह्य क्रिया की प्रधानता रहती है और जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा युक्त होने से दूसरों को दृष्टिगोचर होता है, वह बाह्य तप कहलाता है।

अनशन, ऊणोदरी आदि तप से आहार एवं स्वाद विषयक इच्छा का निरोध कर आभ्यन्तर तप की ओर अग्रसर होने में मदद मिलती है। सबसे पहले बाह्य इच्छा आकांक्षा का निरोध आवश्यक है और वह शरीर से ही संभव है। इसीलिए उपवास, भूख से कम आहार, वस्तुओं की मर्यादा, रस का परित्याग तथा कायक्लेश आदि को तप कहा गया है।

अनशन :

न अशनं इति 'अनशन' अर्थात् सब प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है। यह अनशन दो प्रकार होता है—(१) अल्पकालिक और (२) यावत्कथित। एक अल्प समय के लिए किया जाता है और दूसरा जीवनपर्यन्त के लिए भी किया जा सकता है।

अल्पकालिक अनशन :

साधक को इन्द्रिय निग्रह या चित्त शुद्धि के लिए जब जैसी और जितनी आवश्यकता हो, वैसा अनशन करना चाहिए। इन्द्रिय-विषयों से पीड़ित मुनि के लिए आचारांग में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'अवि आहारं वोच्छिदेज्जा' वह मुनि आहार का परित्याग (अनशन) करे।^{१८९}

यावत्कथित अनशन तप :

यह जीवन के अन्तिम समय में किया जाता है अर्थात् मृत्यु के अत्यन्त निकट होने पर शरीर के परित्याग के लिए किया जाता है। इसे संलेखना

तप भी कहते हैं। भिक्षु या साधक को जब यह प्रतीत होने लगे कि उसका शरीर रोगग्रस्त या क्षीणकाय हो गया है, इसके द्वारा कोई विशेष उपलब्धि नहीं हो रही है, तब वह आहार का त्याग कर दे और समाधिमरण द्वारा मृत्यु का वरण कर ले। एतद्-विषयक विशेष विवेचना समाधिमरण अनशन^{१९०} के सन्दर्भ में की जाएगी अतः यहां गहराई में जाना अपेक्षित नहीं है।

अवमौदर्य (ऊणोदरी) :

इस तप के नाम से ही इसका अर्थ स्पष्ट होता है—भूख से कम खाना। जिस व्यक्ति की जितनी आहार की मात्रा है उससे अल्प आहार करना ऊणोदरी या अवमौदर्य तप कहलाता है। सूत्रकार स्पष्ट रूप से निर्देश देता है कि 'अवि अमोयरियं कुञ्जा'^{१९१} मुनि अवमौदर्य तप (कम खाना) करे। मुख्य रूप से अवमौदर्य के तीन भेद माने गए हैं—

(१) उपकरण अवमौदर्य (वस्त्र-पात्र करना), (२) भक्त-पान अवमौदर्य (आहार-पानी करना) (३) और भाव अवमौदर्य (कषायों को कम करना)।

आचारांग में 'जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति अमोयरियाए'^{१९२} अर्थात् जो मुनि निर्वस्त्र रहता है वह अवमौदर्य तप का अनुशीलन करता है, कहकर उपकरण अवमौदर्य तप का समर्थन किया है। तथा—

'कसाए पयणुएकिच्च अप्पाहारो तितिक्खए'^{१९३} अथवा 'आहारं संवट्टेज्जा, आणुपुब्बेण आहारं संवट्टेत्ता कसाय पयणुए किच्च'^{१९४} के द्वारा भाव अवमौदर्य एवं आहार अवमौदर्य तप को स्पष्ट किया गया है।

भिक्षाचरी या वृत्ति परिसंख्यान तप :

भिक्षा प्राप्ति के लिए मन में विविध प्रकार के अभिग्रहों (संकल्पों) को धारण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। इसे भिक्षाचरी तप भी कहा गया है यथा—'एक, दो, तीन या चार घर से ही भिक्षा लूंगा' अथवा 'अमुक प्रकार से दिए जाने वाले आहार-पानी की याचना करूंगा और निर्दोष मिल जाने पर उसे ग्रहण करूंगा' इत्यादि भिक्षा के विभिन्न नियमों का पालन करते हुए अभिग्रहों से युक्त जो मुनि भिक्षा ग्रहण करता है उसके वृत्तिपरिसंख्यान या भिक्षाचरी नामक तप होता है। आचारांग^{१९५} में भिक्षाचरी तप के प्रसंग में प्रतिज्ञापूर्वक सात पिण्डैषणा और सात पानैषणाओं की चर्चा की गयी है। इसी तरह

२५६ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

अभिग्रहपूर्वक वस्त्र^{१९९}, पात्र^{१९७}, शय्या^{१९८} के सन्दर्भ में भी वृत्तिपरि-संख्यान तप का विवेचन उपलब्ध होता है।

(४) रस-परित्याग :

दूध, दही, घी आदि रसों को प्रणीत पान भोजन कहते हैं। आचारांग के अनुसार रस-परित्याग का अर्थ है—प्रणीत रसयुक्त आहार-पानी का त्याग करना। इस तप से विषयाग्नि उद्दीप्त नहीं होती और ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने में बड़ी सहायता मिलती है। इसीलिए कहा है कि जो मात्रा से अधिक और प्रणीत रस प्रकाम भोजन नहीं करता है वही सच्चा निर्ग्रन्थ है। प्रणीत रस युक्त और प्रमाण से अधिक भोजन करने वाला निर्ग्रन्थ ब्रह्मचर्य का विघातक और धर्म से भ्रष्ट होता है अतः श्रमण-श्रमणी को स्निग्ध भोजन नहीं करना चाहिए^{१९९} अपितु 'अविणिव्वलामए'^{२००} निर्बल (निःसार) भोजन करना चाहिए क्योंकि निःसार या शक्तिहीन भोजन करने से शारीरिक शक्ति घट जाती है। अतएव आचारांग में काम-वासना को शान्त करने का पहला उपाय निर्बल आहार बतलाया गया है। आचारांग में 'पंतं लूहंसेवन्ति वीरा समत्तदंसिणो'^{२०१} सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वीर समत्वदर्शी मुनि सरस और स्वादिष्ट भोजन नहीं करते हैं अपितु वे प्रान्त (नीरस) और रूक्ष-भोजी होते हैं। इस प्रकार इस तप का मुख्य प्रयोजन स्वाद-विजय है।

(५) काय-क्लेश तप :

काय-क्लेश बाह्य तपाराधना का पांचवां प्रकार है। शीत-ताप, वर्षा आदि कष्टों को विशेष रूप से सहने का अभ्यास करना तथा वीरासन, गोडुहासन आदि विभिन्न आसनों के द्वारा शरीर को स्थिर करना कायक्लेश तप है। शरीरगत चैतन्य केन्द्रों को जगाने के लिए आसनों का बड़ा महत्व है तथा ब्रह्मचर्य के पालन में भी बड़ी सहायता मिलती है।

अतः आचारांग में कहा है 'अवि उड्ढंठाणं ठाइज्जा'^{२०२} मुनि ऊर्ध्वस्थान (घुटनों को ऊँचा और सिर को नीचा) कर स्थिर रहे या कायोत्सर्ग करे। प्रस्तुत सूत्र मुख्यतया सर्वांगासन, वृक्षासन, शीर्षासन आदि का बोधक है^{२०३}। भगवतीसूत्र में इस मुद्रा को 'उड्ढं जाणू अहोसिरे' के रूप में बताया है^{२०४}। हठयोग प्रदीपिका में भी 'अधः शिरश्चोर्ध्वपादः' का प्रयोग आया है। इस आसन से काम-केन्द्र शान्त होते हैं और परिणामतः कामवासना भी शान्त हो जाती है। इसी तरह

सर्दी-गर्मी सहने या आतापना लेने के पीछे भी एक विशेष दृष्टिकोण है। काय-क्लेश तप के प्रसंग में आचारांग के उपकरण विमोक्ष उद्देशक में यह भी कहा गया है कि जो भिक्षु लज्जा को जीतने में समर्थ हो वह सर्वथा अचेल रहे, कटि-बन्धन धारण न करे और जो गुप्तांगों के प्रति-च्छादन (वस्त्र) को छोड़ने में समर्थ नहीं है, इस कारण से वह कटि-बन्धन को धारण कर सकता है। उसे घास की चुभन होती है, सर्दी लगती है, गर्मी लगती है, डांस और मच्छर काटते हैं, फिर भी वह एक जातीय, भिन्न जातीय (नाना प्रकार के) स्पर्शों-कष्टों को सहन करता है, और लाघवता का चिन्तन करता हुआ अचेल रहता है। उस अचेल मुनि के उपकरण अवमौदर्य एवं कायक्लेश तप होता है।^{२०५} इसी तरह एक वस्त्रधारी^{२०६}, द्विवस्त्रधारी^{२०७} और निर्वस्त्रधारी^{२०८} मुनि के उपकरण के सन्दर्भ में भी जानना चाहिए।

अतः स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ साधु सर्दी-गर्मी, रति-अरति के कष्टों को सम्यक्तया सहन करता है। उनसे तनिक भी विचलित नहीं होता है। उन कष्टों या परीषहों के सहने में उसे जो पीड़ा होती है उस पीड़ा को वह पीड़ा रूप में वेदन नहीं करता है।^{२०९} इस प्रकार काय-क्लेश तप का प्रयोजन काया को कष्ट देना नहीं, अपितु साधना के उद्देश्यों की सम्पूर्ति के लिए शारीरिक क्षमता को विकसित करना है।

(६) प्रतिसंलीनता या विविक्त शय्यासन :

स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि से रहित श्मशान, गिरि-गुफा, शून्यागार आदि एकान्त स्थानों में निवास करना विविक्त शय्यासन तप है। इन्द्रिय, कषाय और योग संलीनता के भेद से विभिन्न^{२१०} ग्रन्थों में इसे प्रतिसंलीनता तप भी कहा गया है। आचारांग में कहीं प्रतिसंलीनता शब्द तो नहीं आया है किन्तु इन्द्रिय और योग के सन्दर्भ में 'आलीनगुप्त' शब्द का प्रयोग मिलता है। आचारांग में शय्यषणा नामक अध्ययन में विविक्त शय्या के बारे में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। श्रमण-श्रमणियों को शयन, आसन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग कहां करना चाहिए और कहां नहीं करना चाहिए? अथवा कहां नहीं ठहरना चाहिए?

आचारांग में मुनि को निर्देश देते हुए कहा है कि लोहकारशालाएँ, धर्मशालाएँ, देवकुल, प्रपाएँ, सभाएँ, प्याऊ, दुकानें, यानशालाएँ, चूने, काष्ठ, कौयले के कारखाने, श्मशान भूमि में बने हुए मकान, पहाड़ पर बने हुए मकान, पहाड़ी गुफा, शून्यगृह-शान्तिगृह, पाषाण-

२५८ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

मण्डप, तलघर आदि स्थानों में निवास करने से मुनि को कोई दोष नहीं लगता है अर्थात् ऐसे स्थानों में ठहरना कल्पता है।^{२११} महाश्रमण महावीर भी प्रायः ऐसे विविक्त स्थानों में निवास करते थे।^{२१२} इस प्रकार उपर्युक्त छः प्रकार शारीरिक या बाह्य तप साधना के हैं।

आभ्यन्तर तप :

जिस तप में बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा मानसिक क्रिया की प्रधानता रहती है और जिसका सम्बन्ध अन्तःशुद्धि से विशेष रहता है वह आभ्यन्तर तप कहलाता है। आत्म-परिशुद्धि की अपेक्षा इस तप का श्रमण-जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। यह छः प्रकार का है—

(१) प्रायश्चित्त :

जिससे प्रमादजनित दोषों या अपराधों का शोधन किया जाता है, वह प्रायश्चित्त तप है। आचारांग टीका एवं विभिन्न ग्रन्थों में प्रायश्चित्त के दस भेद बताए गए हैं। आचारांग में कहा है कि छठे गुणस्थानवर्ती मुनि से प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए जो कर्म-बन्ध होता है, उसका विलय विवेकादि प्रायश्चित्त के द्वारा होता है।^{२१३}

(२) विनय :

ज्ञानादि गुणों का बहुमान करना तथा गुरुजनों के प्रति आदर या सम्मान भाव रखना ही विनय तप है। ग्रन्थ में विनय के चार^{२१४} एवं सात भेद बतलाये गये हैं। आचारांग में कहा है कुछ असित (अणगार) आचार्यादि का अनुगमन करते हैं।^{२१५} जिनाज्ञाओं एवं उपदेशों के प्रति आदर रखना और तदनु रूप आचरण करना चारित्र्य विनय है। इस सन्दर्भ में, आचारांग में कहा है कि जिन शासन में स्थित आज्ञाकांक्षी (आगमानुसार या सर्वज्ञोपदेशानुसार अनुष्ठान करने वाला) पंडित पुरुष आज्ञाप्रिय होता है वह रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर (स्वाध्याय ध्यानादि) में यत्नवान् रहता है और सदाशील की सम्प्रेक्षा करता हुआ काम और मायादि से मुक्त हो जाता है।^{२१६} पुनश्च मेधावी पुरुष निर्देश का अतिक्रमण न करे।^{२१७} इसी तरह 'तमेव सच्चं णीसं कं जजिणोहि पवेदित' अर्थात् वही सत्य है जो जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित है इसमें शंका के लिए कोई अवकाश नहीं है।^{२१८} इस प्रकार जिनोपदेश में निःशंका होना दर्शन या श्रद्धा-विनय है।

(३) वैयावृत्य :

अपने शरीर द्वारा आचार्यादि की आहारादि के द्वारा सेवाशुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है। आचारांग में वैयावृत्य के सम्बन्ध में कहा है—

समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को परम आदरपूर्वक अशन, पान, खाद्य (आदिम) स्वाद्य (खादिम), वस्त्र-पात्र, कम्बल पादप्रौंछन आदि दे, उन्हें देने के लिये निमंत्रित करे और अत्यन्त आदरपूर्वक उनकी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करे ।^{२१९} रोगी भिक्षु के सम्बन्ध में कहा गया है कि एक भिक्षु अपने सार्धार्थिक और ग्लानभिक्षु की पारस्परिक उपकार एवं निर्जरा की दृष्टि से अशनादि चतुर्विध आहार के द्वारा वैयावृत्य करता है और उनके द्वारा की जाने वाली सेवा को स्वीकार भी करता है । इस तरह सेवा करने वाले मुनि के वैयावृत्य तप होता है ।^{२२०}

(४) स्वाध्याय :

प्रमादादि का त्याग कर आत्म-विकासकारी शास्त्रों का अध्ययन, मनन करना स्वाध्याय तप है । स्वाध्याय के नाम से ही स्पष्ट है कि स्वस्थ स्वस्मिन् वा अध्यायः इति स्वाध्यायः' अर्थात् जिसमें आत्म स्वरूप का अध्ययन या चिन्तन किया जाय वह स्वाध्याय है । आचारांग में स्वाध्याय भूमि के चयन तथा शारीरिक कुचेष्टाओं का त्याग कर साधु को स्वाध्याय में किस प्रकार संलग्न रहना चाहिये इस पर प्रकाश डाला गया है । एक तो निर्दोष व एकान्त स्वाध्याय भूमि का चयन करना चाहिये तथा दूसरे स्वाध्याय भूमि में गये हुये वे साधु परस्पर एक दूसरे के शरीर का आलिंगन न करें, न मुख चुम्बन करें, दाँतों या नखों से शरीर का छेदन भी न करे तथा जिस क्रिया या चेष्टा से मोह उत्पन्न होता हो इस तरह की कोई भी क्रिया न करें । स्वाध्याय में सदा यत्न-शील रहें ।^{२२१}

(५) ध्यान :

ध्यान के बिना आध्यात्मिक विकास सम्भव ही नहीं है । चित्त की स्थिर अवस्था ध्यान है अर्थात् विभिन्न क्रियाओं में भटकने वाली चंचल चित्तवृत्ति को किसी एक ही आलम्बन या विषय में स्थिर, निरुद्ध या केन्द्रित कर देना ध्यान तप है । आचारांग में महावीर की जीवन-साधना के सन्दर्भ में ध्यान विषयक अवधारणा मिलती है इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में ध्यान का स्वरूप, प्रकार या उनके भेद-प्रभेद आदि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

(६) व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग :

व्युत्सर्ग साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है । व्युत्सर्ग का अर्थ है— त्याग । वह दो प्रकार का है—ब्राह्म और आभ्यन्तर । जैन परिभाषा में

इसे द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग कहा गया है। शरीर, उपधि (वस्त्र-पात्रादि उपकरण) सहयोग और भक्त-पान इन चार बाह्य आलम्बनों का विसर्जन (त्याग) बाह्य व्युत्सर्ग है, और कषयादि आन्तरिक दोषों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग कहा गया है। उत्तराध्ययन में सोने, बैठने और खड़े रहने के समय शरीर को इधर-उधर न हिलाकर एक स्थान पर स्थिर रखना व्युत्सर्ग तप है। वहाँ केवल शरीर व्युत्सर्ग की बात कही गई है।^{२२२} इस तप के प्रसंग में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के धूत^{२२३} अध्ययन में संसार के हेतु राग-द्वेष कषाय बाह्य पदार्थों का त्याग एवं आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया का वर्णन है। 'धूत' का अर्थ होता है—प्रकम्पित, शुद्ध या त्याग करना। इसी तरह आचारांग के 'विमोक्ष' अध्ययन में आहार, शरीर, उपधि-पर सहाय और कषाय व्युत्सर्ग का विवेचन है।

'व्युत्सर्ग' को कायोत्सर्ग भी कहते हैं। कायोत्सर्ग का अर्थ है—कायस्य-उत्सर्गः अर्थात् काया का उत्सर्ग (शरीर को छोड़ देना) किन्तु प्रश्न यह है कि आयु के रहते शरीर का त्याग कैसे सम्भव है? यह शरीर अपवित्र है, असार है, अनित्य और विनाशशील है, इसमें आसक्ति ममत्व भाव रखना ही दुःख का मूल है, इस परिबोध से 'जीवोन्यः पुद्गलश्च अन्यः' आत्मा भिन्न है, और शरीर भिन्न है, का भेद-विज्ञान जाग्रत होता है और जिसे यह भेद-विज्ञान होता है वह 'एगो हंसिण मे अत्थि कोइ' इस एकत्व-भावना का तन्मयता के साथ चिन्तन करता है। इस प्रकार के दृढ़ संकल्प या चिन्तन से देहासक्ति शिथिल हो जाती है, उसके प्रति आदर-भाव घट जाता है। इस स्थिति का नाम कायोत्सर्ग है। इस विवेक-चेतना के जागरण से कायोत्सर्ग की भूमिका दृढ़तर होती जाती है, कायोत्सर्ग सधता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग का मूल अर्थ है—शरीर का अहंकार-ममकार छूट जाना, मानसिक ग्रंथियों का खुल जाना और तनावों का घट जाना।

वास्तव में, श्रमण-श्रमणियों की साधना का आधार मन, वचन और काय का सर्वथा विरोध करना है, परन्तु यह साधना इतनी आसान नहीं है कि साधक उसे सुगमतया साध सके। अतः उस अवस्था तक पहुँचने हेतु कायोत्सर्ग महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा साधु परिमित अवधि के लिए अपने योगों का निरोध करने का अभ्यास करता है। अतः आचारांग में साधकों की योग्यता एवं क्षमता को दृष्टिगत रखकर कायोत्सर्ग के चार अभिग्रह बताये गए हैं।

कायोत्सर्ग के चार अभिग्रह :

आचारांग में कहा है कि श्रमण-श्रमणी को निर्जीव एवं निर्दोष स्थान की एषणा कर चार प्रतिमाओं की धारणा करनी चाहिए—

(१) मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में स्थिर रहूँगा। आवश्यकतानुसार अचित्त दीवार आदि का अवलम्बन लूँगा। शरीर से हाथ-पैर आदि का संकोच विस्तार भी करूँगा तथा मर्यादित भूमि में पैरों को फैलाऊँगा।

(२) मुनि अचित्त स्थान में स्थिर रहकर दीवार आदि का सहारा ले सकता है, हस्तादि का संकुचन-प्रसारण भी कर सकता है किन्तु अपने स्थान से रंच मात्र भी इधर-उधर संक्रमण नहीं कर सकता।

(३) मुनि यह संकल्प करता है कि मैं अचित्त स्थान में स्थिर रहकर दीवार आदि का सहारा लूँगा किन्तु हाथ-पैर आदि के संकोच प्रसार को रोककर एक स्थान पर स्थिर रहूँगा।

(४) यहाँ मुनि को साधना चरमावस्था पर पहुँच जाती है। वह यह संकल्प करता है कि अचित्त स्थान में खड़े होकर कायोत्सर्ग करूँगा परन्तु दीवार आदि का सहारा नहीं लूँगा। हाथ-पैर आदि नहीं हिलाऊँगा अपितु एक स्थान पर स्थिर होकर रहूँगा अर्थात् कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर का सम्यक्तया निरोध करूँगा। उस समय यदि कोई मेरे केश, रोम, नख और श्मश्रू का उत्पाटन करेगा तो भी मैं अपने कायोत्सर्ग ध्यान से विचालित नहीं होऊँगा।^{२२४} यथार्थतः उस समय साधक अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को रोककर आत्म-केन्द्रित हो जाता है। तथा देहाभिमान से मुक्त होकर आत्म-दर्शन में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने शरीर पर होने वाली बाहरी क्रियाओं का पता भी नहीं चलता।

‘वोसट्ठकाये वोसट्ठकेस मंसु लोमनहे संनिरुद्धं वा’ का प्रयोग करके सूत्रकार ने इस बात को ओर संकेत किया है कि ये दो पद योग-साधना के मूलभूत अंग हैं। सम्भवतः इन्हीं अवधारणों के आधार पर परवर्ती योग-ग्रन्थों की रचना हुई हो।

वैदिक परम्परा में भी तपोसाधना आवश्यक मानी गई है। वेद,^{२२५} उपनिषद्^{२२६} शतपथ ब्राह्मण^{२२७} गीता,^{२२८} मनुस्मृति^{२२९} आदि में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

परीषह

परीषह नाम से ही स्पष्ट है कि जो सहा जाय वह परीषह कहलाता

२६२ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

है। श्रमण-साधना का मुख्य लक्ष्य है—समत्व। गीता में जिसे समत्व योग कहा है। इस समतायोग को भंग करने वाली अनेक अनुकूल-प्रतिकूल बाधाओं, कष्टों का या परिस्थितियों का साधु-साध्वी को सामना करना पड़ता है और वे परिस्थितियाँ या बाधाएँ ही श्रमण-श्रमणी के समत्व की परीक्षा की विशेष कसौटियाँ हैं। उनमें उत्तीर्ण होने वाला अर्थात् उन पर विजय प्राप्त कर लेने वाला साधक ही अपने लक्ष्य में सफल होता है। वास्तव में इन अनुकूल-प्रतिकूल कष्टों को सहने से साधक सांसारिक विषय भोगों से अनासक्त बनता जाता है। यूँ तो ऐसे कष्ट अगणित हो सकते हैं, किन्तु ग्रन्थों में मुख्यतः बाईस का वर्णन आता है। मुनि जिन-भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि कष्टों को सहता है, उन्हें आचारांग में 'परीषह' के नाम से अभिहित किया गया है। आचारांग में 'परीषह' के अर्थ में 'उपसर्ग' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। ये परीषह या उपसर्ग मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत और देवकृत होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचारांग^{२३०} में बाईस परीषहों का स्वरूप, वर्गीकरण आदि का क्रमशः एक साथ वर्णन नहीं मिलता है किन्तु विभिन्न प्रसंगों में बिखरे रूपों में बाईस परीषहों से सम्बन्धित चर्चा हुई है। वे बाईस परीषह इस प्रकार हैं—(१) क्षुधा (२) पिपासा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंसमसक (६) नाग्न्या (अचेल या अल्पवस्त्रत्व) (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार-पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन।

इस प्रकार श्रमण को अपने साधना मार्ग में आने वाले उक्त सभी कष्टों या परीषहों को समभाव एवं धैर्यपूर्वक सहते हुए अपने कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहना चाहिए। दृढ़ता के साथ उन पर विजय प्राप्त करना ही श्रमण-श्रमणी का विशेष आचार है। इस परीषहजय के द्वारा वह साधक अपने आपने आपको पूर्ण योगी या इन्द्रियजयी बना लेता है।

समाधिमरण भी एक कला है :

जैन साधना आनन्दपूर्वक जीने की साधना है। वास्तव में, आचार-मर्यादाओं से आबद्ध जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। आचारांग व्यक्ति को जीने की कला भी सिखलाता है और मरने की कला भी। जीवन जीने की कला का स्वरूप प्रायः सभी धर्म प्रणेताओं एवं नीतिज्ञों ने जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु आचारांग में

मृत्यु कला (समाधिमरण) जो कि जीवन का अवश्यम्भावी परिणाम या दूसरा पहलू है—का जितना सूक्ष्म एव सुन्दर निदर्शन है उतना स्पष्ट वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ जीवन है, वहाँ मृत्यु भी अनिवार्य है। प्रायः लौकिक अनुभव में हम देखते हैं कि मृत्यु का नाम सुनते ही मनुष्य प्रकम्पित हो जाता है, भयभीत हो जाता है। वास्तव में यह मृत्यु का भय ही संसार में सबसे बड़ा भय है। किन्तु आचारांगकार ने उसे भी उत्कृष्ट कला के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस मृत्यु कला की साधना में पूर्ण सफलीभूत होने वाला साधक ही उत्तीर्ण माना जाता है। जो उसमें असफल हो जाता है वह अपने वांछित साध्य से वंचित ही रह जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि अज्ञानी जीव इस मृत्यु कला के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण इस शरीर को छोड़ते समय आकुल-व्याकुल हो जाता है और इस मृत्यु को साधना में असफल हो जाता है। उसके विपरीत समत्वदर्शी साधक जीवन-मरण की आकांक्षा से रहित होने के कारण मध्य स्वभाव में स्थिर रहता है और जीवन भर किये गये साधना रूप शिखर पर मृत्यु कला का स्वर्ण-कलश चढ़ा लेता है। इस तरह जीवन और मृत्यु कला के सन्दर्भ में आचारांग का स्पष्ट उद्घोष है कि जब तक जीये यम-नियम, तप त्याग-संयम पूर्वक जीवन जीये और मृत्यु का भी समाधिपूर्वक वरण करें अर्थात् संलेखना के साथ प्राणों का विसर्जन कर दें।

वास्तव में साधक-जीवन न तो जीने के लिए है और न मरने के लिए। वह मोक्ष की अभोष्ट सिद्धि के लिए है। आचारांग में कहा है कि ऐसी मृत्यु से भिक्षु कर्मक्षयकर्ता बन सकता है और वह मृत्यु उसके लिए कल्याणप्रद होती है।^{२३१} इस तरह जिसे न तो जीने की आकांक्षा है और न मरने की कामना-वह दोनों में तटस्थ रहता है।^{२३२} वस्तुतः उसका जीना ही वास्तविक जीना है और उसका मरना ही वास्तविक समाधिमरण है।

संलेखना (समाधिमरण) का महत्त्व :

आचारांग से स्पष्ट विदित होता है कि मृत्यु साधक के लिए युद्ध है। इसमें विजय पाने वाला साधक सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। आत्म-धर्म से गिरे बिना परीषहों को सहते हुए समभावपूर्वक प्राणों का सहर्ष विसर्जन कर देना सामान्य बात नहीं है। इसके लिए असाधारण वीरता और साहस की आवश्यकता है। जिसने मरणधर्मा शरीर के स्वरूप को भलीभाँति समझ लिया है वह भेद-विज्ञाता ही स्वेच्छया इसका वरण कर सकता है। शरीर से निर्मोही व्यक्ति ही इस दिशा में बढ़ते हैं।

इसकी महत्ता को प्रतिष्ठित करते हुए सूत्रकार कहता है कि वास्तव में शरीर का विनाशकाल (मृत्यु) संग्राम-शीर्ष (युद्ध का अग्रिम मोर्चा) कहा गया है। जो मुनि उसमें हार नहीं खाता है वही (संसार का) पारगामी होता है। परीषहों या किसी भी घातक प्रहार से आहत होने पर भी वह फलक (लकड़ी का पटिया-जिस तरह लकड़ी के दोनों बाजू से छीलकर उसका फलक बनाया जाता है उसी तरह शरीर और कषाय दोनों ओर से कृश मुनि को 'फलगावयट्ठी' कहा जाता है) को भाँति कृश या सुस्थिर रहता है। मृत्यु निकट आने पर वह घबराता नहीं है बल्कि विधिवत् संलेखना धारण कर शरीर का अन्त होने तक काल (मृत्यु) की प्रतीक्षा करता है।^{२३३} (मृत्यु की आकांक्षा नहीं।) तात्पर्य यह कि वह एक वीर योद्धा की भाँति परीषहों या मनोविकारों के साथ युद्ध करने में मृत्यु से भय नहीं खाता है और न उससे बचने या पीछे हटने का प्रयास ही करता है, अपितु मृत्यु के सन्निकट आने पर शान्त और अविचल भाव से मृत्यु को जीत लेता है।

संलेखना का अर्थ व स्वरूप :

'संलेखना' जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। 'संलेखना' पद 'सम्' और 'लेखना' इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न है। 'सम्' का अर्थ है सम्यक्तया और 'लेखना' का अर्थ है कृश करना। अतः आचारांग में 'कसाय पयणुए किच्चा अप्पाहारो तितिक्खए' तथा 'अन्तो बहिं विउस्सिज्ज'^{२३४} द्वारा संलेखना के प्रयोजन को स्पष्ट किया गया है। संलेखना दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य संलेखना शरीरादि की होती है और आन्तरिक-संलेखना कषायों की। इसे द्रव्य और भाव संलेखना भी कह सकते हैं। साधक मृत्यु की निकटता को जानकर, आहारादि का त्याग कर समाधिपूर्वक मृत्यु को स्वीकार करता है। संलेखनापूर्वक मृत्यु को जैन आचार-शास्त्र में 'समाधिमरण' अथवा 'पंडित मरण' या 'संधारा' कहते हैं।

संलेखना करने का समय :

भिक्षु का आहार करना और नहीं करना दोनों सकारण है। जब तक यह शरीर रत्नत्रय की साधना में सहायक रहे, तब तक शरीर का सामान्यतया पोषण करना आवश्यक है, किन्तु 'जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवति—पुट्ठो अबलो अहंसि, णालमहमंसि गिहंतर संकमणं भिक्खायरिय-गमणए'^{२३५} जब भिक्षु को ऐसा प्रतीत होने लगे कि मैं रोगाक्रान्त होने के

कारण दुर्बल हो गया हूँ, मैं भिक्षा के निमित्त विभिन्न घरों में जाने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ अर्थात् संयम निर्वाह करने में अक्षम हो चुका हूँ अथवा 'नस्सणं भिक्खुस्स एवं भवति—से गिलम्मि च खलु अहं इमंसि समयं इमं सरीरगं अणुपुब्बेण परिवहित्तए',^{२३३} जब उसे ऐसा लगे कि मैं सचमुच इस समय ग्लान (शरीर से अशक्त, दुर्बल, रोगाक्रान्त एवं समयोचित आवश्यक क्रिया करने में) हो रहा हूँ और इस अत्यन्त ग्लान शरीर को वहन करने में असमर्थ हो रहा हूँ' ऐसी स्थिति में वह ग्लान भिक्षु संलेखना व्रत धारण करता है।

संलेखना-विधि (आकस्मिक और क्रमप्राप्त) :

आचारांग में संलेखना की विधि के मुख्य रूप से तीन अंग बताए गये हैं—(१) आहार का अल्पीकरण (२) कषाय का कृशीकरण और (३) शरीर का स्थिरीकरण। यद्यपि काल की अपेक्षा से संलेखना (समाधिमरण) विधि की उत्कृष्ट अवधि बारह वर्ष की बतलाई गई है, किन्तु यहाँ वह विवक्षित नहीं है क्योंकि ग्लान की शारीरिक स्थिति उतने समय तक टिके रहने की नहीं होती। अतः ग्लान भिक्षु को अपनी शारीरिक स्थिति व क्षमता को ध्यान में रखकर तदनु रूप योग्यतानुसार (त्रिविध समाधिमरण में से) किसी एक का चयन कर संलेखना की आराधना शुरू कर देनी चाहिए। आचारांग में इस विधि क्रम को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अपनी शारीरिक असमर्थता को देखते हुए वह भिक्षु क्रमशः आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे। आहार को संक्षेप करते हुए क्रमशः कषायों का संवर्तन (कृश) करे। कषायों को कृश या मन्द करके समाधि-युक्त लेश्या (परिणाम) वाला बने तथा फलक की भाँति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बना हुआ वह ग्लान भिक्षु संलेखना (समाधिमरण) के लिए उत्थित होकर शरीर को स्थिर-शान्त करे।^{२३७}

इसी तरह, भक्त-प्रत्याख्यान आदि किसी एक अनशन को पूर्णतः सफल बनाने के लिए किसी एक अनशन का पूर्ण संकल्प ग्रहण करने के पहले साधक को मुख्य रूप से निम्नोक्त क्रम को अपनाना आवश्यक है या क्रमिक साधना आवश्यक है। आचारांग में संलेखना की अनुक्रमिक साधना की ओर संकेत करते हुए कहा है—

अणुपुब्बेण विमोहाइं जाइंधीरा समासज्ज ।

वसुमंतो मतिमंतो सव्वं णच्चा अणेलिसं ॥^{२३८}

२६६ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

अर्थात् धैर्यवान्, संयमी, मतिमान (हेयोपादेय-पारिज्ञाता) भिक्षु साधना के क्रम में प्राप्त होने वाले अनशन का उपयुक्त समय जानकर या इस सम्बन्ध में सब कुछ जानकर उनमें से (भक्तप्रत्याख्यान इत्वरिक और पादोपगमन में से) एक और अद्वितीय (समाधिमरण) को अपनाए। यहाँ सूत्रकार ने 'अणुपुब्बेण विमोहाइ' पद द्वारा क्रम प्राप्त संलेखना या दोनों प्रकार के अनशनों की ओर संकेत किया है। (विशेष विवेचन के लिये आचारांग १।८।८ की टीका देखें)

भिक्षु मृत्यु से भय नहीं खाता है। वह प्रारम्भ से ही जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए अनशन के क्रम-प्राप्त और आकस्मिक अन्तर्बाह्य विधि-विधानों, कृत्याकृत्य को समझकर तथा अपनी शक्ति को देखते हुए इनमें से यथायोग्य एक ही संलेखना का चयन करके मृत्यु को सफल बनाने का प्रयास प्रारम्भ कर देता है और विभिन्न तपश्चर्या आदि के द्वारा अपने को समाधिमरण के योग्य बना लेता है। सूत्रकार क्रम से प्राप्त होने वाले अनशन की ओर इंगित करते हुए कहता है कि धर्म के पारगामी प्रबुद्ध भिक्षु (संलेखना-साधक) बाह्य (शरीर उपकरणादि) और आभ्यन्तर (रागादि-कषाय) दोनों रूपों की हेयता अनुभव करके (प्रव्र-ज्यादि के) क्रम से चल रहे संयमी-शरीर को छोड़ने या विमोक्ष का अवसर जानकर आरम्भ या प्रवृत्ति से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं।^{२३९}

यहाँ 'आरम्भाओ' शब्द हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु आहारादि के अन्वेषण रूप जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें निवृत्त हो जाना है। इस सम्बन्ध में टीकाकार^{२४०} का भी यही मत है। समाधिमरण के लिये उद्यत साधक को संलेखना करना आवश्यक है और संलेखना में 'कषाय की तनुता, आहार की अल्पता और तितिक्षा (परीषह आदि को सहना) आवश्यक है। यदि आहार की अल्पता करते-करते वह भिक्षु संलेखना काल में ग्लान हो जाए अथवा आहार करने से ग्लानि होती हो तो वह उस ग्लान अवस्था में आहार का सर्वथा त्याग कर दे।^{२४१} अर्थात् आहार का त्याग कर किसी भी अनशन को अपना ले। कहा गया है कि संलेखना एवं अनशन की साधना में अवस्थित भिक्षु जीवन-मरण की आकांक्षा से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक साधना में संलग्न रहे तथा समाधि का सम्यक्तया अनुपालन करते हुए अन्तर्बाह्य का व्युत्सर्ग कर शुद्ध अध्यात्म की एषणा करे।^{२४२} अबाध रूप से चल रहे संलेखना-कालीन जीवन में यदि बीच में ही कोई विघ्न उपस्थित हो जाए और

मृत्यु की सम्भावना हो तो ऐसी स्थिति में भिक्षु को क्या करना चाहिए ? सूत्रकार कहते हैं—

जं किंचु वक्कमं जाणे आउखेमस्स अप्पणो ।

तस्सेव अन्तरद्वाए खिप्पं सिक्खेज्जपंडिए ॥^{२४३}

उस क्रमिक चल रहे संलेखना काल के बीच यदि कोई रोग, आतंक आदि उपस्थित हो जाए ओर भिक्षु अपनी आयु को क्षेम रूप से (समाधि-पूर्वक) बिताने का कोई उपाय जानता हो तो वह उस उपाय को संलेखना काल के मध्य में ग्रहण कर ले और यदि उसके शान्त होने की कोई सम्भावना न हो तो उस चल रहे संलेखना क्रम के बीच ही वह पंडित भिक्षु शीघ्र हो (भक्त-प्रत्याख्यान आदि) किसी एक अनशन को स्वीकार कर ले ।

समाधिमरण के प्रकार :

गोम्मटसार में देह त्याग के च्युत (आयु पूर्ण होने पर मृत्यु हो जाना) च्यावित (विष-भक्षणादि के द्वारा होने वाला मरण) और त्यक्त (समाधि पूर्वक होने वाला मरण) इन तीन भेदों का उल्लेख मिलता है । आचारांग में समाधिमरण पूर्वक होने वाले तीन अनशनों का विशद विवेचन किया गया है । वे तीन प्रकार हैं—भक्तप्रत्याख्यान या भक्तपरिज्ञा, अनशन, इत्वरिक अनशन और पादोपगमन अनशन । इस प्रकार आचारांग में क्रम प्राप्त और आकस्मिक संलेखना (समाधिमरण) के भेद से अनशन तीन प्रकार के बताए गए हैं ।

अतः प्रसंगानुसार संक्षेप में हमें यहाँ यह भी जान लेना नितान्त आवश्यक होगा कि आकस्मिक और क्रम-प्राप्त अनशन किसे कहते हैं ।

आकस्मिक अनशन :

जो अकस्मात् उपसर्ग उपस्थित होने पर, शरीर-बल या जंघा-बल क्षीण होने पर या दुःसाध्य मृत्युदायक रोगादि कारण उत्पन्न होने पर, तथा स्वयं में उठने-बैठने आदि की बिल्कुल शक्ति न रह जाने पर किया जाता है, वह आकस्मिक अनशन है । आचारांग के अष्टम अध्यायन के पांचवें, छठें और सातवें उद्देशक में आकस्मिक अनशनों का वर्णन है । आकस्मिक अनशन को अपराक्रम और अविचार भी कहा जाता है ।^{२४४}

आनुपूर्वी (क्रम-प्राप्त) अनशन :

क्रमशः काय और कषाय की कृशतापूर्वक किया जाने वाला अनशन क्रम-प्राप्त या आनुपूर्वी कहा जाता है अर्थात् आनुपूर्वी (क्रम-प्राप्त)

२६८ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

अनशन तब किया जाता है जब तक शरीर-बल क्षीण न हो अर्थात् शरीर समर्थ रहे। आचारांग में इसके लिए आनुपूर्वी शब्द का प्रयोग मिलता है।

भक्तप्रत्याख्यान :

‘भक्तप्रत्याख्यान’ जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। भक्त का अर्थ है भोजन और प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग करना। अतः भक्त प्रत्याख्यान का अर्थ हुआ—मृत्यु के निकट काल में आहार-पानी का त्याग करना।

आचारांग में अभिग्रहनिष्ठ मुनियों द्वारा ग्रहण किए जाने वाले विभिन्न प्रकल्पों (विशिष्ट आचार-मर्यादाओं, संकल्पों) या प्रतिज्ञाओं की चर्चाएं आई हैं। यहाँ भिक्षुओं द्वारा ग्रहीत वैयावृत्य (सेवा) के छः प्रकल्पों या संकल्पों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१) कुछ भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं ग्लान हूँ, सार्धमिक भिक्षु अग्लान हैं, स्वेच्छा से उन्होंने मुझे सेवा का वचन दिया है अतः वे सेवा करेंगे तो मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

(२) किसी भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है कि मेरा सार्धमिक भिक्षु ग्लान है, मैं अग्लान हूँ। उसके द्वारा अनुरोध नहीं करने पर भी मैंने उसे सेवा के लिए कहा है। अतः निर्जरा आदि की दृष्टि से मैं उसकी सेवा करूँगा।

(३) कोई भिक्षु यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं सार्धमियों के लिए आहारादि लाऊँगा और उनके द्वारा लाया हुआ आहार स्वीकार भी करूँगा।

(४) अथवा कोई मुनि यह अभिग्रह ग्रहण करता है कि मैं सार्धमिक भिक्षुओं के लिए आहारादि लाऊँगा किन्तु उनके द्वारा लाए हुए आहारादि का सेवन नहीं करूँगा।

(५) अथवा किसी भिक्षु का यह संकल्प होता है कि मैं सार्धमिकों के लिए आहारादि नहीं लाऊँगा। किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ आहारादि स्वीकार करूँगा।

(६) किसी का यह अभिग्रह होता है कि मैं न तो उनके लिए आहारादि लाऊँगा और न उनके द्वारा लाया हुआ आहारादि सेवन करूँगा।^{२४५}

उक्त छः प्रकार की प्रतिज्ञाओं में से भिक्षु अपनी शक्ति एवं रुचि के अनुसार चाहे जिस प्रतिज्ञा को स्वीकार करे या उत्तरोत्तर सभी

प्रतिज्ञाओं को भी ग्रहण कर सकता है, किन्तु प्रत्येक भिक्षु अपनी ली गई प्रतिज्ञा का जीवन के अन्तिम क्षण तक दृढ़ता से पालन करे। उक्त छः प्रकार की प्रतिज्ञाओं में से छठी प्रतिज्ञा को धारण करने वाला वह भिक्षु ग्लान हो जावे और अपना आहार-पानी लाने में असमर्थ रहे तब भी वह स्वग्रहीत प्रतिज्ञा पर अटल रहे। वह अपनी पूर्वग्रहीत प्रतिज्ञानुसार दूसरों के द्वारा लाए हुए आहार पानी को स्वीकार न करे अर्थात् जंघाबल या शरीरबल क्षीण हो जाने पर आहार-पानी का त्याग कर समाधिमरण द्वारा प्राणों का विसर्जन कर दे किन्तु प्रतिज्ञा का भंग न करे। इस प्रकार उक्त प्रतिज्ञाधारी भिक्षु तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित धर्म के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानता हुआ शान्त, विरत और प्रशस्त लेश्या (विचार धारा) में समाहित आत्मा वाला बने। वह ग्लान भिक्षु प्रतिज्ञा का पालन करता हुआ यदि उस भक्त-प्रत्याख्यान में प्राण-विसर्जन करता है तो उसकी वह काल-मृत्यु होती है। उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (पूर्ण कर्म क्षय) करने वाला होता है। वह मृत्यु-मोह से मुक्त भिक्षुओं का आयतन, हितकर, सुखकर, कल्याणकर और भविष्य में साथ चलनेवाली होती है।^{२४६}

क्रम-प्राप्त संलेखना काल पूर्ण होने के बाद या ग्लान होने पर भिक्षु गाँव अथवा अरण्य-जहाँ भी स्थित हो वहाँ स्थण्डिल भूमि को सम्यक् रूप से प्रतिलेखन व प्रमाजन करे। तदनन्तर उस निर्दोष भूमि में घास का संस्तारक करे। फिर वह उस तृण-शय्या पर बैठकर तथा जल वर्जित या जल सहित चारों आहार का त्याग कर शान्त भाव से लेट जाए। उस स्थिति में परीषह आने पर उन्हें सहन करे।^{२४७}

भक्तपान में सावधानियां :

(१) मनुष्यकृत अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर भी मर्यादा का अतिक्रमण न किया जाय।

(२) परीषहों के उपस्थित होने पर यह चिन्तन किया जाय कि ये प्राणी मेरे शरीर का हनन कर रहे हैं (मेरी आत्मा का हनन नहीं कर रहे हैं) उनसे संत्रस्त होकर उस स्थान से विचलित न हो अर्थात् स्थान न बदले।

(३) आस्रवों से पृथक् हो जाने के कारण तृप्ति का अनुभव करता हुआ उन्हें समभावपूर्वक सहन करे।

(४) संसर्पण करने वाली (चींटी आदि) आकाशचारी जीव

२७० : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

तथा विलवासी (सर्प आदि) जन्तु शरीर का मांस खाएं, रक्त पीए तब भी उनका घात नहीं करे और उनका प्रमार्जन (निवारण) भी नहीं करे ।^{२४८}

इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर ग्रंथियों से वह भिक्षु आयु-काल की या अनशन की प्रतिज्ञा का पार पा जाता है ।^{२४९}

(२) इत्वरिक अनशन-शरीर विमोक्ष के सन्दर्भ में :

इत्वरिक अनशन का अर्थ व स्वरूप :

यह अनशन का द्वितीय प्रकार है । 'इत्वरिक' का अर्थ है थोड़े से निश्चित प्रदेश में जीवन भर संक्रमण करना । इसे इंगित मरण भी कहते हैं इंगित का अर्थ है जिसमें गमनागमन सम्बन्धी भूमि-प्रदेश इंगित कर दिया जाता है । इत्वरिक अनशन को स्वीकार करने वाला साधक मर्यादित भूमि में उठने-बैठने, सोने आदि से सम्बन्धित शारीरिक क्रियाएं कर सकता है । अतएव इस अनशन को 'इत्वरिक' अनशन कहा गया है । यहाँ इसका अल्पकालिक अर्थ अभिप्रेत नहीं है अपितु थोड़े से निश्चित या नियत क्षेत्र से है । इसके स्वरूप को अभिव्यंजित करते हुए सूत्रकार कहता है—

आयवज्जं पडियारं विजहिज्जा तिहा-तिहा (आचारांग, १।८।८)
इस अनशन में स्थित भिक्षु अंग-प्रत्यंगों के व्यापार (संचार) में मनसा-वाचा और कर्मणा दूसरे का सहारा न ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे अर्थात् सीमित स्थान में स्वयं उठना, बैठना आदि क्रियाएं कर सकता है किन्तु उठने, बैठने और चक्रमण में अपने अतिरिक्त किसी दूसरे के सहारे (परिचर्या) का तीन करण और तीन योग से त्याग कर देता है ।^{२५०}

इत्वरिक अनशन के योग्य स्थान :

संलेखना—साधक भिक्षु गांव में, नगर में, खेड़े में, कबूट में, मंडप में, पत्तन में, द्रोणमुख आकर, आश्रम, सन्निवेश, निगम या राजधानी में, कहीं भी इस अनशन को ग्रहण कर सकता है ।

जहाँ पर कीड़े, अण्डे, जीवजन्तु-बीज, हरीत, ओस, उदक, चीटियों के बिल, फफूंदी, गीली मिट्टी और मकड़ी के जाले हों उस स्थान पर यह अनशन स्वीकार नहीं करना चाहिए ।^{२५१}

इत्वरिक अनशन ग्रहण-विधि :

एकत्व^{२५२} भावना में संलग्न मुनि अनास्वाद^{२५३} वृत्ति से रूक्ष आहार

करने से शारीरिक दुर्बलता का अनुभव करता है तब उसके मन में समाधिमरण की भावना उत्पन्न होती है और वह उस समय आहार और कषाय को कृश करता हुआ अथवा क्रमशः संलेखना करता हुआ उपर्युक्त किसी भी ग्रामादि में प्रवेश कर सूखे तृण-पलाल आदि की याचना करे, और उसे प्राप्त कर गांव या गांव आदि के बाहर एकान्त निरवद्य, निर्दोष एवं निर्जीव स्थान पर जाये। उस स्थान को भलीभांति देखकर, उसका प्रमार्जन कर वहाँ तृण-शय्या बिछाए। तृण-शय्या बिछाकर उस पर स्थित हो उस समय इत्वरिक अनशन स्वीकार करे अर्थात् शारीरिक क्रियाएं करने में समर्थ भिक्षु जीवन-पर्यन्त नियमतः चतुर्विध आहार के परित्याग के साथ ही मर्यादित स्थान में शारीरिक क्रियाएं करने का संकल्प कर ले।^{२५४}

इत्वरिक अनशन का अधिकारी :

इत्वरिक अनशन की श्रेष्ठता एवं उसे स्वीकार करने वाले साधक की योग्यता को प्रतिपादित करते हुए सूत्रकार का स्पष्ट कथन है—

पगग हिय तरगं चेर्यं, दवियस्स विजाणतो ।

अयं से अवरे धम्मे णायपुत्तेण साहिए ॥

(आचारांग—१।८।८)

भगवान महावीर ने इत्वरिक अनशन का आचार धर्म भक्त-प्रत्याख्यान से भिन्न प्रतिपादित किया है और यह इत्वरिक अनशन प्रथम (भक्त-प्रत्याख्यान) की अपेक्षा उच्चतर या श्रेष्ठतर है। इसे ज्ञानी, द्रविक (विशिष्ट ज्ञानी ओर संयमी) ही स्वीकार कर सकते हैं।^{२५५}

आवश्यक निर्देश :

(१) इस अनशन को स्वीकार करने वाला भिक्षु हरियाली या वनस्पति पर शयन न करे अपितु निर्जीव एवं निर्दोष भूमि पर शय्या बिछाए।

(२) वह अणाहारी भिक्षु बाह्याभ्यन्तर उपधि का त्याग कर विचरण करे तथा परीषहों के होने पर उन्हें सहन करे।

(३) वह अनाहारी भिक्षु इन्द्रिय ग्लान (श्रान्त) हो परिमित मात्रा-सहित भूमि में हाथ पैर आदि का संकोच-प्रसार करे अथवा समता धारण करे।

(४) अनशन में स्थित मुनि बैठकर या लेटे हुए श्रान्त हो जाए तब वह शरीर-संथारण या शरीर की समाधि के लिए अभिक्रमण और प्रति-

२७२ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

क्रमण (गमनागमन) करे। हाथ-पैर आदि को सिकोड़े-फैलाए। यदि शक्ति हो तो इस अनशन में भी अचेतन व्रत अर्थात् पादोपगमन की भांति निश्चेष्ट रहे।

(५) यदि वह श्रान्त हो जाए तो चक्रमण करे, चलने पर थक जाए तो सीधा खड़ा हो जाए। खड़ा-खड़ा श्रान्त हो जाए, तो अन्त में बैठ जाए।

(६) इस अनुपम अनशन की साधना में लीन भिक्षु अपनी इन्द्रियों को सम्यक् रूप से संचालित या प्रेरित करे अर्थात् इष्ट-अभीष्ट, इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष न करे।

(७) वह घुन-दोमक आदि से युक्त काष्ठ, स्तम्भ, पट्टे आदि का सहारा न ले किन्तु घुन-दोमक आदि से रहित काष्ठ स्तम्भ आदि की एषणा करे।

(८) जिसका सहारा लेने से बज्रवत् भारी कर्म उत्पन्न हो, ऐसी सद्दोष काष्ठ, फलक आदि वस्तुओं का सहारा न ले। उससे अपने आपको दूर रखे और वहाँ उपस्थित सभी कष्टों को सहन करे।^{२५४} इतना ही नहीं, भक्तप्रत्याख्यान अनशन में जिन सावधानियों का निर्देश दिया है उनसे भी इस अनशन में सतर्क रहना आवश्यक है।

इत्वरिक अनशन का महत्त्व :

वास्तव में, यह अनशन सत्य स्वरूप है। इसे स्वीकार करने वाला सत्यवादी, वीतराग, तीर्ण (संसार पारगामी) 'इस अनशन को प्रतिज्ञा को निभा पाऊँगा या नहीं' इस संशय से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, जीवा-जीवादि पदार्थों का परिज्ञाता, इस शरीर को क्षणभंगुर मानकर नाना प्रकार के परीषर्हों को सहकर भेद-विज्ञान की भावना तथा इस भैरव (भयानक) अनशन का अनुपालन करता हुआ क्षुब्ध नहीं होता है। इस अनशन में उसकी वह मृत्यु काल-मृत्यु होती है, तथा हितकर, सुखकर, कल्याणकर, कालोचित और भविष्य में अनुगमन करने वाली होती है।^{२५७}

पादोपगमन अनशन-शरीर-विमोक्ष के सन्दर्भ में :

लक्षण :

पादोपगमन अनशन में आहार एवं कषायों के त्याग के साथ ही शरीर का ममत्व, शारीरिक प्रवृत्तियाँ एवं गमनागमन का प्रत्याख्यान किया जाता है। आचारांग में कहा गया है—'कायं च गोयं च इरियं च

पञ्चक्खाएज्जा^{२५८} इस अनशन को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए हाथ-पैर आदि शारीरिक अवयवों का तनिक भी संकोच-विस्तार करने का प्रत्याख्यान करना होता है। साथ ही चलने-फिरने आदि से सम्बन्धित सभी क्रियाओं का त्याग करना होता है। दूसरे शब्दों में शरीर एवं शरीरगत सभी प्रवृत्तियों का पूर्णतया त्याग कर निश्चेष्ट वृक्ष की भाँति एक ही नियत स्थान में पड़े रहने का नाम पादोपगमन अनशन है। जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि 'पादप' (वृक्ष) के समान एक स्थान में निश्चल रहना। इसे विभिन्न ग्रन्थों में 'पादोपगमन', 'प्रायोपगमन' और 'प्रायोग्यगमन' भी कहा गया है। अभिधान राजेन्द्र कोष में भी पादोपगमन के स्वरूप को व्यक्त करते हुए कहा है—

पाओपगमं भणियं सम-विसमे पायवो जहा पडितो ।

नवरं परप्पओगा कपेज्ज जहा चल तरु व्व ॥^{२५९}

स्थान, विधि एवं महत्त्व :

पादोपगमन अनशन ग्रहण करने के योग्य स्थान, स्थान की निर्दोषता, पादोपगमन ग्रहण विधि एवं उसके माहात्म्य का सारा वर्णन इत्वरिक अनशन के समान ही है किन्तु दोनों अनशन में अन्तर इतना ही है कि इत्वरिक अनशन में गमनागमन के लिए भूमि की निश्चित मर्यादा होती है। उससे बाहर मुनि तनिक भी अंग-प्रत्यंगों का संचालन नहीं कर सकता, जबकि पादोपगमन अनशन में मल-मूत्र विसर्जन के अतिरिक्त उपर्युक्त समूची शारीरिक प्रवृत्तियों के संचालन का पूर्णतः त्याग होता है। इस अनशन में वह अचेतनवत् पड़ा रहता है।

आचारांग में पूर्वोक्त दोनों अनशनों से इसके वैशिष्ट्य को अभिव्यंजित किया गया है—

अयं चायततरे सिया जो एवं अणुपालए ।

सव्वगायनिरोधेवि ठाणातो ण विउब्भमे ॥^{२६०}

यह अनशन भक्तप्रत्याख्यान एवं इत्वरिक अनशन से भी विशिष्टतर या उत्तमतर है। जो भिक्षु उक्त विधि से इसका अनुपालन करता है, वह समूचे शरीर के निरोध (अकड़) हो जाने पर भी अपने स्थान से विचलित नहीं होता है अर्थात् कष्टों या परिषहों से घबराकर स्थान परिवर्तन नहीं करता है। अपितु वहीं निश्चेष्ट रहकर समभावपूर्वक कष्टों को सहते हुए आत्मचिन्तन में लीन रहता है। यही उसका स्वरूप है और यही उसकी विशिष्टता है। इसे कठोरतम साधना के कारण ही

उक्त दोनों अनशनों से श्रेष्ठतम माना गया है। इसका समर्थन करते हुए कहा है—

अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे' २६१

यह उत्तम धर्म है। यह अनशन पूर्व स्थान द्वय—भक्तप्रत्याख्यान एवं इत्वरिक अनशन से प्रकृष्टतर ग्रह (निर्यत्रण) वाला है। इसमें पूर्वोक्त अनशनों का आचार तो है ही, किन्तु पूर्णरूप से निश्चल रहना इसका विशेष धर्म है।

विशेष आचार :

(१) अपने पूर्व नियत स्थान से चलित नहीं होना (२) शरीर को सर्व प्रकार से विसर्जित कर देना (३) परिषहों के उपस्थित होने पर यह सोचना कि यह शरीर ही मेरा नहीं है (४) जब तक जीवन है तब तक ही ये परीषह और उपसर्ग हैं यह जानकर शरीर के ममत्व को विसर्जित कर देना (५) प्राज्ञ और संवृतात्मा वाला होकर शरीर-भेद के लिये उन कष्टों को समभावपूर्वक सहना, (६) इहलौकिक काम-भोगों की नश्वरता को समझकर उनमें तनिक भी आसक्त नहीं होना (७) इच्छाओं या लोलुपताओं का सेवन नहीं करना (८) देवों के शाश्वत दिव्य-भोगों के लिए निर्मत्रित किए जाने पर भी उनकी इच्छा नहीं करना और न उस दैव-माया पर श्रद्धा करना तथा (९) दैवी और मानुषी सब प्रकार के शब्दादि विषयों में अनासक्त रहना। २६२

इस प्रकार आयु का पारगामी भिक्षु तितिक्षा को श्रेष्ठ जानकर हितकर विमोक्ष-भक्त-प्रत्याख्यान, इत्वरिक और पादोपगमन में से किसी एक को स्वीकार करे।

ऊपर विवेचित तीनों अनशनों में भक्त-प्रत्याख्यान अनशन सामान्य कोटि का है। इत्वरिक अनशन मध्यम और पादोपगमन अनशन उत्तम कोटि का है। ये तीनों कोटियाँ साधक की शारीरिक क्षमता की अपेक्षा से हैं, किन्तु तत्त्वतः तीनों का मूल उद्देश्य जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति ही है। बशर्ते कि वह साधक आयु काल पर्यन्त दृढ़ प्रतिज्ञ रहकर समत्वपूर्वक समाधिमरण प्राप्त करे। यदि वह इस प्रकार संलेखनापूर्वक समाधिमरण करता है तो उक्त किसी भी अनशन से जन्म-मरण पर विजय पा लेता है। संलेखना में साधक न केवल मृत्यु का अन्त करता है अपितु समाधिमरण के द्वारा जन्म या जन्म के मूलभूत हेतु का उन्मूलन कर लेता है। इस प्रकार समाधिमरण के द्वारा अभीष्ट फल

मोक्ष को पाना उसकी साधना का उद्देश्य है और इसी में जीवन भर की गई उसकी साधना की सफलता निहित है।

संलेखना आत्मघात नहीं है :

संलेखना (समाधिमरण) के सम्बन्ध में कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि वह एक प्रकार की आत्म-हत्या है किन्तु गहराई से विचार करने पर उनकी यह धारणा नितान्त भ्रामक एवं अतात्त्विक प्रतीत होती है। आचारांग में समाधिमरण को महत्त्व अवश्य दिया गया है किन्तु वहाँ आत्म-हनन के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। आत्म-घात के मूल में कषायों के अतृप्त वासनात्मक भावनाओं का वास होता है, जबकि संलेखना के मूल में कषायों का सर्वथा त्याग होता है। इस दृष्टि से आचारांग के शरीर-विमोक्ष (शरीर-त्याग) के सन्दर्भ में साधक पर किसी भी प्रकार से आत्मघात का आरोप या दोष नहीं लगाया जा सकता है। आचारांग के संलेखना (समाधिमरण) विषयक अध्ययन के अनुशीलन से यह स्पष्टतः अभिव्यंजित होता है कि वहाँ संलेखनापूर्वक होने वाली मृत्यु को कर्मक्षयकारी, हितकारी, सुखकारी और कल्याणकारी कहा गया है और साधक मृत्यु के सन्निकट आने पर जब तक शरीर भेद न हो तब तक समाधिमरण के द्वारा मृत्यु की प्रतीक्षा करता है आकांक्षा नहीं। अतः आचारांग के अनुसार संलेखना (समाधिमरण) मरणाकांक्षा भी नहीं है। यथा—

जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णोवि पत्थए ।
 दुहतोवि ण सज्जेज्जा जीविए मरणे तहा ॥
 मज्झत्थो णिज्जरापेही समाहिमणुपालए ।
 अन्तो बहिं विउस्सिज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥^{२१३}

भला, जीवन-मरण के प्रति आचारांग की यह मध्यस्थता, अनासक्तता और अनाकांक्षा की यह प्रशस्त धारणा एवं प्रेरणा समाधिमरण के माध्यम से आत्महत्या या आत्महनन का विधान कैसे कर सकती है? वास्तव में समाधिमरण की पृष्ठभूमि में आत्महनन का कोई कारण भी तो दृष्टिगत नहीं होता है जबकि आत्मघात की पृष्ठभूमि में अतृप्त सांवेगिक अवस्थाएँ काम करती हैं। आत्मघाती व्यक्ति तो विभिन्न भावनात्मक मनोग्रन्थियों, कुण्ठाओं, उत्तेजनाओं, कषायों या काम-वासनाओं आदि से घिरा रहता है जबकि संलेखनाधारी साधक इनसे सर्वथा मुक्त रहता है। आत्मघाती व्यक्ति तीव्रतम आवेश में आकर प्राण-त्याग कर

बैठता है, जबकि संलेखना (समाधि) के मूल में ऐसा कोई कारण नहीं होता है। अतः इस प्रकार समाधिमरण या शरीर-विमोक्ष को आत्मघात कथमपि नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह सही है कि बाह्य दृष्टि से इन तीनों अनशनों में काय-क्लेश की उग्रता या शारीरिक कष्ट-सहन अवश्य प्रतीत होता है किन्तु इसके अन्तर में झाँककर देखने पर परिलक्षित होता है कि वहाँ संलेखना या अनशन में स्थित साधक सभी कामनाओं एवं मनोभावनाओं से ऊपर उठकर आयु कालों के अन्त तक समता-सागर में गोते लगाता रहता है और सहर्ष परिषर्णों से जूझते हुए समता और समाधिपूर्वक प्राणों का विसर्जन कर संसार या आयुकाल का पारगामी हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संलेखना-धारी की मृत्यु मोक्षप्रदायिनी और कल्याणकारिणी होती है।

आचारांग के आधार पर निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि (१) आत्म-हत्या कष्टों से ऊबकर की जाती है, जबकि समाधिमरण में कष्टों में समभाव की उत्कर्षता रहती है। (२) आत्म-घात कायरता और भीरुता का द्योतक है जबकि समाधिमरण वीरता और निर्भयता का बोधक है। (३) आत्म-हत्या में विवशता और हताशा होती है तो संलेखना जीवन के अन्तिम समय में मृत्यु को निकटता का भान होने पर तप-विशेष की आराधना में परिपूर्ण होती है। (४) आत्म-हत्या में शब्दादि काम-लोभों की लोलुपता रहती है तो संलेखना में इनका सर्वथा अभाव रहता है। (५) आत्म-हत्या में कुण्ठाएँ व मनोग्रथियाँ काम करती हैं तो संलेखना में बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। (६) आत्महत्या मोह-महत्त्व का घर है तो संलेखना विमोहायतन (मोह से मुक्त भिक्षुओं का आयतन) है। (७) आत्महत्या मानसिक अप्रसन्नता एवं अपवित्रता का परिचायक है तो संलेखना मानसिक प्रसन्नता एवं शुद्धता की परिबोधिका है। (८) आत्महत्या में कषायों की बहुलता या स्थूलता होती है तो संलेखना में कषायों की अल्पता या तनुता होती है। (९) आत्महत्या में अधैर्य, असंयम, अविवेक, अज्ञान एवं मोह-ममता का आधिक्य रहता है तो संलेखना के लिए धोरता, संयम, ज्ञान हेयोपादेय का विवेक आवश्यक रहता है। (१३) आत्मघात तीव्र राग-द्वेष वृत्तियों का परिणाम है तो संलेखना या समाधिमरण समभाव का परिणाम है।

सन्दर्भ-सूची

अध्याय ८

१. आचारांग, १/१/७ पर शीलांक टी०, पत्रांक ७२.

२. आचारांग, १।२।६.
 ३. जे आयारे ण रमति आरंभमाणा विणयं विर्यति ।
 छंदोवणीया अज्जोववण्णा आरंभसत्ता पकरेति संगं ॥ वही, १।१।७.
 ४. वही, २।१६. ५. वही, २।१६. ६. वही, २।१५.
 ७. वही, ३।१५. ८. समवायांग, २५.
 ९. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार १. १०. आचारांग, २।१५.
 ११. 'गामाणुगामंदुइज्जमाणस्स' वही, १।५।४.
 १२. वही, (आत्मारामजी टीका) २।३।१।११४.
 १३. वही, २।३।१।१११-११३. १४. वही, २।३।१।११५-११७.
 १५. वही, २।३।१।११८-१२०. १६. वही, २।३।१।११८.
 १७. वही, २।३।२।१२१-१२२. १८. वही, २।३।२।१२३.
 १९. वही, २।३।२।१२४. २०. वही, २।३।२।१२५.
 २१. वही, २।३।२।१२५. २२. वही, २।३।३।१२७-१२८.
 २३. वही, २।३।३।१३०-१३१ तथा २।५।२।१५१.
 २४. मनुस्मृति, ६।४६. २५. विनयपिटक, ८।४।४.
 २६. आचारांग, (आत्मारामजी टीका) २।४।१।१३२ एवं २।१५.
 २७. वही, २।४।१।१३२. २८. वही, २।४।१।१३५.
 २९. वही, २।४।१।१३३. ३०. वही, २।४।१।१३४.
 ३१. वही, २।४।२।१३६. ३२. वही, २।४।२।१३८.
 ३३. वही, १।२।५. ३४. वही, १।६।२. ३५. वही, १।२।५.
 ३६. वही, १।८।२. ३७. वही, १।२।५. ३८. वही, १।८।२.
 ३९. वही, १।८।५-६. ४०. वही, २।४।२।१३७-१३९. ४१. वही, २।४।२।१४०.
 ४२. छान्दोग्योपनिषद्, ७।२.६।२. ४३. आचारांग, १।८।६.
 ४४. वही, २।१।१।६. ४५. वही, २।१।१।७. ४६. वही, २।१।८.
 ४७. वही, २।१।९।५५. ४८. वही, २।१।६।३३.
 ४९. वही, २।१।६।३४. ५०. वही, २।१।६।३५.
 ५१. वही, २।१।७।३७. ५२. वही, २।१।७।३८.
 ५३. वही, २।१।७।३९. ५४. वही, २।१।७।४०.
 ५५. वही, २।१।१०।५८. ५६. वही, २।१।१।३.
 ५७. वही, २।१।८।४५. ५८. वही, २।१।८।४७-४८.
 ५९. वही, २।१।१।२. ६०. वही, २।१।१।४.
 ६१. वही, २।१।१।५. ६२. वही, २।१।३।२१.
 ६३. वही, २।१।१।११. ६४. वही, २।१।२।१०.

२७८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

६५. वही, २११२।१२. ६६. वही, २११६।३१.
 ६७. वही, २११५।२६-२७. ६८. वही, २११५।२६.
 ६९. वही, २११५।२९-३०. ७०. वही, २११५।२८.
 ७१. वही, २११५।३२. ७२. वही, २११५।३२. ७३. वही, १।२।४.
 ७४. वही, २११४।२३. ७५. वही, २११२।१३.
 ७६. वही, २११२।१४. ७७. वही, २११३।१७.
 ७८. वही, २११३।१५. ७९. वही, २११३।१६.
 ८०. वही, २११४।२२. ८१. वही, २११४।२२.
 ८२. उत्तराध्ययन, १।३२. ८३. बृहत्कल्प, १. ८४. निशीथसूत्र, ३.
 ८५. आचारांग, २।१३।१९. ८६. वही, २।५।२।१४९.
 ८७. वही, २।६।२।१५४. ८८. वही, २।१।२।३०.
 ८९. वही, २।१।९।४९-५०. ९०. वही, २।१।९।५४.
 ९१. वही, २।१।७।४१. ९२. वही, २।१।७।४२.
 ९३. वही, २।१।७।४१ एवं २।१।८।४३. ९४. वही, २।१।११.
 ९५. वही, २।१।११. ९६. वही, २।१।९. ९७. वही, १।६।२.
 ९८. वही, २।५।१. ९९. वही, १।८।४. १००. वही, १।८।४, १।६।३.
 १०१. वही, (आत्मारामजी टीका), २।५।१।१४२. १०२. वही, २।६।१।१५२.
 १०३. वही, २।५।१।१४५. १०४. वही, १।८।४.
 १०५. मनुस्मृति, २।४०-४१. १०६. विनयपिटक, पृ० २७५ महावग्ग पालि.
 १०७. आचारांग (आत्मारामजी टीका), २।५।१।१४३, १४४, १४६.
 १०८. वही, २।५।१।१४७. १०९. वही, २।५।१।१४६.
 ११०. वही, २।५।२।१४९. १११. वही, १।८।४.
 ११२. वही, २।५।२।१५१. ११३. वही, २।५।१।१४८.
 ११४. वही, २।५।१।१४६. ११५. वही, २।५।१।१५२.
 ११६. वही, २।५।१।१५२. ११७. वही, २।६।१।१५२.
 ११८. वही, २।२।१।६४-६५. ११९. वही, २।२।१।६६.
 १२०. वही, २।२।१।६७. १२१. उत्तराध्ययन, १।६।१.
 १२२. आचारांग, (आत्मारामजी टीका). २।२।१।६८ १२३. वही, २।२।१।६९.
 १२४. वही, २।२।१।७०. १२५. वही, २।२।१।७१.
 १२६. वही, २।२।२।७८. १२७. वही, २।२।२।७९.
 १२८. वही, २।२।२।८०. १२९. वही, २।२।२।८१.
 १३०. वही, २।२।२।८२. १३१. वही, २।२।२।८४.
 १३२. वही, २।२।२।८५. १३३. वही, २।२।२।८६.

१३४. वही, २।२।३।८८. १३५. वही, २।२।३।९०.
 १३६. वही, २।२।३।९१. १३७. वही, २।२।३।९३-९६.
 १३८. बृहत्कल्प, १।२७-३२.
 १३९. आचारांग, (आत्मारामजी टीका) २।२।३।९२.
 १४०. बृहत्कल्प, १।३३-३४. १४१. आचारांग, २।२।३।९७.
 १४२. वही, २।२।३।९८. १४३. वही, २।२।३।९९.
 १४४. वही, २।२।३।१००-१०३. १४५. वही, २।२।३।१०४-१०५.
 १४६. वही, २।२।३।१०६. १४७. वही, २।२।३।१०७.
 १४८. वही, २।२।३।१०८-१०९. १४९. वही, २।६।२।१५३.
 १५०. वही, २।१०।१६५. १५१. वही, २।१०।१६६.
 १५२. वही, २।१०।१६७. १५३. वही, २।१५.
 १५४. वही, २।१५. १५५. वही, २।१५.
 १५६. श्री देवभद्रसूरि, पासनाहचरियं, प्रका० पं० हीरालाल श्री मणिबिजय
 ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९४५, पृ० ४६०.
 १५७. योगसूत्र, १।२८.
 १५८. (क) आचारांग, २।१५ (ख) उत्तराध्ययन, २।१।१७.
 १५९. स्थानांग, ४।१।२४७. १६०. तत्त्वार्थसूत्र, ९।७।७।६.
 १६१. सूत्रकृतांग, १।१।५।५, तुलनीय उत्तरा० १।३।३।१.
 १६२. आचारांग, २।१६. १६३. वही, (आत्मारामजी टीका) २।७।१।१५५.
 १६४. वही, २।७।१।१५६. १६५. वही, २।७।१।१५६.
 १६६. वही, १।८।२. १६७. वही, २।७।१।१५७.
 १६८. वही, २।७।२।१५९. १६९. वही, २।७।१।१५७.
 १७०. वही, २।७।२।१६१. १७१. वही, २।७।२।१६२.
 १७२. वही, २।१।१।१६८. १७३. वही, २।१।१।१६९-१७०.
 १७४. वही, २।१।१।१६९-१७०. १७५. वही, २।१।२।१७१.
 १७६. वही, २।११. १७७. वही, २।१।३।१७३.
 १७८. वही, १।२।५, १।६।१. १७९. वही, २।१।४।१७४.
 १८०. वही, २।३।१।११२. १८१. वही, २।३।१।११२.
 १८२. वही, २।३।१।११३. १८३. वही, २।२।२।७७.
 १८४. वही, २।२।२।७८. १८५. उत्तराध्ययन, २९।१५.
 १८६. आचारांग, १।४।३. १८७. उत्तराध्ययन, २।८।३५.
 १८८. पद्मनन्दिर्विशतिका, १।४८, चरित्रसार, पृ० १३३.
 १८९. आचारांग, १।५।४. १९०. वही. १।८।५-७.

२८० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

१९१. वही, १।५।४. १९२. वही, १।६।२. १९३. वही, १।८।८.
 १९४. वही, १।८।६-७. १९५. वही, (आत्मारामजी टीका) २।१।११।६२.
 १९६. वही, २।५।१।१४६. १९७. वही, २।६।१।१५२.
 १९८. वही, २।२।२।३।१००-१०२. १९९. वही, २।१५.
 २००. वही, १।५।४. २०१. वही, १।२।६, १।५।३.
 २०२. वही, १।५।४. २०३. वही, १।५।५ शीलांक टी० प्रत्रांक १९८.
 २०४. भगवतीसूत्र, जैनविश्वभारती, लाडनूँ, सूत्र वि० सं० २०३१, सूत्र १।९.
 २०५. आचारांग, १।८।७, १।६।३. २०६. वही, १।८।६.
 २०७. वही, १।८।५. २०८. वही, १।८।४. २०९. वही, १।३।१.
 २१०. उत्तराध्ययन ३०।८, भगवती. २५।७।८०२.
 २११. आचारांग, (आत्मारामजी टीका) २।२।२।८०.
 २१२. आचारांग, १।९।२. २१३. वही, १।५।४.
 २१४. तत्त्वार्थसूत्र, ९।२१, भगवती, २५।७, ठाणांग, ७।३।५८५.
 २१५. आचारांग, १।५।५. २१६. वही, १।५।३.
 २१७. वही, १।५।६. २१८. वही, १।५।५. २१९. वही, १।८।३.
 २२०. वही, १।८।५-७. २२१. वही, (आत्मारामजी टीका) २।९।२।१६४.
 २२२. उत्तराध्ययन, ३०।३६. २२३. आचारांग, १।६.
 २२४. वही, २।८।२।१६३. २२५. ऋग्वेद, १०।१९०।१.
 २२६. महानारायणोपनिषद्, २।१।२.
 २२७. संपा०-श्री वंशीधर शास्त्री, शतपथ ब्राह्मण, (१-२ विभाग), अच्युत
 ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, प्रथम आवृत्ति, सं० १९९७, सूत्र ३।४।४।२७.
 २२८. गीता, १७।१७-१९, ६।१६-१७.
 २२९. मनुस्मृति, १।१२।४३, २२६, २३७, १।२।१०४, ६।७५, ५।१०८.
 २३०. आचारांग, १।८।७, १।८।६, १।६।२, १।६।३, १।६।५, १।३।१, १।२।५,
 १।२।६. तथा उपघानश्रुत के चारों उद्देशक, १।९।१-४, २।१३।१७३.
 २३१. वही, १।८।५-७. २३२. वही, १।८।८. २३३. वही, १।६।५.
 २३४. वही, १।८।८. २३५. वही, १।८।५. २३६. वही, १।८।६-७.
 २३७. से आणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेज्जा, आणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेत्ता, कसाए-
 पयणुएकिच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी, उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे-
 आचारांग, १।८।६-७.
 २३८. वही, १।८।८. २३९. वही, १।८।८.
 २४०. आचारांग, १।७।८ पर शीलांक टीका, पत्रांक, २६२.
 २४१. आचारांग, १।८।८. २४२. वही, १।८।८.

२४३. वही, १।८।८. २४४. अभि० राजेन्द्र कोष, भाग १, पृ० ३०३-३०४.
 २४५. आचारांग, १।८।५.
 २४६. एवं से अहाकिट्टियमेव घम्मं समहि जाणमाणे संते विरते सुसमाहित लेसे
 तत्थावि तस्स कालपरियाए, से वि तत्थ वियंतिकारए, इच्चेतं-विमो-
 हायतणं, हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं अणुगामियं ति बेमि, वही-१।८।५
 २४७. वही, १।८।८. २४८. वही, १।८।८. २४९. वही, १।८।८.
 २५०. वही, १।८।८. २५१. वही, १।८।६-७ २५२. वही, १।८।६.
 २५३. वही, १।८।६. २५४. वही, १/८/६. २५५. वही, १/८/८.
 २५६. वही, १/८/८. २५७. वही, १/८/६. २५८. वही, १/८/७.
 २५९. अभि० राजेन्द्र कोष भाग ५, पृ० ८१९. २६०. आचारांग, १/८/८.
 २६१. वही, १/८/८. २६२. वही, १/८।८. २६३. वही, १/८/८.



उपसंहार

आचारांग जैन आचार दर्शन का प्रथम एवं प्राचीनतम ग्रन्थ है। भारतीय और पाश्चात्य सभी विद्वान् इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि महावीर के द्वारा उपदिष्ट आचार दर्शन का निकटतम रूप से प्रतिपादन करने वाला यदि कोई ग्रन्थ है तो वह आचारांग ही है। इस रूप में आचारांग भगवान महावीर की वाणी का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि आचारांग ईसा की तीसरी शताब्दी से भी पहले का ग्रन्थ है और उसमें जैन आचार प्रणाली का प्राचीनतम रूप सुरक्षित है।

आचारांग के प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कंध के संकलनकर्ता एवं रचनाकाल को लेकर जो विवाद प्रचलित हैं उसमें इतना तो सत्यांश अवश्य है कि भाषा एवं शैली की दृष्टि से प्रथम एवं द्वितीय श्रुतस्कंध दो भिन्न काल के संकलन हैं और द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम श्रुतस्कंध की चूलिका के रूप में ही जोड़ा गया है किन्तु उससे दूसरे श्रुतस्कंध का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। वस्तुतः वह प्रथम श्रुतस्कंध की मूलभूत अवधारणाओं को ही अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करता है। अतः इस सन्दर्भ में मेरा कहना केवल इतना ही है कि चाहे द्वितीय श्रुतस्कंध, प्रथम श्रुतस्कंध की विस्तृत व्याख्या हो और इस रूप में चाहे उसका परवर्ती भी हो परन्तु जहाँ तक दोनों के मूल हार्द का प्रश्न है कोई विशेष अन्तर नहीं है। द्वितीय श्रुतस्कंध भी प्रथम श्रुतस्कंध में प्रतिपाद्य विषय का ही समर्थन करता है और कोई भिन्न अथवा नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं करता है जो उसे प्रथम श्रुतस्कंध से पूर्णतः पृथक् कर देता हो।

आचारांग के नीतिदर्शन की मूलभूत पूर्व मान्यतायें आत्मा की अमरता और कर्म सिद्धान्त हैं। आचारांग के प्रारम्भ में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि जो आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानकर चलता है वही क्रियावादी है। आत्मा की अमरता और आत्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को आचारांग स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। आचारांग ने गीता के समान ही यह स्वीकार किया है कि आत्मा अच्छे, अभेद्य, अदाह्य और अहन्य है एवं पूर्वजन्म को ग्रहण करता है।

आत्म-स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में भी आचारांग का दृष्टिकोण स्पष्ट है। वह यह मानता है कि बन्धन और मुक्ति-दोनों के लिये आत्मा स्वयं ही उत्तरदायी है। इस प्रकार पाश्चात्य नीति दर्शन में स्वीकृत तीन पूर्व मान्यताओं—१—आत्मा की अमरता, २—इच्छा-स्वातन्त्र्य और ३—ईश्वर का अस्तित्व—में से आत्मा की अमरता और इच्छा-स्वातन्त्र्य को आचारांग स्वीकार करके चलता है। नैतिक जगत् के नियामक एवं शुभाशुभ कर्म फल प्रदाता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व उसमें स्वीकार नहीं किया गया है। वह आत्मा की शुद्ध अवस्था को ही परमात्मा के रूप में देखता है परन्तु उसे जगत् का कर्ता एवं नियन्ता नहीं मानता। उसमें नैतिक व्यवस्था हेतु ईश्वर के स्थान पर 'कर्म का नियम' स्वीकार किया गया है।

कर्म की नैतिकता-अनैतिकता के प्रश्न को पाश्चात्य नीति दर्शन के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हैं तो हम पाते हैं कि पाश्चात्य सुखवादी विचारक यह मानते हैं कि एक ही कर्म देश, काल और परिस्थिति की भिन्नता के अनुसार कभी नैतिक बन जाता है और कभी अनैतिक। इसके विपरीत काण्ट की मान्यता है कि जो नैतिक है वह कभी अनैतिक नहीं होता और जो अनैतिक है वह कभी नैतिक नहीं होता।

सुखवादियों के अनुसार नीति देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति सापेक्ष है अर्थात् इनके आधार पर कर्म की नैतिकता परिवर्तित होती रही है जबकि काण्ट के अनुसार किसी कर्म की नैतिकता देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति निरपेक्ष है। भारतीय नीतिशास्त्र में यही प्रश्न उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के रूप में चर्चित रहा है। प्रस्तुत समस्या के सन्दर्भ में आचारांग का दृष्टिकोण एकान्तिक नहीं है। जहाँ वह एक ओर अहिंसा को सार्वभौम नैतिक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करता है वहीं दूसरी ओर अहिंसा के अपवाद भी प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार निरपेक्ष और सापेक्ष नैतिकता के प्रश्न को लेकर आचारांग कोई एकांगी दृष्टिकोण नहीं अपनाता है। इसी सन्दर्भ में मैंने सत्य, अहिंसा आदि के उन सभी अपवादों की चर्चा की है जिनका उल्लेख आचारांग में उपलब्ध होता है।

कर्म की नैतिकता के सम्बन्ध में उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर पक्षों का विवाद भी बहुचर्चित रहा है। पाश्चात्य चिन्तकों में इस बात को लेकर मतभेद है कि कर्म की नैतिकता का आधार कर्म का प्रेरक तत्त्व है या स्वयं कर्म का स्वरूप या कर्म परिणाम। कुछ लोगों ने कर्म के

आन्तरिक पक्ष अर्थात् प्रेरक का सम्बन्ध नैतिकता से जोड़ा तो कुछ ने बाह्य पक्ष अर्थात् कर्म परिणाम का। इस सन्दर्भ में आचारांग मूलतः कर्ता की अन्तःवृत्ति के आधार पर ही नैतिकता को परिभाषित करता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि कर्म की नैतिकता कर्ता के अध्य-वसाय पर आधारित है। यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि आचारांग नैतिकता के बाह्य पक्ष या व्यवहार पक्ष की अवहेलना करता है। नैति-कता के सम्बन्ध में एक तीसरा प्रश्न वैयक्तिक नैतिकता और सामाजिक नैतिकता को लेकर है। कुछ विचारकों ने आत्महित पर बल दिया है तो कुछ ने लोकहित को प्रधानता दी है।

इस सम्बन्ध में आचारांग का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। वह आत्म-हित या आत्म कल्याण को प्राथमिकता देता है। उसका कथन है कि प्रथम व्यक्ति स्वयं नैतिक बने। यद्यपि उसका आत्म-कल्याण लोक कल्याण का विरोधी नहीं है। इस सम्बन्ध में वह स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि मुनियों का यह दायित्व है कि वे समाज में नैतिक चेतना जागृत करें ताकि जन-जन के हृदय में अभय का संचार हो सके। आचारांग का मन्तव्य इतना ही है कि व्यक्ति पहले नैतिक चरित्र को उज्ज्वल बनाए और उसके पश्चात् लोक कल्याण में प्रवृत्त हो। लोक मंगल की साधना आवश्यक तो है किन्तु उसे वैयक्तिक आचरण की पवित्रता पर खड़ा होना चाहिये। आचारांग के अनुसार एक सदाचारी साधक ही एक सच्चे लोक मंगल का स्रष्टा हो सकता है।

जहाँ तक नैतिक मानदण्डों का प्रश्न है पाश्चात्य नीति दर्शन में नैतिक मानदण्डों को लेकर विस्तार से चर्चा हुई है। जबकि भारत में यह प्रश्न मूलतः अर्चित ही रहा है। पश्चिम में नैतिक साध्य के रूप में सुख, विवेक और आत्मपूर्णता के मानदण्ड स्वीकृत किये जाते रहे हैं। इस सन्दर्भ में आचारांग में बहुत स्पष्ट कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। यद्यपि आचारांग में दुःख निवृत्तिरूप एवं अभयजनित सुख को अवश्य ही नैतिक साधना का लक्ष्य माना गया है। किसी सीमा तक यह साधन के रूप में विवेक और प्रज्ञा को भी स्थान देता है तथापि आचारांग की नैतिक साधना का अन्तिम लक्ष्य तो आत्मपूर्णता ही है। आत्मपूर्णता अथवा आत्म साक्षात्कार को आचारांग का नैतिक साध्य स्वीकार किया जा सकता है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि आचारांग जिस आत्मपूर्णता की बात करता है वह पाश्चात्य विचारकों की आत्मपूर्णता की अवधारणा से भिन्न है। आचारांग का

मूल लक्ष्य निर्द्वन्द्व एवं निर्विकल्प आत्मतोष की अवस्था है और इस साध्य की प्राप्ति के लिये आचारांग एक सुव्यवस्थित साधना—विधि प्रस्तुत करता है।

आचारांग क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों पर विजय का जो मार्ग बताता है वह उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। आचारांग के अनुसार इन कषायों पर विजय का एक ही मार्ग है और वह है उनके प्रति अप्रमत्त या जागृत रहना। आचारांग बहुत स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करता है कि आत्मा जब अपने विषय-वासनाओं या कषायों के प्रति जागृत हो जाता है तब ये वृत्तियाँ उसे ठीक उसी प्रकार छोड़कर चली जाती हैं जैसे मकान मालिक के जागने पर चोर चुपचाप भाग जाते हैं।

आचारांग का एक ही सन्देश है कि उठो, प्रमाद मत करो (उठिए नो पमाइए)। आचारांग साधक के लिये यद्यपि कठोर साधना मार्ग का प्रतिपादन करता है फिर भी वह दमन का समर्थक नहीं है। वह यह मानता है कि इन्द्रियों का जब तक अपने विषयों के प्रति राग नहीं छूटता है तब तक उनके दमन की कोई सार्थकता नहीं। अतः आचारांग की साधना का मूल लक्ष्य विषय राग को समाप्त करना है। इस तथ्य को आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में स्पष्ट रूप से विवेचित किया गया है।

आचारांग में साधना मार्ग का विशिष्ट अर्थ में प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि जैन धर्म में सामान्यतया साधना मार्ग का तात्पर्य सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रय से लिया जाता है। किन्तु आचारांग एक दूसरे प्रकार के त्रिविध साधना-मार्ग को प्रस्तुत करता है जो कि उसकी अपनी विशेषता है। उसमें अहिंसा, समाधि और प्रज्ञा के रूप में त्रिविध साधना-मार्ग का विवेचन हुआ है। आचारांग स्पष्ट रूप से कहता है 'निखिलत दण्डाण समाहियस्स पण्णाण मन्ताण इह मुत्तिमग्ग' अर्थात् अहिंसा, समाधि और प्रज्ञा मुक्ति मार्ग हैं।

आचारांग का यह साधना मार्ग हमें बौद्ध धर्म के प्रज्ञा, शील और समाधि रूप त्रिविध साधना पथ का स्मरण दिला देता है। अन्तर केवल इतना ही है कि बौद्ध दर्शन में जहां शील शब्द का प्रयोग हुआ है, वहां आचारांग में निखिलतदण्डाण (अहिंसा) शब्द का प्रयोग हुआ है क्योंकि आचारांग की दृष्टि में अहिंसा ही शील की पर्यायवाची है। यह भी

२८६ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

स्पष्ट है कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य रूप त्रिविध साधना मार्ग इसी से विकसित हुआ है। जहां अहिंसा सम्यक् चारित्र्य की पोषक है वहीं प्रज्ञा में सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है।

समाधि को सम्यक् चारित्र्य या सम्यक् तप का अंग माना जा सकता है। वैसे आचारांग में सम्यक् दर्शन शब्द का प्रयोग भी मिलता है। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना होगा कि आचारांग में दर्शन शब्द श्रद्धा-परक अर्थ की अपेक्षा दृष्टिपरक अर्थ में ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। उसमें 'पास' शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है जो 'द्रष्टाभाव' का सूचक है। आचारांग में द्रष्टाभाव में स्थित होने को ही सम्यक् दर्शन माना गया गया है। यद्यपि आचारांग में कुछ स्थानों पर श्रद्धा का उल्लेख भी देखा जाता है। एक स्थान पर कहा गया है कि साधक को जिन-प्रवचन के प्रति निःशंक होना चाहिये। जहाँ तक सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य का प्रश्न है वे आचारांग में प्रतिपादित हैं ही, चाहे किसी भिन्न शब्दावली में क्यों न हों। इस प्रकार सम्यक् ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य रूपी त्रिविध साधना-मार्ग भी आचारांग में कुछ भिन्न शब्दावली के साथ पाया जाता है।

आचारांग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों में अहिंसा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। उस में धर्म की स्पष्ट रूप से दो व्याख्याएँ मिलती हैं, एक स्थान पर यह कहा गया है कि आर्यजनों ने समता में धर्म कहा है' तो दूसरे स्थान पर अहिंसा को सार्वभौम धर्म प्रतिपादित करते हुए यह कहा गया है कि भूतकाल में जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमान में जो हैं तथा भविष्य में जो होंगे वे इसी बात का उपदेश देते हैं कि किसी को मारना नहीं चाहिये, सताना नहीं चाहिये—यही एकमात्र शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।

वस्तुतः अहिंसा और समता दो भिन्न धर्म नहीं हैं। अहिंसा जब आन्तरिक बनती है तो वह समता होती है और समता जब बाह्य जीवन में अभिव्यक्त होती है तो अहिंसा बन जाती है। आचारांगकार ने इस अहिंसा को आत्मवत् दृष्टि के आधार पर स्थापित किया है और इसी आत्मवत् दृष्टि को नैतिकता का नियामक तत्त्व बताया है।

अहिंसा में भावना और विवेक दोनों सम्मिलित हैं। वे बौद्धिक भी

हैं और भावनात्मक भी। यही कारण है कि जैन आचार, दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व बना हुआ है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये महाव्रत आनुषांगिक रूप से अहिंसा महाव्रत के सहयोगी माने जा सकते हैं। हिंसा का मूल कारण परिग्रह या आसक्ति की वृत्ति है। व्यक्ति को यदि अहिंसक बनना है तो उसे अपरिग्रही बनना होगा। स्तेय वृत्ति का कारण परिग्रह या संचय वृत्ति और परिणाम हिंसा है। अतः अहिंसा की साधना करने वाले साधक को स्तेय वृत्ति से दूर रहना होगा।

अब्रह्मचर्य, विवेक या प्रज्ञा को कुण्ठित करता है और इस रूप में हमारे स्वरूप का घातक है। साथ ही मैथुन कर्म में भी हिंसा होती है। अतः अहिंसा की पूर्ण साधना बिना ब्रह्मचर्य के सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सत्य और अहिंसा चाहे बाहर से भिन्न-भिन्न दिखलाई दें—सत्य के बिना अहिंसा का और अहिंसा के बिना सत्य का अस्तित्व नहीं है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में अहिंसा का जितने विस्तार और गहराई से विवेचन उपलब्ध होता है उतना अन्य प्राचीन ग्रन्थों में नहीं। वस्तुतः आचारांग के अनुसार नैतिकता और अनैतिकता का यदि कोई प्रमापक है तो वह अहिंसा ही है। जहाँ हिंसा है वहाँ अनैतिकता है और जहाँ अहिंसा है वहाँ नैतिकता है।

जैन धर्म मूलतः एक निवृत्ति प्रधान धर्म है और इस कारण उसमें श्रमण जीवन का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे जैन परम्परा में आचार के मूलभूत नियमों को दो भागों में विभाजित किया जाता है—१—श्रमणाचार और २—गृहस्थाचार। किन्तु आचारांग के दोनों ही श्रुतस्कन्धों में गृहस्थाचार का विवेचन उपलब्ध नहीं होता है। गृहस्थाचार सम्बन्धी नियमों का उसमें अभाव ही है।

आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध अहिंसा, संयम, अप्रमत्तता आदि आचार के मूलभूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है जबकि दूसरा श्रुतस्कन्ध आचार के विभिन्न नियमों और उपनियमों की चर्चा करता है। दूसरे श्रुतस्कंध में इन सब बातों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है कि मुनि को किस प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र और निवासस्थान ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध में साधु-साध्वियों के पारस्परिक एवं सामाजिक व्यवहार के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है।

इन सब चर्चाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

२८८ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

आचारांग अहिंसा के सिद्धान्त को केन्द्र बिन्दु बनाकर निवृत्ति प्रधान श्रमण धर्म की विवेचना करता है। यद्यपि इस रूप में आचारांग को मुख्यतः निषेधात्मक नैतिकता का प्रतिपादक माना जा सकता है, तथापि उसमें विधेयात्मक नैतिकता के स्वर भी यत्र-तत्र सुनाई देते हैं। उसका अहिंसा का सिद्धान्त लोकपीडा के निवारण के लिए है और इस रूप में उसका हृदय रिक्त नहीं है, जैसा कि श्रीमती स्टीवेंसन ने प्रतिपादित किया है।

वह आत्म-कल्याण के साथ ही साथ लोक-कल्याण की भावना से भी अनुप्राणित है। उसकी अहिंसा की भावना के मूल में लोक कर्षण और लोक मंगल के स्वर भी मुखर हैं।



सहायक ग्रन्थ-सूची

अभिधान राजेन्द्र कोश (१ से ७ भाग) : श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरिजी,
प्रकाशक—श्री जैनश्वेताम्बर समस्त संघ, जैन प्रभाकर प्रेस,
रतलाम सन् १९१३ ।

अनुयोगद्वारसूत्र (वृत्ति-सहित) : श्रीमदमलधारी हेमचन्द्रसूरि, प्रकाशक—
शा० गुलाबचन्द लल्लूभाई, श्री महोदय प्रिंटिंग प्रेस, दाणापीठ—
भावनगर, सन् १९३९ ।

अध्यात्मसार : उपाध्याय यशोविजय जी, प्रकाशक—केशरबाई
ज्ञानभण्डार स्थापक संघवी, नगीनदास करमचन्द, प्रथम
आवृत्ति, वि० सं० १९९४ ।

अध्यात्मोपनिषद् : उपाध्याय यशोविजयजी, प्रकाशक—केशरबाई
ज्ञानभण्डार स्थापक संघवी नगीनदास करमचन्द, प्रथम आवृत्ति,
वि० सं० १९९४ ।

अष्टकप्रकरण : श्री हरिभद्र सूरि, प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय,
गोवालिया, टेंकरोड़ बम्बई, प्रथम आवृत्ति, सन् १९४१ ।

अष्टपाहुड (सीलपाहुड) : श्रीमदकुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक—श्रीपरम-
श्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला, अगास ।

अहिंसा-दर्शन : प्रवचनकार—उपाध्याय अमरमुनिजी, प्रकाशक—
सन्मति ज्ञानपीठ लोहामण्डी, आगरा—२, तृतीय संस्करण, सन्
१९७६ ।

अहिंसा-वाणी : (तीर्थंकर महावीर सचित्र विशेषांक) सम्पादक—श्री-
कामता प्रसाद जैन, प्रकाशक—अ० वि० जै० मि० एटा, अप्रैल
सन् १९५६-१९६१ ।

अथर्ववेद संहिता : प्रकाशक—वसन्त श्रीपादसातवलेकर, स्वाध्याय
मण्डल भारत मुद्रणालय (पारडो) जि. सूरत, तृतीय आवृत्ति, सन्
१९५७ ।

अस्तित्ववाद : हृदयनारायण मिश्र, प्रकाशक—किताब घर, कान-
पुर—३, सन्—१९६८ ।

२९० : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

अंगुत्तरनिकाय : अनुवादक—भदन्त आनन्द कौशल्यायन, प्रकाशक—
महाबोधि सभा, कलकत्ता ।

आचारांग सूत्र : सम्पा०—मुनि जम्बूविजय, प्रकाशक—मोतीलाल
बनारसीदास इण्डोलॉजिकल ट्रस्ट, बंगलोर रोड जवाहर नगर
दिल्ली—७, प्रथम संस्करण, सन् १९७८ ।

आचारांगसूत्रम् (१—२ भाग) : व्याख्याकार—श्री आत्मारामजी,
सम्पा०—मुनि समदर्शी, प्रकाशक—श्री आत्मारामजी जैन प्रका-
शन समिति, लुधियाना, प्रथम प्रवेश, सन् १९६३ ।

आचारांग सूत्र—(प्रथम श्रुतस्कन्ध) : संयो० एवं प्रधान सम्पा०—युवा-
चार्यमिश्रीमल जी, “मधुकर” प्रकाशक—आगम प्रकाशन
समिति, जैन संस्थानक पीपलिया बाजार, व्यावर (राजस्थान),
१९८० ।

आत्म-सिद्धिशास्त्र : श्रीमद्वराजचन्द्र, सम्पा०—पं० जगदीशचन्द्रशास्त्री,
प्रकाशक—श्रीपरमश्रुतप्रभावक मण्डल, खाराकुआँ जोहरी
बाजार, बम्बई-२, प्रथम आवृत्ति, सन् १९३७ ।

आनन्दघन ग्रन्थावली : संत श्रीआनन्दघन, सम्पादक—महताबचन्द
खारेड विशारद, प्रकाशक—श्री विजयचन्द गरगड़, जौहरी
बाजार, जयपुर (राज०) प्रथमावृत्ति वी० सं० २०३१ ।

आनन्दघन चौबीसी : सन्त आनन्दघन, विवेचक—मोतीचन्द गिरधर-
लाल कापड़िया, प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय, ओगस्ट
क्रान्ति मार्ग, मुंबई—२६, प्रथम आवृत्ति, सं० १९७० ।

आचारांग निर्युक्ति : श्री भद्रबाहु स्वामी, प्रकाशक—श्री सिद्धचक्र-
साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९३५ ।

आचारांग टीका : श्री शीलांकाचार्य, प्रकाशक—श्रीसिद्धचक्र साहित्य
प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९३५ ।

आचारांग चूर्णि : श्री जिनदासगणि, प्रकाशक—श्रीऋषभदेवजी केशरी-
मलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९४१ ।

आवश्यकनिर्युक्ति : श्रीभद्रबाहुस्वामी, प्रकाशक—आगमोदय समिति,
वीर सं० २४५४ ।

इतिवृत्तक : अनुवादक—भिक्षुधर्मरत्न, प्रकाशक—महाबोधिसभा
सारनाथ, बनारस, बुद्धाब्द २४९९ ।

- ईशोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक—वैदिक संशो-
धन मण्डल, पूना । प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।
- उत्तराध्ययनसूत्र : प्रकाशक—भोगीलाल बुलाखोदास दलाल, श्री जैन प्राच्य
विद्या-भवन, एलिसब्रिज—अहमदाबाद सन् १९५४ ।
- उत्तराध्ययनसूत्र : आत्मारामकृत हिन्दी टीका सहित, प्रकाशक—जैन
शास्त्रमाला कार्यालय-लाहौर सन् १९३९-४२ ।
- उत्तराध्ययन चूर्ण—श्री जिनदासगणिमहत्तर, प्रकाशक श्रीऋषभ-
देवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, प्रकाशन वर्ष
१९३३ ।
- उपदेशपद : श्री हरिभद्र सूरि (श्री मुनिचन्द्रसूरि निर्मित टीकासह)
प्रकाशक—श्रीभुक्तिकमल जैन ग्रन्थ माला, बड़ोदरा, पुष्प १९,
सन् १९२३ ।
- उपदेशतरंगिणी : श्री रत्नमन्दिरगणि, प्रकाशक—निजधर्म अभ्युदय यन्त्रा-
लय, वाराणसी, वी० सं० २४३७ ।
- उपदेशसहस्री : श्री शंकराचार्य, प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय, वाराणसी
सन् १९५४ ।
- ऐतरेयोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक—वैदिक
संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, सं० १८८० ।
- एथिकल स्टडीज : लेखक—एफ० एच० ब्रैडले, प्रकाशक—आक्सफोर्ड
युनिवर्सिटी प्रेस, सन् १९३५ ।
- औघनिर्युक्ति (द्रोणाचार्यकृत वृत्ति सहित) : श्री भद्रबाहु स्वामी, प्रका-
शक—श्रीमद्विजय दानसूरि जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा, सूरत,
सन् १९५७ ।
- औपपातिक सूत्र : अनुवादक—मुनि उमेशचन्द्रजी 'अणु' प्रकाशक—
श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
(म० प्र०), प्रथम आवृत्ति, सन् १९६३ ।
- कर्मग्रन्थ-प्रथम भाग—(हिन्दी अनुवाद सहित) :—श्रीमद् देवेन्द्र सूरि,
अनुवादक—पं० सुखलालजी संघवी, प्रकाशक—जवाहरलाल नाहटा,
श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, द्वितीय
आवृत्ति, सन् १९३९ ।

२९२ : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

कणादकृत न्यायसूत्र-विवरण : राधामोहन विद्यावाचस्पति गोस्वामी भट्टाचार्य, प्रकाशक-मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, सन् १९०३ ।

कठोपनिषद् : प्रकाशक-चौखम्बा-विद्या-भवन, वाराणसी-१, द्वितीय संस्करण, वि० सं० २०२८ ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कार्तिकेय, प्रकाशक-श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमदराजचन्द्र जैनशास्त्रमाला) अगास, प्रथम आवृत्ति,

सन् १९६० ।

केनोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।

कौषीतक्युपनिषद्, प्रथम खण्ड : प्रकाशक-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना । प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।

गाँधीवाणी : सम्पादक-श्रीरामनाथ 'सुमन', प्रकाशक-साधना-सदन, ६९ लूकरगंज, इलाहाबाद, सन् १९४७ ।

गीता : प्रकाशक-मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, बीसवाँ संस्करण, सं० २०२८ ।

गीता-शांकरभाष्य : प्रकाशक-धनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरख-पुर, चतुर्थ संस्करण, १९९५ ।

गोम्मटसार : श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, प्रकाशक-श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) अगास, चतुर्थ आवृत्ति, सन् १९७२ ।

छद्मढाला : पं० दौलतराम जी, प्रकाशक-श्रीस्वाध्यायशास्त्रमाला, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, सब्जीमण्डी, देहली-६, सन् १९७४ ।

छान्दोग्योपनिषद्, प्रथम खण्ड : अष्टादशउपनिषद्, प्रकाशक-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।

जैन बौद्ध और गीताके आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन : डा० सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, (भाग-१) सन् १९६९ ।

जैन योग : आर० विलियमजेम्स, प्रकाशक-ओ० यू० प्रेस, लन्दन सन् १९६३ ।

जैनदर्शन : मुनिश्री न्यायविजयजी, प्रकाशक-श्री हेमचन्द्राचार्य जैन-सभा, पीपलानो शेर, पाटन (उ० गु०), सन् १९५६ ।

- जैनधर्म का प्राण : पं० सुखलाल संघवी, प्रकाशक-मार्तण्ड उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६५ ।
- जैनधर्म : मुनि श्री सुशील कुमार, प्रकाशक : अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स-भवन, १२ लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, सन् १९५८ ।
- जैनयोग : मुनिनथमल, प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान) द्वितीय संस्करण, सन् १९८० ।
- जैनदर्शन-मन और मीमांसा : मुनि नथमल, प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान) प्रथम संस्करण १९७३ ।
- जैन-धर्म में अहिंसा : डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्रकाशक-सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति, गुरुबाजार, अमृतसर, प्रकाशन वर्ष : सन् १९७२ ।
- ठाणांग (स्थानांगसूत्र) : अनुवादक—पं० मुनि अमोलक ऋषिजी, प्रकाशक—राजाबहादुर लाला सुखदेव सहाय, ग्वालाप्रसाद जी जौहरी ।
- तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन सहित) : वाचक उमास्वाति, विवेचनकर्ता—पं० सुखलाल संघवी, प्रकाशक—श्री मोहनलाल दीपचन्द चौकसी, श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ट्रस्ट बोर्ड, चौथामाला, बम्बई—३ प्रथम संस्करण, सन् १९९६ ।
- तत्त्वार्थराजवार्तिक : अकलंकदेव, प्रकाशक—श्री पन्नलाल जैन, चन्द्र प्रभा प्रेस, बनारस सन् १९१५ ।
- तेजोबिन्दूपनिषद् : सम्पा० पं० जगदीश शास्त्री ।
(उपनिषद् संग्रह) : प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बंगलोररोड, जवाहर नगर-दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७० ।
- तेत्तरीयोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक—वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।
- थेरगाथा : सम्पादक—राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौशल्यायन एवं जगदीश काश्यप, उत्तम भिक्खु, बुद्धाब्द ११३७ ।
- दशवैकालिक सूत्र : शयंभवसूरि, प्रकाशक—अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०) द्वितीय आवृत्ति, सन् १९६४ ।

२९४ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

दशवैकालिक चूर्णि : जिनदासगणि महत्तर, प्रकाशक—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था, रतलाम सन् १९३३ ।

दर्शन और चिन्तन (खण्ड १/२) : पं० सुखलाल जी संघवी, प्रकाशक—पं० सुखलालजी सम्मान समिति गुजरात विद्या-सभा, भद्र, अहमदाबाद--१ ।

दशवैकालिक नियुक्ति : माणोक मुनि, प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर ज्ञान भण्डार, सूरत, सन् १९३० ।

दीर्घनिकाय : प्रकाशक—एन० के० भगवत्, बम्बई युनिवर्सिटी-१ (पढमोभागो) : प्रथम आवृत्ति, सन् १९४२ ।

धर्म और दर्शन : देवेन्द्र मुनिशास्त्री, प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ लोहा मण्डी, आगरा, प्रथम प्रकाशन, सन् १९६७ ।

धम्मपद : सम्पादक—श्री सत्कारिशर्मा, प्रकाशक—चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी--५ द्वितीय संस्करण, स० १९७७ ।

नन्दीसूत्र : आचार्य देव वाचक, सम्पादक—मुनिश्री पुण्यविजयजी प्रकाशक—प्राकृति टेवस्ट सोसायटी वाराणसी--५, सन् १९६६ ।

नन्दीसूत्रचूर्णि एवं वृत्ति : जिनदासगणिमहत्तर, सम्पादक—मुनि श्रीपुण्य विजयजी, प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी--५, सन् १९६६ ।

नवतत्त्वदीपिका : धीरजलाल टोकरशी, प्रकाशक—जैन साहित्य प्रकाशन मन्दिर, चींच बन्दर, बम्बई—९, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६६ ।

निशीथसूत्र (भाष्य चूर्णि समन्वित) : विसाहगणिमहत्तर, सम्पादक—उपा० अमरमुनि एवं कन्हैयालाल “कमल” प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा, प्रथम संस्करण, सन् १९६० ।

नियमसार : कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई सन् १९१६ ।

नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण : डॉ० संगमलाल पाण्डेय, प्रकाशक—सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद सन् १९६९ ।

नीतिशास्त्र : जे० एन० सिन्हा, प्रकाशक—जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ सन् १९६० ।

नैतिक जीवन के सिद्धान्त : जानड्यूई, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, देहली सन् १९६३ ।

परमात्मप्रकाश : योगिन्दु देव, प्रकाशक—श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल,
(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) अगास, तृतीय संस्करण,
सन् १९७३ ।

पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक—श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल
(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) अगास, तृतीय आवृत्ति,
वि० सं० २०२५ ।

पंचाध्यायी : कविवर पं० राजमलजी, प्रकाशक—श्री गणेश प्रसाद वर्णी
जैन ग्रन्थमाला बनारस, प्रथम संस्करण, वी० सं० २४७६ ।

प्रमाणनयतत्त्वालोक : वादिदेवसूरि, अनुवादक—पं० शोभाचन्द्रभारिल्ल
'न्यायतीर्थ' प्रकाशक—आत्म-जागृति कार्यालय, जैनगुरुकुल
शिक्षण संघ, ब्यावर, प्रथम आवृत्ति, सन् १९४२ ।

प्रश्नव्याकरण सूत्र (वृत्तिसहित) प्रथम-द्वितीय खण्ड : ज्ञानविमलसूरि,
प्रकाशक—श्री मुक्तिविमल जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद वि०सं०
१९९५ ।

प्रज्ञापनासूत्र (टीका अनुवाद सहित) : श्यामाचार्य अनु०-पं० भगवान-
दास हर्षचन्द्र, प्रकाशक—शारदा-भवन जैन सोसायटी, अहमदा-
बाद सं० १९९१ ।

प्रवचनसार : श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक—श्रीपरमश्रुत प्रभावक-
मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला) अगास, तृतीय
आवृत्ति, वि० सं० २०२१ ।

प्रशमरतिप्रकरण : वाचक उमास्वाति, प्रकाशक—श्रीपरमश्रुत प्रभावक-
मण्डल, चौकसी चैम्बर, खाराकुआँ, जोहरी बाजार, बम्बई-२
प्रथम आवृत्ति, सन् १९५० ।

प्रज्ञोपायविनिश्चय : अनंगवज्र, प्रकाशक—ओरियण्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा
सन् १९२९ ।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय : अमृतचन्द्राचार्य, प्रकाशक—श्रीपरमश्रुत प्रभावक-
मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला), अगास, प्रथम
आवृत्ति, सन् १९६६ ।

बृहत्कल्पसूत्र (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : अनु० श्री अमोलकऋषि जी,
प्रकाशक—राजाबहादुर लाला सुखदेव सहाय ज्वाला प्रसाद
जी जौहरी, जैनशास्त्रोद्धार मुद्रणालय, सिकन्दराबाद, वी० सं०
२४४६ ।

२९६ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

बृहत्कल्पभाष्य : सम्पादक—मुनि श्रीपुण्यविजयजी, प्रकाशक—आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर सन् १९३३ ।

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्राचार्य प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कायडिया, सूरत प्रथम आवृत्ति, वी० सं० २४५८ ।

बृहद्द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, प्रकाशक—श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमदराजचन्द्र जैनशास्त्रमाला), अगात, तृतीय आवृत्ति, वि० सं० २०२२ ।

दृढदारण्यकोपनिषद् (अष्टादशउपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक—वैदिक संशोधन मण्डल, पूना प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।

ब्रह्मविद्योपनिषद् (उपनिषद् संग्रह) : सम्पादक—पं० जगदीश शास्त्री, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७० ।

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् (उपनिषद् संग्रह) : सम्पादक—पं० जगदीश शास्त्री प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७० ।

बौधिचर्यावितार : आचार्य शान्तिदेव, अनु०—शान्तिभिक्षुशास्त्री प्रकाशक—बुद्धविहार, रिसालदारपार्क, लखनऊ, प्रथम आवृत्ति, सन् १९५५ ।

बौद्ध धर्म-शास्त्र-संग्रह - बिहार राष्ट्रभाषा-संस्थान, सन् १९५६ ।

बौद्ध धर्म-शास्त्र-संग्रह - बिहार राष्ट्रभाषा-संस्थान, सन् १९५६ ।

बौद्ध धर्म-शास्त्र-संग्रह - बिहार राष्ट्रभाषा-संस्थान, सन् १९५६ ।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ० हीरालाल जैन, प्रकाशक—मध्यप्रदेशशासन साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् १९६२ ।

भागवत्पुराण— (द्वितीय खण्ड) : महर्षि वेदव्यास, प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, पंचम संस्करण, सं० २०२१ ।

महाभारत (आदिपर्व) : महर्षि वेदव्यास, प्रकाशक—गीताप्रेस गोरखपुर ।

महाभारत (शान्तिपर्व) : महर्षि वेदव्यास, प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

महाभारत (अनुशासनपर्व) : महर्षि वेदव्यास, प्रकाशक—गीताप्रेस,
गोरखपुर ।

मनुस्मृति : मनु प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४६ ।

मज्झिम निकाय (मज्झिम पण्णा अंक-२) : सम्पादक—भिक्षु जगदीश
काश्यप, प्रकाशक—पालिप्रकाशन मण्डल, बिहार राज्य, सन्
१९५८ ।

महानिद्देशपालि (सुत्तपिटके) : सम्पादक—भिक्षु जगदीश काश्यप,
प्रकाशक—बिहार राज्य पालि प्रकाशन मण्डल, सन् १९६० ।

माण्डुक्योपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक—वैदिक
संशोधन मण्डल, पूना प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।

मीमांसादर्शन (गुजराती) : अनुवादक—पं० मायाशंकर शर्मा, प्रका
शक—नारणजी पुरुषोत्तम, वि० सं० २००८ ।

मुण्डकोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक—वैदिक
संशोधन मण्डल, पूना । प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।

मूलाचार : बट्टकेर, प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला
समिति बम्बई, प्रथम आवृत्ति, वी० सं० २४४७ ।

मूलाराधना (अपरनाम) 'भगवती आराधना' : जितकोटि आचार्य, अनु०
पं० जिनन्दा—काशीकर, प्रकाशक—बलात्कार, सन् १९३५ ।

मैत्रायण्युपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) प्रथम खण्ड : प्रकाशक—वैदिक
संशोधन मण्डल, पूना, प्रथम संस्करण, शक सं० १८८० ।

मोक्षमार्ग प्रकाशक : टोडर मल, प्रकाशक—काशीकर, प्रचारक कार्या-
लय ८०, लोअर चितपुर रोड, कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति, सन्
१९३९ ।

यजुर्वेद : अजमेर वैदिक यंत्रालय, वि० सं० १९५६ ।

याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा व्याख्या सहित) : महर्षि याज्ञवल्क्य, हिन्दी
व्याख्या—डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत
सीरीज आफिस, विद्या-विलास प्रेस, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण,
१९६७ ।

योगबिन्दु : आचार्य हरिभद्र, प्रकाशक—सेठ ईश्वरदास मूलचन्द, श्रीजैन
ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, सन् १९४० ।

२९८ : आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

योगशास्त्र : हेमचन्द्राचार्य, प्रकाशक—श्री विजयकमलकेशर ग्रन्थमाला, चौथी आवृत्ति, वि० सं० १९८० ।

योगशास्त्रस्वोपज्ञवृत्ति (विवरण सहित) : हेमचन्द्राचार्य, प्रकाशक—
एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल-१, पार्क स्ट्रीट. सन् १९२१ ।

योगसारप्राभृत : आचार्य अमितगति, सम्पादक—श्री जुगलकिशोर
मुख्तार 'युगवीर', प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड मार्ग,
वाराणसी-५, प्रथम संस्करण, सन् १९६८ ।

योगदर्शन : महर्षि पतंजलि, टीकाकार—हरिकृष्णदास गोयन्दका, प्रका-
शक—घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय
संस्करण, सं० २०११ ।

रत्नकरण्डश्रावकाचार—(संस्कृत टीका सहित) : समन्तभद्र, टीका०—
आचार्य प्रभाचन्द, प्रकाशक—वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी
प्रथम संस्करण, १९७२ ।

वसुनन्दिश्रावकाचार : आचार्य वसुनन्दि, प्रकाशक—अयोध्या प्रसाद
गोयलीय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-४,
प्रथम आवृत्ति, सन् १९५२ ।

व्यवहारसूत्र : प्रकाशक—अ० भा० श्वेताम्बर स्थानक, जैन शास्त्रोद्धार-
समिति, प्रथम आवृत्ति, सं० १९६९ ।

व्यवहारभाष्य—भद्रबाहुस्वामी, प्रका० केशवलाल प्रेमचन्द्र, अहमदाबाद ।

वाल्मीकिरामायण : महर्षि वाल्मीकि, प्रकाशक—आर० नारायणस्वामी
आर्य, मद्रास ला जनरल प्रेस, सन् १९३३ ।

विशेषावश्यकभाष्य (स्वोपज्ञवृत्तिसहितम्) : जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण,
प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या-मंदिर,
अहमदाबाद-९, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

विशुद्धिमग्न : अनु०—भिक्षुधर्मरक्षित, प्रकाशक—महाबोधि सभा, सार-
नाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९५६ ।

समवायांगसूत्र : प्रकाशक—अभा० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी, जैन-
शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, प्रथम आवृत्ति, सन् १९६२ ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र : उमास्वाति, हिन्दी भाषानुवाद—पं० खूब-
चन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक जैन
मण्डल, जौहरी बाजार, खारा कुआँ, बम्बई-२, सन् १९३२ ।

समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक—श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रभाला) अगास, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९७४ ।

सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति) : पूज्यपाद, प्रकाशक—कलाप्पा भरमाप्पा निटेव, कोल्हापुर, प्रथम आवृत्ति, शक सं० १८२५ ।

समाधितन्त्र : पूज्यपाद, सम्पादक—श्री जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्रथम संस्करण, सन् १९३९ ।

सर्वदर्शन-संग्रह : मध्वाचार्य, प्रकाशक—चौखम्बा विद्या-भवन, चौक, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, सन् १९६४ ।

स्याद्वादमंजरी (कारिका टीका सह) : मल्लिषेण सूरि, सम्पादक—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल 'श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला', अगास, द्वितीय आवृत्ति, १९३५ ।

संयुक्तनिकाय : भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्मरक्षित, प्रकाशक—महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण सन् १९५४ ।

सामायिकपाठ : अमितगति, दिल्ली, सन् १९६५ ।

सिरिपासनाहचरियं : देवभद्रसूरि, संशोधक—श्री विजय कुमुद सूरि, प्रकाशक—पं० हीरालाल, श्री मणिविजय ग्रन्थमाला, श्रीशारदा-मुद्रणालय, अहमदाबाद, सन् १९४५ ।

सीमंधर स्वामी जी विनतीरूप सवासौ गायानुं स्तवन : महामहोपाध्याय यशोविजय, प्रकाशक—श्रीमहावीर जैनसभा, खम्भात, जैन विद्या-विजय प्रि० प्रेस, अहमदाबाद, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९७५ ।

सुबालोपनिषद् (उपनिषद संग्रह १०८) : सम्पादक—पं० जगदीश शास्त्री प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बंगलोरुड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७० ।

सुत्तनिपात : अनु०—भिक्षुधर्मरत्न प्रकाशक—भिक्षुसंघरत्न, महाबोधि, सारनाथ, वाराणसी प्रथम संस्करण, सन् १९५१ ।

सूत्रकृतांग : सम्पादक एवं० संशोधक—मुनिश्री जम्बूविजय, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, इण्डोलाजिकल ट्रस्ट, बंगलोरुड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७८ ।

३०० : आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

सूक्ति त्रिवेणी : सम्पादक—उपा० अमर मुनिजी, प्रकाशक—सन्मति
ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२, प्रकाशन प्रथम, सन् १९६८ ।

शतपथब्राह्मण, विभाग १-२ : सम्पादक—श्री वंशीधर शास्त्री प्रका-
शक—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी प्रथम आवृत्ति, सं०
१९९७ ।

शुक्रनीति (विद्योतिनी हिन्दी व्याख्योपयेता) : महर्षि शुक्राचार्य, व्या-
ख्या०—ब्रह्म शंकर मिश्र, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज,
वाराणसी-१ विद्या-विलास प्रेस, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (अष्टादश उपनिषद्) : प्रकाशक—वैदिक संशोधन
मण्डल—पूना । प्रथम संस्करण, शक सं०, १८८० ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य : लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, प्रकाशक—
जयन्त श्रीधर तिलक, ५६८ नारायण पेठ पूना-२ ग्यारहवाँ
संस्करण, सन् १९५९ ।

हितोपदेश : संग्राहक—श्री नारायण पण्डित, प्रकाशक—जय कृष्णदास
हरिदास गुप्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सन् १९९२ ।

ऋग्वेद : प्रकाशक—वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल भारत
मुद्रणालय, औन्धनगर, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९४० ।

ज्ञानसाराष्टक : उपाध्याय यशोविजयी, प्रकाशक—श्री केशरबाई ज्ञान-
भण्डार, संस्थापक संघवी—नगीनदास करमचन्द्र, प्रथम आवृत्ति,
वि० सं० १९९४ ।

ज्ञानार्णव : आचार्यशुभचन्द्र, प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोला-
पुर प्रथमावृत्ति, सन् १९७७ ।

ज्ञाताधर्मकथा : सम्पादक—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रकाशक—श्री
त्रिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी,
(अहमदनगर) प्रथमावृत्ति, सन् १९६४ ।



हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Rs. 100.00
2. Jain Temples of Western India — Dr. Harihar Singh Rs. 200.00
3. Jain Epistemology — I. C. Shastri Rs. 150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought —
Dr. Kamala Jain Rs. 50.00
5. Concept of Matter in Jain Philosophy —
Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy and Religion —
Dr. Ramjee Singh Rs. 100.00
8. Aspects of Jainology, Vol.1 to 5 (Complete Set) Rs. 1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana —
Dr. Sagarmal Jain Rs. 40.00
10. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) सम्पूर्ण सेट Rs. 560.00
11. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) Rs. 340.00
12. जैन प्रतिमा विज्ञान - डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी Rs. 120.00
13. जैन महापुराण - डॉ० कुमुद गिरि Rs. 150.00
14. वज्जालग (हिन्दी अनुवाद सहित) - पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 80.00
15. धर्म का मर्म - प्रो० सागरमल जैन Rs. 20.00
16. प्राकृत हिन्दी कोश - सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र Rs. 120.00
17. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय - डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
18. जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ -
डॉ० हीराबाई बोरदिया Rs. 50.00
19. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म -
डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन Rs. 160.00
20. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास -
डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र Rs. 100.00
21. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श -
भगवतीप्रसाद खेतान Rs. 60.00
22. गाथासप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित) -
पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 60.00
23. सागर जैन-विद्या भारती भाग १, २
(प्रो० सागरमल जैन के लेखों का संकलन) Rs. 200.00
24. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ० फूलचन्द जैन Rs. 80.00
25. स्याद्वाद और सप्तभंगी - डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
26. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन - डॉ० शिवप्रसाद Rs. 100.00